हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग

नामवर सिंह

साहित्य भवन लिमिटेड
इलाहाबाद

गुरुवर

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

को

जिनसे उऋण होने के लिए

श्रेष्ठतर पुस्तक अपेक्षित थी

प्रकाशकीय

अपभ्रंश भाषा और साहित्य का अध्ययन जितना महत्त्वपूर्ण है उससे कहीं कम इस ओर ध्यान दिया जा सका है। इसमें सबसे बड़ी बाधा विशाल अपभ्रंश साहित्य के अप्रकाशित होने के कारण है, यही नहीं इस विषय की अधिकांश सामग्री भी यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है। कतिपय विशिष्ट विद्वान इस दिशा में बड़ी लगन के साथ काम करते आ रहे हैं और उनके काम का अपना महत्त्व भी है। फिर भी जो कुछ किया जा सका है वह कई कारणों से पर्याप्त नहीं कहा जा सकता।

प्रस्तुत पुस्तक के उदीयमान लेखक ने समर्थ गुरु की देख-रेख में इस महत्त्वपूर्ण कार्य को बहुत कुछ आगे बढ़ा दिया है। प्रायः सभी प्रकाशित किन्तु बिखरी हुई सामग्री को एकत्र कर उसका सम्यक् अध्ययन उपस्थित करना सरल काम नहीं। एतद्विषयक विद्वानों को निष्कर्षसम्बन्धी मतभेद हो सकता है, परन्तु इससे भी पुस्तक का महत्त्व बढ़ता ही है। हम लेखक की ऐसी रचना को हिंदी प्रेमियों के समक्ष सहर्ष उपस्थित कर रहे हैं। आशा है, हिंदी-संसार उत्साहपूर्वक इसका स्वागत करेगा।

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी
प्रकाशनाध्यक्ष

FOREWORD

It is only in recent years that scholars of Modern Indian Languages started taking interest in problems concerning the origin and growth of these languages. One of the most important links in this branch of studies is a scientific study of a group of languages known as the प्राकृत languages such as पाली, महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची and अपभ्रंश । Of these पाली has got a vast literature which is available to scholars in carefully prepared editions printed in Roman-script and latterly in Singhalese, Burmese, and Siamese, पाली books in the देवनागरी script are also appearing off and on. The literary works in महाराष्ट्री, particularly in जैन महाराष्ट्री exist in large number and some of them are available to scholars, but works in other प्राकृत languages such as शौरसेनी, मागधी and पैशाची is very scanty, covering in the first two passages found in the Sanskrit dramas and सट्टकों only. It is said that गुणाढ्य-बृहत्कथा, reported to be a voluminous work, was written in पैशाची प्राकृत, but is no longer extant. Literature in अपभ्रंश is vast and a few works are available in print, but it should be noted that in 1902, just fifty years back, Pischel had to remain content with a few bits which he put into a small publication known as Materials for the knowledge of अपभ्रंश ।

The exact connotation of the term अपभ्रंश has

been a matter of considerable speculation. The term is known to पतंजलि and used by him in his व्याकरण महाभाष्य where it signifies corrupt words or words not sanctioned by Sanskrit grammarians like पाणिनी, and words which being अपभ्रष्ट or degenerated, are unfit to be used on occasions of sacred rituals. Whether the अपभ्रष्ट form in the age of पतंजलि were standardised or no, we have no sufficient evidence. To vedic seers, even पाणिनी की Sanskrit might appear as अपभ्रष्ट, but in his age his Sanskrit attained the status of a भाषा of the शिष्टों। छान्दसी and भाष्यम as used by early grammarians clearly indicate that in the age of पाणिनी Vedic lânguage has gone out of use,and a new form of the language had made its appearance. In my view this process of old forms becoming obsolete and new forms constituting a भाषा, i. e. a current language, has continued even up to our age. So, we have Vedic Sanskrit, and it developped into classical or पाणिनी की Sanskrit which was called भाषा; we have classical Sanskrit current in the days of बाण, but he mentions his friend ईशान as भाषा-कवि (he is also referred to by पुष्पदन्त in his महा-पुराण) । Bharat in his नाट्यशास्त्र has mentioned Sanskrit, as also प्राकृत and its विभाषा which were current in his times, and subsequent writers like दण्डी have referred to the language of महाराष्ट्र as the best प्राकृत । रुद्रट refers to varieties of अपभ्रंश as provincial froms. Bharata does not use . the term अपभ्रंश; he mentions विभाषा and particularly the विभाषा of the आभीरों। He also

mentions a भाषा in which 'u' as ending vowel of words, both nouns and verbs, figures prominently as in classical अपभ्रंश। But it should be noted that classical अपभ्रंश is not the only language which uses 'u' ending words. I should like to draw the attention of linguists to the fact that Buddhist Sanskrit, e. g., Can the verses in ललितविस्तर and सद्धर्मपुण्डरीक use several from of nouns and verbs ending in 'u'. we not call then the language of these works as विभाषा of classical Sanskrit ? There is a version of the famous धम्मपद् known as tne प्राकृत धम्मपद् in which 'u' ending forms figure prominently. We may even assume on the authority of तारानाथ that the बौद्ध त्रिपिटक exists in several versions. The and पाली sanskrit versions the latter in fragments, are discovered and known to us. The प्राकृत version of the धम्मपद् which is a work of the त्रिपिटक has been just mentioned. The सामितीय School of the Buddhists had their त्रिपिटक in the अपभ्रंश version; unfortunately it is not extant, and even fragments of this version have not yet come to light. We can still assume on the authority of तारानाथ that the अपभ्रंश version was in existence. In any case अपभ्रंश form of a language existed side by side with the standard form ; the classical Sanskrit figuring as the अपभ्रष्ट form by the side of Vedic Sanskrit. Buddhist Sanskrit of ललितविस्तर figured as अपभ्रष्ट by the side of classical Sanskrit and the process went on further. It is there-fore right to assume that a type of अपभ्रंश existed throu-

ghout the development of the Vedic Sanskrit, its characteristics depending on the classical form current at the time.

Today however, we understand by the term अपभ्रंश a प्राकृत language whose characteristics have been fixed by grammarians like चंद, हेमचन्द्र, त्रिविक्रम, पुरुषोत्तम, मारकण्डेय and others. The study of the अपभ्रंश is essential for correctly mastering the growth of the languages of Modern India, particularly Hindi, Gujarati, Bengali, Marathi and all their subdialects. I am therefore glad to find Shri Namavara Sinha, M. A., a brilliant student of the Banaras Hindu University, who topped the list of M. A. students in 1951, to come out with his thesis he offered at that examination on हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग and to make it available in a book form. He has studied the entire problem of the अपभ्रंश language scientifically and historically, and has not hesitated to criticise the views if his predecessors where they appeared to him to be unsatisfactory. To his thesis he has added a few appendices to make his study more useful to the readers. I congratulate him on his excellent work and commend it to linguists, and particularly to the scholars of the Hindi language which has now rightly attained the status of the राष्ट्रभाषा of free India.

Hindu University, Banaras, 16th. February, 1952. } P. L. VAIDYA

विषय-सूची

विषय *पृष्ठ संख्या*

परिशिष्ट

परिचय

कुछ ही दिनों से विद्वानों ने आधुनिक भारतीय भाषाओं के उद्भव एवं विकास के अध्ययन की ओर ध्यान देना आरंभ किया है। अध्ययन की इस दिशा में सबसे प्रमुख शृंखला ऐसे भाषा-वर्ग के अध्ययन की है जो प्राकृत नाम से अभिहित है और जिसके अन्तर्गत पाली, महाराष्ट्री, सौरसेनी, मागधी, पैशाची एवं अपभ्रंश आदि भाषाएँ आती हैं। इनमें पाली का वाङ्मय बहुत विशाल है जो विद्वानों द्वारा सुसम्पादित तथा क्रमशः रोमन, सिंहली, बर्मी एवं स्यामी लिपि में मुद्रित है। समय-समय पर नागराक्षरों में भी पाली-साहित्य प्रकाशित होता आ रहा है। महाराष्ट्री, विशेषतः जैन महाराष्ट्री का बहुत विशाल साहित्य भी वर्त्तमान है जिसमें से कुछ विद्वानों को उपलब्ध भी हैं किन्तु, सौरसेनी, मागधी एवं पैशाची आदि अन्य प्राकृत भाषाओं का साहित्य अत्यल्प है जो संस्कृत नाटकों एवं सट्टकों के केवल प्रारंभिक दो चरणों में है। कहा जाता है कि गुणाढ्य की बृहत्कथा एक विशालकाय ग्रंथ रहा है जो पैशाची प्राकृत में था, किन्तु अब प्राप्य नहीं है। अपभ्रंश साहित्य बहुत विशाल है और कुछ ग्रंथ प्रकाशित भी हुए हैं, किन्तु यह उल्लेखनीय है कि आज से पचास वर्ष पूर्व १६०२ में पिशेल को 'मेटेरियल्स फार द नालेज ऑव अपभ्रंश' नामक पुस्तक में अपभ्रंश के कुछ अंशों का उपयोग करके ही संतुष्ट होना पड़ा था।

'अपभ्रंश' का सटीक शब्दार्थ अधिकतर अनुमान का विषय रहा है। पतंजलि को इस शब्द की जानकारी थी और उन्होंने अपने व्याकरण महाभाष्य में इसका प्रयोग भी किया है, जहाँ यह विकृत या ऐसे शब्दों को व्यक्त करता है जो संस्कृत के पाणिनी आदि वैयाकरणों द्वारा स्वीकृत नहीं है अथवा जो अपभ्रष्ट या परंपराच्युत हैं, या जो पवित्र

कर्मकाण्डों के अवसर पर प्रयोग की दृष्टि से असंगत हैं। इस बात का हमारे पास पुष्ट प्रमाण नहीं है कि शब्दों के अपभ्रष्ट रूप पतंजलि के समय तक शास्त्र-सम्मत थे या नहीं। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में तो पाणिनीय संस्कृत भी अपभ्रष्ट लग सकती है, किन्तु उनके समय में उनकी संस्कृत शिष्टों की भाषा मान ली गई थी। छांदसी और भाषायाम्, जैसा कि पूर्ववर्ती वैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त हुआ है, से व्यक्त है कि पाणिनी के समय में वैदिक संस्कृत अप्रचलित थी और एक नई भाषा आविर्भूत हुई थी। मेरी धारणा के अनुसार इस प्रकार पुराने रूपों का अप्रचलित होना और नवीन रूपों का सामयिक भाषा-निर्माण करना आज भी प्रचलित है। इस प्रकार वैदिक संस्कृत विकसित होकर शास्त्रीय अथवा पाणिनीय संस्कृत बनी जिसे हम 'भाषा' की संज्ञा देते हैं। बाण के समय में भी उक्त संस्कृत प्रचलित थी, किन्तु वह अपने मित्र ईशान को भाषा-कवि (पुष्पदन्त ने भी अपनी रचना महापुराण में इनका उल्लेख किया है) बतलाता है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में संस्कृत और अपने समय में प्रचलित प्राकृत और उसकी विभाषाओं का उल्लेख किया है और दंडी आदि लेखकों ने परवर्त्ती महाराष्ट्र की भाषा का सर्वश्रेष्ठ प्राकृत के रूप में उल्लेख किया है। रुद्रट ने अपभ्रंश के विभिन्न रूपों का प्रान्तीय रूप में उल्लेख किया है। भरत अपभ्रंश शब्द का प्रयोग नहीं करते उन्होंने विभाषा और विशेषतः आभीरों की विभाषा का उल्लेख किया है। वे एक ऐसी भाषा का भी उल्लेख करते हैं जिसमें 'उ' कारान्त स्वर के रूप में संज्ञा और क्रिया मुख्यतया शास्त्रीय अपभ्रंश में प्रयुक्त हुई है। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि केवल शास्त्रीय अपभ्रंश में ही 'उ' कारान्त शब्द नहीं मिलते। मैं भाषाशास्त्रियों का ध्यान, बौद्ध-साहित्य की संस्कृत-पुस्तक 'ललित विस्तर' और 'सद्धर्म पुंडरिक' जिनमें 'उ' कारान्त संज्ञा और क्रिया शब्दों का प्रयोग मिलता है, की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ। क्या हम इन पुस्तकों की भाषा को संस्कृत

की विभाषा नहीं कह सकते ? प्रसिद्ध 'धम्मपद' के प्राकृत संस्करण में भी 'उ' कारान्त शब्द प्रायः आते हैं। तारानाथ के प्रमाण पर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि बौद्ध त्रिपिटक कई रूपों में पाये जाते हैं। उसके पाली और अंशतः संस्कृत रूप भी मिले हैं जिनसे हम परिचित हैं। 'धम्मपद' का प्राकृत रूप जिसकी चर्चा हो चुकी है त्रिपिटक का ही एक खण्ड है। बौद्धों के सामितीय मत का भी एक त्रिपिटक अपभ्रंश में रहा है जो दुर्भाग्यवश उपलब्ध नहीं है और इसके खण्ड रूप भी अभी तक प्रकाश में नहीं आये हैं। तारानाथ के प्रमाण पर हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि इसका अपभ्रंश रूप भी रहा है। जो हो, आदर्श भाषा के साथ-साथ भाषाओं का अपभ्रंश रूप भी रहा है : वैदिक संस्कृत के साथ उसके अपभ्रष्ट रूप में शास्त्रीय संस्कृत; शास्त्रीय संस्कृत के साथ उसके अपभ्रष्ट रूप में 'ललित विस्तर' की बौद्ध संस्कृत और यह क्रम इसी प्रकार आगे भी चलता रहा है। अतएव, यह अनुमान ठीक ही है कि एक प्रकार का अपभ्रंश वैदिक संस्कृत के विकास के साथ-साथ रहा है। इसकी विशेषताएँ तत्कालीन प्रचलित शास्त्रीय रूपों पर आधारित रही हैं।

आज अपभ्रंश से हमें एक प्राकृत भाषा का बोध होता है जिसकी विशेषताएँ चंद, हेमचंद्र, त्रिविक्रम, पुरुषोत्तम तथा अन्य वैयाकरणों द्वारा निश्चित है। अपभ्रंश का अध्ययन भारत की आधुनिक भाषाओं विशेषतः हिंदी, गुजराती, मराठी और बंगाली तथा इनकी उप-भाषाओं के विकास को ठीक-ठीक समझने के लिए अत्यावश्यक है। मुझे हर्ष है कि काशी वि० वि० के प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थी श्री नामवर सिंह, एम० ए०, जिन्होंने १९५१ ईस्वी में एम० ए० की परीक्षा में शीर्षस्थान प्राप्त किया था, की थीसिस पुस्तक रूप में 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' आ रही है। लेखक ने अपभ्रंश भाषा सम्बन्धी सारी समस्याओं का वैज्ञानिक और ऐतिहासिक अध्ययन उपस्थित किया है, यही नहीं

अपने पूर्ववर्ती लेखकों की उन धारणाओं की आलोचना भी की है जो उसे असन्तोषप्रद जान पड़ी है। पुस्तक के अन्त में उन्होंने कुछ परिशिष्ट भी जोड़ दिये हैं जो पाठकों के लिए उपयोगी हैं। मैं उसकी इस उत्तम कृति के लिए उसे बधाई देता हूँ और भाषाशास्त्रियों विशेषतः हिंदी, जो स्वतंत्र भारत की राष्ट्र-भाषा का उचित पद प्राप्त कर चुकी है, के विद्वानों को इसे पढ़ने के लिए आह्वान करता हूँ।

हिन्दू विश्व विद्यालय, बनारस
१६ फरवरी, १९५२

पी० एल० वैद्य

आमुख

अपभ्रंश की अधिकांश सामग्री धार्मिक पूर्वग्रह के कारण बहुत दिनों तक जैन भाण्डारों तक ही सीमित रही। भाषाविज्ञान या साहित्य के अध्ययन के क्षेत्र में उनका प्रवेश १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पूर्व न हो सका और इसका श्रेय यूरोपीय पंडितों को है। इस दिशा में जर्मन विद्वान फ्रेडरिक पिशेल का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। सन् १८८० ईस्वी में हेमचन्द्र की 'देशी नाम माला' का संपादन करके उन्होंने 'व्युत्पत्ति विज्ञान' के क्षेत्र में नई दिशा खोली। बीस वर्ष बाद 'ग्रामेटिक डेर प्राकृत स्प्राखेन'[1] लिखकर पिशेल ने म० भा० आ० के व्याकरण के लिए कोश तैयार कर दिया। परन्तु अपभ्रंश की ओर जिस ग्रंथ के द्वारा उन्होंने विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया वह है 'मैटेरियलीन त्सुर केटनिस डेस अपभ्रंश' जिसमें पहली बार (१९०२ ईस्वी) अपभ्रंश भाषा की बिखरी हुई सामग्री एकत्र की गई और उसके स्वरूप-निर्धारण की चेष्टा हुई। इस ग्रंथ में कालिदास-रचित 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के अपभ्रंश पद्य, 'सरस्वती कंठाभरण' के अपभ्रंश छंद, 'हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण' के अपभ्रंश उदाहरण, आदि का संग्रह है।

पश्चात्, एक ओर प्राकृत व्याकरणों का संपादन शुरू हुआ तो दूसरी ओर अपभ्रंश की अन्य रचनाओं की खोज तथा संपादन। श्रीचन्द्रमोहन घोष ने 'प्राकृत पैंगलम्' (१९०२ ईस्वी), देवकरण मूलचंद ने हेमचन्द्र का 'छंदो ऽनुशासन' (१९१२ ईस्वी) तथा सुदर्शन शास्त्री ने 'दश रूपक' के अपभ्रंश अंश का संपादन किया।

परंतु पिशेल के बाद जो सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ वह याकोबी द्वारा 'भविसयत्त कहा' के कुछ अंशों का संपादन (१९१८)। याकोबी ने

---

[1] डा० सुभद्र झा, अध्यक्ष, सरस्वती भवन, काशी इसका अंग्रेजी अनुवाद कर रहे हैं।

'सनत्कुमार चरित' (१९२१ ईस्वी) का भी संपादन किया। आगे चलकर याकोबी के संस्करण के आधार पर श्री सी० डी० दलाल और डा० पी० डी० गुणे ने संपूर्ण 'भविसयत्त कहा' का संपादन-कार्य आरंभ किया। दलाल जी के देहावसान के बाद डा० गुणे ने १९२३ ईस्वी में वह कार्य पूरा किया और भूमिका, व्याकरणिक टिप्पणी तथा 'शब्दकोश' के द्वारा ग्रंथ को सर्वथा उपयोगी बना दिया। इस प्रकार भारतीय विद्वानों तथा विद्यार्थियों के बीच अपभ्रंश को प्रतिष्ठित करने का श्रेय डा० गुणे को है। अपभ्रंश साहित्य का परिचय, अपभ्रंश शब्द का विस्तृत इतिहास, काल-निर्धारण, संक्षिप्त व्याकरण, छंद-विचार, आभीर जाति से अपभ्रंश का संबंध, प्राकृत वैयाकरण और अपभ्रंश तथा हेमचन्द्र-प्राकृत-व्याकरण का विश्लेषण करके डा० गुणे ने अपभ्रंश अध्ययन का आधार दृढ़ कर दिया, साथ ही भावी संपादकों के लिये विवेचन का ढाँचा भी तैयार कर दिया। पश्चात्, श्री एल० बी० गांधी ने 'अपभ्रंश काव्यत्रयी' तथा 'प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह' (१९२७ ईस्वी) के द्वारा अपभ्रंश-सामग्री में वृद्धि की। इन सामग्रियों के अध्ययन में डा० पी० एल० वैद्य के द्वारा सटिप्पण संपादित 'हेमचन्द्र-प्राकृत-व्याकरण' (१९२८ ईस्वी) ने बहुत बड़ा योग दिया।

पश्चात्, प्रो० हीरालाल जैन, डा० पी० एल० वैद्य, मुनि जिन विजय, डा० ए० एन० उपाध्ये ने जैन भाण्डारों से अनेक काव्य ग्रंथों का संपादन किया जिनकी सूची कालक्रम से प्रस्तुत पुस्तक में यथास्थान दी गई है। इनके अतिरिक्त 'श्री महावीर अतिशय जैन क्षेत्र' ने अनेक अपभ्रंश-ग्रंथों की सूची प्रकाशित की। श्री वेलनकर का 'जिन रत्नकोष' इस तरह का अत्यंत महत्त्वपूर्ण संग्रह है।

अपभ्रंश के इस जैन साहित्य ने प्रायः पश्चिमी अपभ्रंश के नमूने रखे। इसी बीच बंगीय सं० १३२३ (१९१७ ईस्वी) में म० हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' बँगला-अक्षरों में प्रकाशित किया जिनसे पूर्वी अपभ्रंश के जैनेतर साहित्य का पता चला। पीछे डा० शहीदुल्ला ने

(१६२८ ईस्वी) सरह-काराह के दोहाकोष संपादित किए और भाषा पर वैज्ञानिक ढंग से विचार भी दिए।[1]

उक्त सामग्री के आधार पर यथासमय अपभ्रंश भाषा पर विचार भी होते रहे। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने 'ओरिजिन एंड डेवेलपमेंट ऑव बंगाली लैंग्वेज' (१६२६ ईस्वी) में अपभ्रंश भाषा के ऐतिहासिक तथा व्याकरणिक स्वरूप का लेखा उपस्थित किया। डा० पी० एल० वैद्य ने 'ऐनल्स ऑव भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट' सं० ८ में हेमचन्द्र की 'देशी नाम माला' पर विचार किया और कई देशी शब्दों को संस्कृत से व्युत्पन्न बतलाया। अंत मे संपूर्ण सामग्री का उपयोग करके डा० ग० वा० तगारे ने 'अपभ्रंश का ऐतिहासिक व्याकरण' (१६४८ ईस्वी) में तैयार किया। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश-संबंधी अनेक निबंध 'अनेकांत' तथा 'पुरुषार्थ' आदि पत्रिकाओं में बिखरे हुए हैं।

जहाँ तक 'अपभ्रंश और हिंदी' विषयक अध्ययन के इतिहास का संबंध है, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का 'पुरानी हिंदी' शीर्षक निबंध (१६२१ ईस्वी) सबसे पहले आता है। गुलेरी जी ने 'प्रबंध चिंतामणि', 'कुमारपाल प्रतिबोध', 'कुमारपाल चरित' तथा 'हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण' के अपभ्रंश पद्यों की भाषावैज्ञानिक व्याख्या करते हुए अपभ्रंश पदमात्रों के साथ राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, ब्रज, अवधी तथा खड़ी हिंदी के रूपों का तुलनात्मक अध्ययन करके बतलाया है कि आ० भा० आ० और विशेषतः हिंदी किस प्रकार अपभ्रंश से संबद्ध है। गुलेरी जी जैसे संस्कृत के पण्डित ने सबसे पहले निर्भीक भाव से घोषित किया कि हिंदी संस्कृत की बेटी नहीं बल्कि अपभ्रंश की पुत्री है। यद्यपि 'प्रबंध चिंतामणि' के दोहों के भ्रान्त पाठों के आधार पर कई जगह गुलेरी जी ने खींच तान की है, तथापि उनके कृतित्व का ऐतिहासिक महत्त्व है

[1] पं० परशुराम चतुर्वेदी 'सिद्ध साहित्य' पर एक विस्तृत अध्ययन उपस्थित करने जा रहे हैं।

और आज भी उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण सूत्र ऐसे पड़े हैं जिनके आधार पर खोज की जा सकती है। उसीके आधार पर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'बुद्ध चरित' की भूमिका (१६२६ ईस्वी) में अपभ्रंश से हिंदी के विभिन्न युगों का पद-विकास दिखलाया तथा कुछ नई सामग्री भी जोड़ी। पं० केशव प्रसाद मिश्र ने 'इंडियन ऐंटिक्वेरी' (१६३१ ईस्वी) में 'कीथ ऑन अपभ्रंश' लेख लिखकर अपभ्रंश तथा आधुनिक 'काशिका' बोली का नैकट्य स्थापित किया।

इस दिशा में 'कोश' का सा काम किया तो महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने 'हिंदी काव्य धारा' (१६४५ ईस्वी) द्वारा।

राहुल जी ने कालक्रम से अपभ्रंश भाषा के नमूने चुनकर उनकी तुलना के लिए हिंदी छाया भी दे दी। आरंभ में एक लंबी सी 'अवतरणिका' है जिसमें अपभ्रंश-भाषा, सिद्ध-सामंत साहित्य की राजनीतिक-आर्थिक सामाजिक-धार्मिक पृष्ठभूमि तथा अपभ्रंश के कुछ महान कवियों का परिचय दिया गया है। अंत में अपभ्रंश के उन शब्दों की तालिका दी गई है जो देशज हैं और आज भी हिंदी-भाषा-भाषी प्रदेशों में बहुत कुछ प्रचलित हैं। यह ग्रंथ प्रायः संग्रह है, गुलेरी जी जैसे भाषावैज्ञानिक विश्लेषण का इसमें सर्वथा अभाव है। काल-क्रम भी काफी गड़बड़ है; अवतरणिका भी अपेक्षित गाम्भीर्य से च्युत तथा यांत्रिक मार्क्सवादी-पद्धति से ग्रस्त है। फिर भी हिंदी-पाठकों के लिए यह अच्छा-खासा परिचयात्मक ग्रंथ सिद्ध हुआ तथा खोजियों के लिए पथ-निर्देशक।

इधर डा० रामसिंह तोमर ने हिंदी पर अपभ्रंश का साहित्यिक प्रभाव दिखलाते हुए प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल० डिग्री के लिए एक निबंध प्रस्तुत किया और वह स्वीकृत भी हुआ (१६५१ ईस्वी), परंतु अभी तक अप्रकाशित है; इसलिए उसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

प्रस्तुत पुस्तक इसी दिशा में छोटा सा प्रयत्न है। यह मूलतः काशी

हिंदू विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा के लिए उपस्थित की गई थी तथा इसका स्वरूप केवल भाषावैज्ञानिक था। पीछे साहित्य विषयक एक परिशिष्ट जोड़कर भाषा और साहित्य दोनों को एकत्र सम्मिलित कर लिया गया। यहाँ पुस्तक के विषय-क्षेत्र, सीमा तथा विवेचन-पद्धति के विषय में कुछ निवेदन कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

यों तो अपभ्रंश की अनेक रचनायें १५ वीं १६ वीं, शती तक की प्राप्त होती हैं, तथापि यहाँ आधुनिक भाषाओं के उदय से पूर्व तक के ही अपभ्रंश साहित्य का विचार किया गया है। इसीलिये १५वीं शती के बहु-प्रशंसित 'रइधू' जैसे कवि का उल्लेख नहीं किया गया। 'यशःकीर्ति' का 'पांडव-पुराण' (१४९७ वि०) तथा 'हरिवंश पुराण' (१५०० वि०) भी इसीलिये छोड़ा गया, यहाँ अपभ्रंश के केवल विकास और प्रौढ़ युग से ही प्रयोजन रहा है। इसी प्रकार लेखक १२वीं शती के बनारसी बोली के ग्रंथ 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' का उपयोग करने से वंचित रहा। इस ग्रंथ के विषय में डा० मोतीचंद ने 'संपूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रंथ' में एक निबंध लिखा था, जिससे पता चलता है कि यह अपभ्रंश-हिंदी काल की संक्रान्ति-युगीन भाषा के स्वरूप-निर्धारण के लिए बहुत सहायक हो सकता है। इसे गहड़वाल राजा गोविंदचन्द्र ने अपने पुत्र को बनारसी बोली की शिक्षा देने के लिए तैयार कराया था। डा० सुनीति कुमार चैटर्जी ने इसका संपादन किया है परंतु अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका।

जहाँ तक विषय की विवेचन पद्धति का संबंध है, 'ऐतिहासिक व्याकरण' के निकट है। फलतः समस्त विवेचन 'देश-कालिक' पद्धति पर हुआ है। भरसक अपभ्रंश के पूर्वी-पश्चिमी देश भेदक पदमात्रों का संकेत करते हुए पूर्ववर्ती तथा परवर्ती भेदों के संग्रह की भी चेष्टा की गई है परंतु लेखक डा० तगारे की तरह इन भेदों को स्वीकार करने

---

१. सिद्धान्त-भास्कर, वर्ष १०, किरण १

में असमर्थ रहा है। इसीलिए अपभ्रंश के प्रतिमित रूपों को आधार मानकर हिंदी के देश-कालगत भेदों के निदर्शन में अधिक समय लगाया गया है। यथास्थान अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के पदों से तुलना करके विकास-दिशा को व्यापक-परिदृश्य दिया गया है। यह समूचा अध्ययन अधूरा होता यदि उसे सामाजिक पीठिका न दी जाती। भाषा विज्ञान के क्षेत्र में इधर इतनी यांत्रिकता आ गई है कि केवल कुछ ध्वनि-विकारों, व्याकरणिक रूपों, शब्द-समूह में तत्सम, तद्भव, देशी, विदेशी शब्दों की सूची तैयार करना ही किसी भाषा के विवेचन की इति समझी जाती है। यदि किसी ने राजनीतिक इतिहास दिया भी तो इस तरह कि भाषा-विकास से उसका कोई संबंध नहीं। सामाजिक संघटन और भाषागत गठन में अनन्य संबंध है क्योंकि भाषा सामाजिक शक्ति है। परंतु इस तथ्य का विश्लेषण अत्यंत कठिन कार्य है। इसे समझे बिना यह बता सकना कठिन है कि बोली तथा उपभाषा से साहित्यिक भाषा किस प्रकार विकसित होती है तथा साहित्यिक भाषा जन-समाज के बोलचाल से क्यों हट जाती है। प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन के साथ भाषा नहीं बदलती और न समूची भाषा एक साथ ही परिवर्तित होती। 'आधारभूत शब्द-समूह' तथा 'व्याकरणिक गठन' भाषा का अपेक्षाकृत स्थायी तत्त्व है जिसमें बहुत धीरे-धीरे परिवर्तन होता है। सामाजिक विकास के साथ 'आधारभूत शब्द-समूह' में अनेक नये शब्दों का आगम होता है और साथ ही अनेक शब्द प्रचलन-रुद्ध भी होते हैं। इसी प्रकार व्याकरणिक गठन में भी ऋजुता या दृढ़ता आती है परंतु वह अपेक्षाकृत स्थिर होता है। भाषा के इस गुणात्मक तथा मात्रिक परिवर्तन के पारस्परिक संबंधों का निरूपण करने के लिए यह दृष्टि आवश्यक है। फलतः यहाँ अपभ्रंश से हिंदी का विकास दिखाने के लिए भारतीय समाज की तत्कालीन परिस्थितियों का अंकन किया गया है और साथ ही उनके भाषागत प्रभाव का भी।

परिशिष्ट में 'रासो' और 'कीर्तिलता' की भाषा-संबंधी दो निबंध

दिए गए हैं जिनका प्रयोजन यही है कि 'अपभ्रंशोत्तर प्राक्-हिंदी' संक्रान्ति काल की भाषा का स्वरूप स्पष्ट करें। अपभ्रंश-छंदों का चयन इस दृष्टि से किया गया है कि मुक्तक और प्रबंध तथा पूर्वी और पश्चिमी दोनों अपभ्रंश का नमूना सामने आ जाय। सभी कालों तथा सभी रसों की रचनाओं के समावेश का भी ध्यान रखा गया। इच्छा तो यही थी कि हेमचन्द्र-प्राकृत-व्याकरण के सभी अपभ्रंश पद्य आ जायँ परंतु कुछ तो आधुनिक रुचि के प्रतिकूल देखकर छोड़ दिए गए और कुछ दोहा से इतर छंद होने के कारण। इन पद्यों की टिप्पणियाँ उतनी ही दी गई हैं जितनी आवश्यक समझी गईं। अपभ्रंश का संक्षिप्त वर्णनात्मक व्याकरण केवल छात्रों को ध्यान में रखकर दिया गया है। 'अपभ्रंश साहित्य का संक्षिप्त परिचय' भी काव्य-प्रेमियों के रसास्वादन के लिए ही उद्धरण-बहुल तथा कथा-कथन युक्त हुआ है। 'हिंदी पर अपभ्रंश का साहित्यिक प्रभाव' एक स्वतंत्र पुस्तक का विषय हो सकता है परंतु यहाँ स्थानाभाव से केवल कुछ सूत्र दिए गए हैं। इरादा था कि अंत में अपभ्रंश के कतिपय देशी शब्दों का एक व्युत्पत्ति-कोश दे दूँ परंतु आकार वृद्धि का ध्यान रखकर अगले संस्करण के लिए स्थगित कर दिया गया है। विषय की इयत्ता तथा विवेचन की सीमा से भली-भाँति परिचित होते हुए भी आशा करता हूँ कि जिज्ञासुओं को कुछ नवीन तथ्य मिल जायँगे।

पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग में कहीं-कहीं अभिनव रूप दिए गए हैं; प्रतिमित या परिनिष्ठित (स्टैंडर्डाइज्ड), अंग-रूप (ऑब्लीक फार्म), स्वरमध्यग (इंटरवोकैलिक) आदि। इनके लिए लेखक स्व० पं० केशव प्रसाद जी मिश्र का ऋणी है। सहायक ग्रंथ सूची की उपयोगिता से परिचित होते हुए भी इसका समसामयिक चलन देखकर बचा जाना अच्छा समझा गया है। नामानुक्रम तथा पादटिप्पणियाँ यह कमी पूरी कर देंगी।

अंत में, कुछ गुरुजनों के प्रति आभार स्वीकार किए बिना यह श्रम

सार्थक न होगा। हिंदी के अनर्घ आराधक तथा मौन साधक पूज्य स्व० पं० केशवप्रसाद जी मिश्र की प्रेरणा से ही मैं भाषा विज्ञान और विशेषतः अपभ्रंश की ओर उन्मुख हुआ। श्रद्धेय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस अध्ययन को ऐतिहासिक दिशा तथा साहित्यिक चेतना दी। समय-समय पर डा० पी० एल० वैद्य तथा डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने भी गुत्थियाँ सुलझाई हैं। आदरणीय भाई नर्मदेश्वर जी ने इसे प्रकाश में लाकर प्रोत्साहन दिया है। मैं इन सभी गुरुजनों के प्रति आभारी और कृतज्ञ हूँ।

मुद्रण त्रुटि जो भारतीय ग्रंथों का आवश्यक अलंकरण हो चली है, यहाँ भी कुछ न कुछ विद्यमान है। दो-एक स्थलों पर तो शुद्धिपत्र की सहायता के बिना अनर्थ हो सकता है। कृपया सुधार लें।

काशी विश्वविद्यालय
१ फरवरी, १९५२

नामवर सिंह

'अपभ्रंश' शब्द का इतिहास

§ १. जो 'अपभ्रंश' शब्द अब भाषा विशेष के लिए रूढ हो गया है, उस निकृष्टार्थक संज्ञा का प्रयोग स्वयं उस भाषा के कवियों ने नहीं किया; बल्कि वह देववाणी संस्कृत के वैयाकरणों तथा आलंकारिकों के भाषा विषयक विशेष दृष्टिकोण अथवा पूर्वग्रह की देन है। अपभ्रंश के अन्वेषक विद्वानों को अब तक इस शब्द का प्राचीनतम उल्लेख ईसा पूर्व दूसरी शती के पातंजल महाभाष्य में प्राप्त हुआ है। साधु और असाधु शब्दों का विचार करते हुए महामुनि पतंजलि कहते हैं कि अपशब्द बहुत हैं, शब्द अल्प हैं। एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश हैं; जैसे 'गो' शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि[१]। शब्द से महाभाष्यकर का तात्पर्य साधु शब्द है और अपशब्द अथवा अपभ्रंश से विकृत शब्द। स्पष्ट है कि महाभाष्यकर ने अपशब्द और अपभ्रंश का प्रयोग पर्यायवत् किया है। उन्होंने किसी भाषा विशेष के लिए अपभ्रंश शब्द का प्रयोग नहीं किया। अपभ्रंश भाषा से इस उद्धरण का प्रत्यक्ष संबंध न होते हुए भी कुछ आधारभूत बातें ऐसी हैं जिनकी ओर यह संकेत करता है। इसीलिए अपभ्रंश के अनुशीलन में इस उद्धरण का ऐतिहासिक महत्त्व है। अतएव इस पर भलीभाँति विचार कर लेना समीचीन होगा।

सर्वप्रथम 'एक-एक शब्द के अनेक अपभ्रंश हैं' से यह ध्वनित होता है कि शब्द अर्थात् साधु या संस्कृत शब्द प्रकृति है और अपशब्द या

---

[१] भूयांसो ऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद् तथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः।

—पस्पशाह्निक, महाभाष्य।

अपभ्रंश उसकी विकृति है। महाभाष्यकार के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती वैयाकरणों के ग्रंथों को देखने से पता चलता है कि व्याकरणशास्त्र में यह मत रूढ़ हो चला था। दण्डी ने, इसीलिए, इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि शास्त्र (व्याकरणशास्त्र) में संस्कृतेतर शब्द को अपभ्रंश कहते हैं।[२] दण्डी से पहले वाग्योगविद् भर्तृहरि[३] ने इस मत के पक्ष और विपक्ष का उल्लेख करते हुए महाभाष्यकार के पूर्ववर्ती 'संग्रहकार' व्याडि[४] नामक आचार्य के मत का उल्लेख किया है जिसकी ओर अपभ्रंश के पंडितों का ध्यान अभी तक नहीं गया है।

---

[२] शास्त्रे तु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्। काव्यादर्श १।३६

[३] भर्तृहरि के विषय में बहुत विवाद है। अभी कुछ दिनों पहले तक आचार्यों ने शृंगार, नीति और वैराग्य शतकों के कवि भर्तृहरि और 'वाक्यपदीयम्' के रचयिता भर्तृहरि को एक ही समझा था। परन्तु अब इस भ्रम का निराकरण हो गया है। परंतु 'वाक्यपदीयकार' भर्तृहरि के समय के विषय में अब भी मतभेद है। विदेशी विद्वानों ने 'ईत्सिंग' के एक उद्धरण के आधार पर भर्तृहरि का समय ७ वीं शताब्दी ईस्वी निश्चित किया है। परंतु काशी के पं० रामसुरेश त्रिपाठी जी ने काफी खोज के बाद उनका समय ईस्वी की चौथी और पाँचवीं शताब्दी के बीच निश्चित किया है। उनके अनेक प्रमाणों में से एक तो यह है कि ५ वीं शती ईस्वी की 'काशिका वृत्ति' में 'वाक्यपदीयम्' का उल्लेख है; दूसरा यह कि भर्तृहरि के गुरु वसुरात् बौद्ध दार्शनिक वसुबंधु (३३७-४१७ ई०) के सहपाठी थे। त्रिपाठी के सुझाव पर ही यहाँ भर्तृहरि को दण्डी से पहले कहा गया है।

[४] संग्रहे एतत्प्राधान्येन परीक्षितम् 'नित्यो वा स्यात्कार्यो वेति': पस्पशाह्निक, महा० किलहार्न संस्करण वही, पृष्ठ ४६८; जिल्द १, पृष्ठ ३५६। भाग १, पृष्ठ ६

शब्द संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम्॥

वार्तिक :—शब्द प्रकृतिरपभ्रंशः इति संग्रहकारो। ना प्रकृतिरपभ्रंशः स्वतंत्रः कश्चिद्विद्यते। सर्वस्यैव हि साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृतिः। प्रसिद्धेस्तु रूढितामापाद्यमाना स्वातंत्र्यमेव केचिदपभ्रंशा लभन्ते। तत्र गौरिति प्रयोक्तव्ये अशक्तया प्रमादिभिर्वा गव्यादयस्तत्प्रकृतयोपभ्रंशाः प्रयुज्यते।[५]

इस विषय में स्वयं भर्तृहरि का विचार तो महत्त्वपूर्ण है ही, संग्रहकार के मत का उद्धरण देकर उन्होंने और भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस प्रकार अपभ्रंश का प्राचीनतम उल्लेख पतंजलि से कुछ शताब्दी पूर्व तथा पाणिनि के बाद का उपलब्ध हो जाता है। इसके सिवा भर्तृहरि के कथन से यह भी पुष्ट होता है कि शब्द अर्थात् संस्कृत शब्द को अपभ्रंश की प्रकृति मानने की परंपरा बड़ी पुरानी है। उक्त कारिका के आगे ही भर्तृहरि ने उदारतापूर्वक यह भी लिख दिया है कि उनके सामयिक कुछ ऐसे भी आचार्य थे जिन्होंने अपभ्रंश को ही प्रकृति माना।[६] ये विरोधी आचार्य कौन थे इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया है।

अब दूसरा विचारणीय प्रश्न यह है कि पतंजलि द्वारा उद्धृत अपशब्द या अपभ्रंश वस्तुतः किस भाषा के शब्द हैं या हो सकते हैं? क्या वे अपशब्द, जैसा कि महाभाष्यकार ने कहा है, एक ही शब्द के विकार हैं या एक ही शब्द के समानार्थक, अन्य विभाषाओं में पाये जाने वाले स्वतंत्र शब्द हैं? इनमें से कुछ शब्द श्वेताम्बर जैनग्रंथों[७] की अर्धमागधी में मिल जाते हैं और कुछ चंड के व्याकरण २।१६

[५] भर्तृहरि : वाक्यपदीयम्—प्रथम काण्ड; कारिका १४८, लाहोर संस्करण : सं० पं० चारुदेव शास्त्री।

[६] वही, कारिका १५३।

[७] अपभ्रंश काव्यत्रयी : भूमिका : एल० बी० गांधी।

तथा हेमचन्द्र व्याकरण ८।२।१७४ में महाराष्ट्री या प्राकृत कहे गए हैं। इसके अतिरिक्त यदि गावी, गोरणी, गोता आदि शब्दों को किसी प्रकार संस्कृत 'गो' शब्द का ध्वनि-विकार मान भी लें तो 'गोपोतलिका' शब्द को 'गो' शब्द का विकार कैसे मानें? इससे इस अनुमान को आधार मिलता है कि ये संस्कृतेतर भाषाओं के स्वतंत्र शब्द थे। ऐसी दशा में यह कहना कठिन होगा कि संस्कृत शब्द ही प्रकृति थे।

स्वर्गीय गुलेरी जी ने वैयाकरणों के 'प्रकृति' और 'विकृति' शब्दों को मीमांसा के रूढ़ अर्थ में लेकर आधुनिक भाषावैज्ञानिक तथ्यों से उनकी संगति बैठाने के लिये नवीन व्याख्या की है। उनके विचार से साधारण, नियम, मॉडल, उत्सर्ग इस अर्थ में 'प्रकृति' आता है; विशेष, अलौकिक, भिन्न, अंतरित, अपवाद के अर्थ में 'विकृति' का प्रयोग होता है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि प्रकृति शब्द के अर्थ में भ्रम होने से 'तत आगतं', 'तदुद्भवा' और 'ततः' आदि की कल्पना हुई। प्रकृति का अर्थ यहाँ उपादान कारण नहीं है।······भाषा से भाषा कभी नहीं गढ़ी गई।'[८]

'प्रकृति' शब्द का अर्थ चाहे जो हो परन्तु गुलेरी जी की व्याख्या मान लेने से उपर्युक्त सभी कठिनाइयों की संगति बैठ जाती है। 'एक-एक शब्द के अनेक अपभ्रंश हैं' इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अपभ्रंश शब्द संस्कृत शब्द से उत्पन्न हुए हैं। यदि अपभ्रंश का अर्थ समान्य जन की बोलचाल की भाषा के शब्द है तो यह मानना अधिक स्वाभाविक है कि लोक प्रचलित उन शब्दों में से किसी एक को प्रतिमित (Standardised) रूप देकर संस्कृत में स्वीकार किया गया। 'संस्कृत' का अर्थ सामान्य सुधार, संशोधन आदि लिया जाता है; परन्तु यास्क ने शब्द की प्रकृति-प्रत्ययादि विचार को 'संस्कार' कहा है।

---

[८] पुरानी हिंदी, ना० प्र० स० संस्करण सं० २००७ वि० पृष्ठ ७६।

स्वयं पाणिनि मुनि ने शब्द और अपशब्द का प्रश्न नहीं उठाया है, क्योंकि वे लक्ष्यैकचक्षुष्क वैयाकरण थे। उनके लिए सभी शब्द साधु और वाचक थे। यद्यपि उन्होंने शब्दों का संस्कार किया, तथापि स्थान-स्थान पर 'विभाषायां' 'अन्यतरस्या' कहकर संस्कृत की अन्य उपभाषाओं तथा संस्कृतेतर बोलियों के शब्दों का भी परिचय दिया है। परन्तु परवर्ती वैयाकरण लक्षणैकचक्षुष्क थे। अतः वे यह तथ्य भूल बैठे और विचार करने की सुविधा के लिए संस्कृत को पहले से ही 'प्रकृति' मानकर आगे बढ़े, क्योंकि संस्कृत शब्द कम थे, और अपशब्द बोल चाल में अधिक थे। संस्कार का कार्य छोड़कर वे सभी बोलचाल के शब्दों को 'विकृति' या अपशब्द के खाते में डाल चले। वार्तिककार तक इस दिशा में एक बात भी थी क्योंकि उन्होंने पाणिनि के बाद लोक प्रचलित अनेक अपवादों को स्वीकार किया परन्तु पीछे यह वृत्ति उठ चला। हेमचन्द्र जैसे अपभ्रंश-समर्थक जैन आचार्य ने भी जो संस्कृति को प्रकृति कहा है वह इसी सुविधा की दृष्टि से। गुलेरी जी की भी ऐसी ही व्याख्या है कि पाणिनि के भाषा (व्यवहार) की संस्कृत को प्रकृति मानकर वैदिक संस्कृत को जो 'विकृति' माना है वह सामान्य और अपवाद अर्थ में ही।[१]

साराश यह कि महाभाष्य के 'अपभ्रंश' शब्द का अर्थ है *अपाणिनीय शब्द* और यह इतना व्यापक है इसके भीतर पालि, प्राकृत, अपभ्रश आदि सभी भाषाओं के शब्द आ सकते थे। महाभाष्यकार ने 'पालि' या 'प्राकृत' नाम (भाषा के अर्थ में) का उल्लेख कहीं नहीं किया है। अस्तु महाभाष्यकार के 'अपभ्रंश' शब्द का 'अपभ्रंश' भाषा से सीधा संबंध न होने पर भी इतना तो आभासित हो ही जाता है कि अपभ्रंश का विकास 'पतंजलि' कालीन संस्कृतेतर

---

[१] पुरानी हिंदी, पृष्ठ वही।

लोक भाषाओं से ही हुआ—यह कोई ऐसी भाषा न थी जो विदेश से आई हो।

§ २. भाषा के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से छठीं शती ईस्वी में प्राकृत वैयाकरण चण्ड[१०], वलभी के राजा द्वितीय धरसेन के ताम्रपत्र[११], भामह[१२] और दण्डी[१३] के अलङ्कार ग्रंथों में मिलता है। इससे पूर्व भरत के नाट्यशास्त्र में 'विभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग एक तो केवल 'शब्द' के लिए किया गया है, दूसरे उसे संस्कृत तथा 'देशी' शब्द से भिन्न माना गया है।[१४] भरत ने जहां भाषाओं और विभाषाओं का उल्लेख किया है, वहां 'विभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता बल्कि 'आभीरोक्ति' का उल्लेख है।[१५] एक बात यह भी विचारणीय है महाभाष्यकार ने संस्कृत और अपभ्रंश केवल दो ही प्रकार के शब्दों की सत्ता मानी थी जब कि भरत ने अपभ्रंश से भिन्न (?) 'देशी' शब्दों का भी अस्तित्व खड़ा किया। जैसा कि परवर्ती संस्कृत वैयाकरणों में भी दिखाई पड़ता है, 'अपभ्रंश' शब्द संस्कृतेतर अपशब्द के लिए रूढ़ हो चला था; परंतु भरत ने इसके विपरीत 'विभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग किया। पण्डितों ने भरत के 'विभ्रष्ट' शब्द का अर्थ 'तद्भव' किया है।

---

[१०] प्राकृत लक्षणम् ३।३७

[११] संस्कृतप्राकृतापभ्रंश भाषात्रय प्रतिबद्ध-प्रबन्ध रचनानिपुणान्तः करणः।

[१२] संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा। काव्यालंकार, १।२६

[१३] आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः। काव्यादर्श, १।३६

[१४] त्रिविधं तत्व विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः।
समानशब्दं विभ्रष्टं देशीमतमथापि वा ॥ नाट्यशास्त्र, १७।३

[१५] आभीरोक्ति शाबरी वा द्राविडी द्राविडादिषु। वही १७।५५

जो हो भरत के 'नाट्यशास्त्र' में अपभ्रंश भाषा का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है। अगर दण्डी ने यह न कहा होता कि काव्य में आभीरादि की भाषा अपभ्रंश है तो शायद आधुनिक भाषावैज्ञानिकों को भरत की आभीरोक्ति और उकार बहुला भाषा से अपभ्रंश का सूत्र जोड़ने में कठिनाई होती। इस प्रकार अपभ्रंश के विषय में दण्डी का उद्धरण विशेष महत्त्वपूर्ण समझना चाहिए। दण्डी ने एक ही श्लोक में महाभाष्यकर और नाट्यशास्त्रकार दोनों के मतों का स्पष्ट तथा व्याख्यापूर्ण समाहार कर दिया है। परंतु उन्होंने यह नहीं बताया कि किसके सादृय पर 'आभीरादिगिरः' को अपभ्रंश कहा गया है। इसके सिवा उन्होंने यह भी नहीं बताया कि व्याकरण शास्त्र के अपभ्रंश और काव्य भाषा के अपभ्रंश में क्या संबंध है? क्या ये दोनों एक हैं? यदि हाँ तो क्यों और किस प्रकार? संस्कृतेतर शब्दों और 'आभीरादिगिरः' में क्या संबंध है? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर किसी संस्कृत आलंकारिक तथा प्राकृत वैयाकरण ने नहीं दिया है। आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने भी इन उद्धरणों में केवल अपभ्रंश नाम देखकर ही संतोष कर लिया। उन्हें शायद इन प्रश्नों की आवश्यकता का अनुभव नहीं हुआ। यदि अपभ्रंश के लिए व्यवहृत 'संस्कृतेतर शब्द' तथा 'आभीरादिगिरः' समान हैं तो तत्कालीन प्राकृतों का स्थान कहाँ होगा?

भरत और दण्डी उद्धरणों की परस्पर तुलना से एक और अन्तर स्पष्ट हो जाता है। विभाषाओं का उल्लेख करते हुए[१९] अपभ्रंश के लिए भरत ने केवल 'आभीरोक्ति' कहा है जब कि दण्डी ने 'आभीरादिगिरः' कहकर 'आभीर' के साथ 'आदि' भी लगा दिया है। ऐसा लगता है कि भरत के समय जो भाषा केवल 'आभीरोक्ति' (आभीरों की भाषा) थी वह दण्डी तक आते-आते उन तीन सौ वर्षों में तत्कालीन अन्य

---

[१९] शाबरा भीर चाण्डाल-सचरद्रविडोड्रजा।
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटक स्मृता। भ० ना० १७।१६

विभाषाओं से युक्त होकर एक व्यापक भाषा हो गई। 'दण्डी' के 'आदि' की यह व्याख्या की जा सकती है। 'आदि' से आभीरों के अतिरिक्त अन्य जातियों का सम्मिलन ध्वनित होता है।

भरत के उद्धरण[१७] में एक और प्रश्न विचारणीय है और वह उकार बहुला भाषा तथा अपभ्रंश का संबंध। प्रायः आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों ने भरत की उकार बहुला भाषा का आशय अपभ्रंश ही लिया है। भरत का कहना है कि हिमवत्, सिन्धु, सौवीर तथा अन्य देशवासियों के लिए उकार बहुला भाषा प्रयोग करना चाहिए। साहित्यिक अपभ्रंश में उकार बहुलता देखकर पंडितों ने अनुमान लगाया कि भरत ने जिस भाषा का लक्षण बतलाया है वह अपभ्रंश ही रही होगी। इस अनुमान के लिए यह आधार मिल जाता है कि आभीर जाति प्रारंभ में हिमवत्, सिन्धु, सौवीर आदि पश्चिमोत्तर प्रदेशों में ही रहती थी। परन्तु भारत की तत्कालीन भाषाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि 'उकारान्त' विशेषता अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी बहुत प्राचीन काल से मिलती आ रही है। अशोक के पश्चिमोत्तर प्रान्तीय शिलालेखों की भाषा, जो अपभ्रंश से प्राचीन तथा पालि के निकट की है उकारान्त पदों से युक्त है; इसके सिवा महायान सप्रदाय के 'ललित विस्तर' आदि गाथा-संस्कृत के ग्रन्थों की भाषा में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। अतः उकार की विशेषता को अपभ्रंश तक ही सीमित रखना तथा उसके आधार पर भरत के उद्धरण को अपभ्रंशपरक कहना संगत नहीं प्रतीत होता।

इससे यह निष्कर्ष निकला जा सकता है कि भरत के समय तक स्वतंत्र भाषा के रूप में अपभ्रंश का स्वरूप न तो स्पष्ट हो सका था

---

[१७] हिमवत्सिन्धु सौवीरान्ये च देशाः समाश्रिताः।
उकारबहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत ॥ वही, १७।६१

और न भाषा के रूप में यह नाम रूढ़ हो हुआ था। आज तक यह रहस्य ही है कि संस्कृत व्याकरण का 'अपभ्रंश' शब्द 'आभीर-भाषा' के लिए कब, कैसे और क्यों रूढ़ हुआ? भरत और दण्डी के बीच ही कभी हो गया होगा, परन्तु बीच की इस कड़ी का पता नहीं। इतना अवश्य है कि दण्डी तक आते-आते 'अपभ्रंश' नाम भाषा विशेष के लिए रूढ़ और स्थिर हो चुका था।

§ ३. दण्डी के बाद तो अपभ्रंश का उल्लेख अनेक संस्कृत आलंकारिकों तथा प्रकृत वैयाकरणों ने किया है। ९ वीं शती में रुद्रट ने काव्यालंकार मे अपभ्रंश को संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के समकक्ष स्थान देते हुए उसकी विशेषता इन प्रकार बताई कि देशभेद से इसके अनेक भेद होते हैं।[१८] इससे पता चलता है कि उस समय तक अपभ्रंश का प्रनिमित रूप स्थिर नहीं हुआ था और यह आभीरों तक ही सीमित न रहकर अन्य जातियों और देशों में फैल गई थी; क्योंकि 'देशभेद' का अर्थ आभीरदेश के ही विविध भेद नहीं बल्कि उसके बाहर अन्य प्रांतों से भी तात्पर्य है। संस्कृत आलंकारिकों द्वारा अपभ्रंश का साहित्यिक भाषा के रूप में स्वीकृत होना सामान्य बात नहीं है। ११ वीं शताब्दी तक आते-आते यह शिष्ट समुदाय की भी भाषा मान ली गई। पूर्वी देशों के पुरुषोत्तम नामक बौद्ध विद्वान तथा प्राकृत वैयाकरण ने अपभ्रंश को शिष्ट वर्ग की भाषा के रूप में स्वीकार किया है।[१९] हेमचन्द ने भी १२ वीं शती ईस्वी में अपभ्रंश का विस्तृत व्याकरण लिखकर उसे परिनिष्ठित रूप दे दिया। आजकल अपभ्रंश का तात्पर्य हेमचन्द्र द्वारा निरूपित अपभ्रंश से ही लिया जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में अपभ्रंश का उल्लेख करने वाले अन्य अनेक

[१८] प्राकृत संस्कृतमागध पिशाचभाषाश्च शौरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः। २।१२॥

[१९] शेषं शिष्टप्रयोगात्। १७।६१

संस्कृत आलंकारिकों और प्रकृत वैयाकरणों का उल्लेख इसलिए छोड़ दिया गया है कि वे ऐतिहासिक तथा नवीन तथ्योद्घाटन दोनों ही दृष्टियों से उतने सहायक नहीं हैं। अगले पृष्ठों में प्रसंगानुकूल उनका उपयोग किया जाएगा।

इस प्रकार अपभ्रंश शब्द के प्रयोग का इतिहास निम्न-लिखित है।

(१) प्रथम शती : अपभ्रंश = अपाणिनीय अपशब्द।

(२) तृतीय शती : 'विभ्रष्ट' शब्द = आभीरोक्ति तथा उकार बहुला भाषा।

(३) षष्ठ शती : अपभ्रंश=संस्कृत आलंकारिकों तथा प्राकृत वैयाकरणों द्वारा स्वीकृत विभाषा।

(४) द्वादश शतीः प्राकृत वैयाकरणों द्वारा स्वीकृत शिष्ट वर्ग की तथा साहित्यिक भाषा।

संक्षेप में, अपभ्रंश भारतीय आर्यभाषा के विकास की एक अवस्था है, जो म० भा० आ० के अंतिम चरण के रूप में गृहीत है, जो लगभग ईसा की ६ ठीं शती से १२ वीं शती तक उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा थी, हेमचन्द्र ने जिसका व्याकरण लिखा और ११ वीं-१२ वीं शती तक आते-आते जिसका रूप स्थिर हो चुका था।

अपभ्रंश का काल-निर्णय

§ ४. अपभ्रंश के आदि और अंतिम काल का निर्णय करने में दो प्रकार की सामग्रियों को आधार बनाया जा सकता है।

(क) संस्कृत आलंकारिकों तथा प्राकृत वैयाकरणों के अपभ्रंश सम्बन्धी मत और उद्धृत अपभ्रंश पद्य।

(ख) संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थों में प्राप्त अपभ्रंश काव्य और अपभ्रंश की स्वतंत्र रचनायें।

जहाँ तक अपभ्रंश के आदिकाल का सम्बन्ध है, भरत का नाट्य शास्त्र [३०० ई०] पहला ग्रन्थ है जिसने उकार बहुला आभीरोक्ति का केवल नामोल्लेख ही नहीं किया है बल्कि उदाहरणों[२०] से उसकी पुष्टि भी की है। कुछ अस्पष्ट और खण्डित पाठ होते हुए भी वे अपभ्रंश (?) की विशेषताओं पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

१. मोरुल्लउ नच्चन्तउ। म (व) हागमे संभत्त (न्त) उ ॥ १७।६६

२. मेह मुद्दतु नई (ण) जोण्हउं। णिश्च णिप्पहे एस चंदउ ॥ ७४

पाठ भेद मेहउ हतु (?) णेइ जोण्हउं खिच्च णिप्पहे एहु चंड।

३. एसा हंसवधू (हू) हि (इ) च्छाकारणाउ।
गंतुं जु (उ) स्सुइया कंतं संगइया ॥ ९९

४. पियवाइ वायंतु (उ) सुवसत काल (उ)।
पिय कामुको (क उ) पिय मदणं जणंतउ ॥ १०८
वायदि वादो एहू पवाही रूसिद इव ॥ १६९

गुणे ने इन पंक्तियों पर भलीभाँति विचार किया है। एक तो इसमें 'उकार' प्रवृत्ति स्पष्ट है दूसरे णेइ, खिच्च, जोण्हउं, संगइया, एहु, एहू

---

२० भविसयत्त कहा : गुणे, पा० दा०, भूमिका पृष्ठ ५१ से उद्धृत।

आदि शब्द ठेठ अपभ्रंश के हैं। परन्तु संपूर्ण कविता की भाषा पर विचार करने से पता चलता है कि उसमें प्राकृत प्रभाव बहुत अधिक है और अधिक से अधिक उसे अपभ्रंश का प्रारंभिक रूप कह सकते हैं। इस प्रकार तीन मुख्य बातें ऐसी हैं जो अपभ्रंश का आदि काल ३०० ई० मानने में बाधक हैं—

१. भरत द्वारा उद्धृत तथा कथित उकार बहुला अपभ्रंश भाषा की पंक्तियों का सपूर्णतः अपभ्रंश न होना।

२. भरत द्वारा 'अपभ्रंश' नाम का स्पष्ट उल्लेख न होना।

३. नाट्यशास्त्र में तथाकथित अपभ्रंश (आभीरोक्ति) को भाषा से नीचे विभाषा की श्रेणी में रखना।

पश्चात् अपभ्रंश कविता के कुछ उदाहरण कालिदास रचित विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक में मिलते हैं। उनमें से नमूने के लिए दो छन्द लिए जा सकते हैं।

(क) मइं जाणिअं मिअलोअणी, णिसअरु कोइ हरेइ।
जावणु णवतलि सामल धाराहरु वरिसेइ ॥ ४।८

(ख) रे रे हंसा किं गोइज्जइ, गइ अणुसारें मइँ लक्खिज्जइ।
कइँ पइँ सिक्खिउ ए गइ लालस, सा पइँ दिट्ठो जहणभरालस ॥४।३२

जहाँ तक इनकी भाषा का संबंध है, ये शुद्ध और टकसाली अपभ्रंश हैं। यदि 'गाथा' या 'आर्या' प्राकृत का लक्षण हैं तो 'दूहा' अपभ्रंश का। प्रथम उद्धारण का छन्द 'दूहा' है आर दूसरे का 'चौपाई' से बिल्कुल मिलता जुलता। परन्तु इन पद्यों की प्रामाणिकता के विषय में पंडितों को संदेह है। याकोबी पहले विद्वान हैं जिन्होंने उन अपभ्रंश पद्यों की प्राचीनता अर्थात् कालिदास रचित अथवा कालिदास-कालीन दोनों में आपत्ति प्रकट की। श्री एस० पी० पण्डित ने 'विक्रमोर्वशीय' की भूमिका में उन आपत्तियों को कुछ और ठोस आधार देकर इस प्रकार रखा है—

१. उत्तम पात्र होने के कारण राजा प्राकृत छन्द का प्रयोग नहीं कर सकता।

२. टीकाकार 'काटयवेम' को इन छंदों की कोई जानकारी न थी।

३. दक्षिण भारत की पाण्डुलिपियों में वे छंद नहीं मिलते।

४. इन छंदों में से अधिकांश निरर्थक, अस्पष्ट प्रसंग वाले तथा संस्कृत पद्यों में वर्णित भावों के बाधक हैं।

५. कालिदास के अन्य नाटकों में अपभ्रंश छंद नहीं मिलते।

डा० ए० एन० उपाध्ये[२१]तथा डा० ग० वा० तगारे[२२]ने इन आपत्तियों का समाधान करते हुए उन छंदों को प्रामाणिक माना है। इस विषय में इन विद्वानों के तर्क इस प्रकार हैं।

१. नाट्यशास्त्र ने अवसर विशेष पर उत्तम पात्र के लिए 'भाषा व्यतिक्रम' का विधान किया है। यहाँ 'विक्रमोर्वशीय' चतुर्थ अंक में राजा उन्मत्त दशा में है। इसके सिवा जैसा कि श्री ए० पी० पण्डित ने स्वयं सुझाया है, कोई दूसरा व्यक्ति राजा को क्षणिक विश्राम देने के लिए वे गीत गाता है। (दे० प्रिंसिपल आर० डी० करमरकर : विक्रमोर्वशीय की भूमिका)

२. 'काटयवेम' की तत्सबंधी अज्ञानता कोई तर्क नहीं है। यदि काटयवेम ने उपेक्षा की तो रंगनाथ ने उस पर टीका लिखी है।

३ दक्षिण भारत की पाण्डुलिपियों में न सही, उत्तर भारत की प्रतियों में तो वे छंद पाए जाते हैं और स्वयं कालिदास उत्तर भारत के थे। इसके सिवा, संभव है कि दक्षिण के द्रविड़ दर्शकों की अपभ्रंश में रुचि न रही हो क्योंकि वह उनकी भाषा से संबद्ध नहीं थी। इसलिए दक्षिण भारत की पाण्डुलिपियों ने उन अपभ्रंश छंदों को शामिल करने

---

[२१] परमात्म प्रकाश की भूमिका : पृष्ठ ५६, टिप्पणी १

[२२] 'पुरुषार्थ' : जून १९४२

की आवश्यकता न समझी होगी। अस्तु, विक्रमोर्वशीय के दाक्षिणात्य पाठ पर आधारित तर्क निर्णयात्मक नहीं कहा जा सकता।

४. उन छंदो की निरर्थकता मनोविज्ञान-सम्मत है। एक पागल का प्रलाप निरर्थक न होगा तो क्या होगा? फिर उन गीतों की काल्पनिक उड़ान की ऊँचाई तो निःसंदिग्ध है। उपाध्ये के शब्दों में (आज भी मनोरंजनार्थ नाटकों में अर्थहीन ग्राम गीतों का समावेश कर दिया जाता है और अपभ्रंश के ध्वन्यात्मक विशेषताओं से परिचित कोई व्यक्ति कह सकता है कि वह गीतों के लिए सर्वोत्तम माध्यम हो सकती थी।'

५. पण्डित का अंतिम तर्क स्वतः निषेधात्मक होने के कारण खण्डन की अपेक्षा नहीं रखता।

इस प्रकार उन छंदों की प्रामाणिकता के पक्ष और विपक्ष में तुल्य बल के तर्क उपस्थित किए जाते हैं और जा सकते हैं। डा० पी० एल० वैद्य का सुझाव (मौखिक) है कि उन छदों को कालिदास रचित न मानकर यदि तत्कालीन लोक भाषा का कोई प्रचलित गीत मान लें और यह अनुमान कर लें कि कालिदास ने अवसर के उपयुक्त समझकर उन्हें कुछ सशोधित रूप में ग्रहण कर लिया तो कोई कठिनाई नहीं आती। भरत नाट्यशास्त्र के उद्धृत अपभ्रंश (?) छदों के साथ इनकी तुलना करते हुए यह अनुमान गलत नहीं प्रतीत होता। सौ वर्षों में भाषा का इतना विकास असंभव नहीं है। यह मान लेने पर अपभ्रंश का आदि काल पाँचवी शताब्दी का आरंभ हो सकता है। परन्तु जब तक ये पंक्तियाँ विवादग्रस्त हैं हमारे लिए इनके आधार पर कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय करना ठीक नहीं।

§ ५. इनके बाद अपभ्रंश का जो लिखित साहित्य प्राप्त है उनमें से पश्चिमी अपभ्रंश का जोइन्दु रचित परमात्मप्रकाश और योगसार तथा पूर्वी अपभ्रंश का 'कण्ह दोहा कोश' मुख्य हैं। जोइन्दु का समय उपाध्ये ने छठीं शताब्दी माना है परंतु अन्य विद्वान १० वीं शताब्दी के पक्ष में हैं। इसी प्रकार कण्ह का समय भी विवादग्रस्त है। एक ओर

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने १२०० ई० माना है तो दूसरी ओर डा० शहीदुल्ला ने ७०० ई०। प्रो० बागची ११०० ई० मानते हैं और इसीके आसपास पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी (नाथ संप्रदाय) भी मानते हैं। कण्ह को १००० ई० के बाद मानने वाले विद्वान-प्रायः सरह को उनसे पहले मानते हैं और सरह का समय लगभग १००० ई० निश्चित सा है। परंतु तगारे ने भाषा वैज्ञानिक आधार पर डा० शहीदुल्ला का समर्थन करते हुए यह मत स्थापित किया है कि भाषा की दृष्टि से कण्ह सरह से पहले रहे होंगे।[२३] यद्यपि समय-निश्चित करने में भाषा का प्रमाण कोई ठोस आधार सिद्ध नहीं होता, तथापि पूर्वी अपभ्रंश साहित्य का इतिहास १००० ई० से सौ दो सौ वर्ष पहले मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अपभ्रंश के उपर्युक्त काव्य ग्रंथों का समय चाहे जो हो परन्तु उनकी प्रौढ़ साहित्यिक भाषा को देखकर यह अनुमान सहज ही लगया जा सकता है कि वे कुछ शताब्दी पूर्व की भाषा परंपरा के समुन्नत रूप हैं। इस अनुमान की पुष्टि भामह और दण्डी जैसे संस्कृत आलंकारिकों द्वारा भी होती है। छठीं सातवीं शताब्दी के इन आचार्यों ने काव्य को संस्कृत प्राकृत तथा अपभ्रंश में विभाजित करते हुए यहाँ तक लिखा है कि अपभ्रंश में 'कथा' लिखी जाती थी[२४] और अपभ्रंश काव्य को 'आसार' कहते थे।[२५] इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि छठीं शताब्दी तक अपभ्रंश में साहित्य रचना ही नहीं होती थी अपितु उसका साहित्य इतना समृद्ध हो गया था कि उसमें काव्य के नाना प्रकारों की भी रचना होने लगी थी और यह इतनी

---

[२३] हि. ग्रै. अप०, पृष्ठ २० [२४]न वक्त्रापरभ्वां युक्ता नोच्छ्वासव त्यपि।
संस्कृतं संस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक् तथा॥ काव्यालंकार॥ १।२८

[२५] संस्कृतं सर्गवन्धादि प्राकृतं सन्धिकादिकम्।
आसारदीन्यपभ्रंशो नाटकादि तु मिश्रकम्॥ काव्यादर्श १।३७

महत्त्वपूर्ण थी की संस्कृत आलंकारिकों का भी ध्यान आकृष्ट करती थी। छठीं शताब्दी से पूर्व साहित्यिक अपभ्रंश का आरंभ मानने के लिए एक ठोस अभिलेख-प्रमाण भी प्राप्त है। वलभी के धरसेन द्वितीय ने अपने एक ताम्रपत्र में पिता गुहसेन को कई भाषाओं के अपभ्रंश का भी ज्ञाता कहा है।[२६] इससे स्पष्ट है कि उस समय तक अपभ्रंश इतनी महत्त्वपूर्ण हो गई थी कि राजा जैसे कुलीन व्यक्ति के लिए भी अपभ्रंश जानना गौरव की बात थी। धरसेन के उस ताम्रपट्ट की प्रामाणिकता में सदेह भी किया गया है। (दे० इडियन ऐंटिक्वेरी) परन्तु अभी तक अपभ्रंश के पंडित उसका सहारा लेते जा रहे हैं। अस्तु, अपभ्रंश का आदि काल छठीं शताब्दी ईस्वी मानने मे कोई हर्ज नहीं।

§६. अंतिम कालः—यों तो अपभ्रंश की रचनायें पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक होती रहीं और वे ग्रंथ भी आज उपलब्ध हैं; परन्तु अपभ्रंश का अंतिम काल उनके आधार पर निश्चित नहीं किया जा सकता। किसी भाषा का अंतिम काल वहीं तक समझना चाहिए जब वह बोलचाल से दूर हटकर केवल कुछ साहित्यकारों की वस्तु हो जाती है। नमि साधु[२७] [१०६९ ई०], वाग्भट[२८] [११२३—५६ ई०], रामचन्द्र[२९] [१२ वीं शता०], हेमचन्द्र[३०] [११४२ ई०]

---

[२६] दे० टिप्पणी ११

[२७]. तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः। स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यत्व भेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थ मुक्तं भूरिभेद इति। कुतो देशविशेषात्। तस्य च लक्षणं लोकादवसेयम्। टीका : रुद्रट काव्या० २।१२

[२८]. अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्। काव्यालंकार २।३

[२९]. देशस्य कुरुमागधादेरुद्देशः प्राकृतत्व तस्मिन् मति स्व स्व देश सबंधिनी भाषा-निबन्धनीया इति। इयं देशगाश्च प्रायोपभ्रंशे निपतीति।: नाट्य दर्पण

[३०]. काव्यानुशासन ८।३३०-७ अभिधान चिन्तामणि २।१९९

आदि आचार्यों ने अपभ्रंश को देश भाषा स्वीकार किया है। परन्तु उनके कथन से यह स्पष्ट नहीं है कि वे परंपरानुकथन कर रहे हैं अथवा अपने समय की स्थिति बता रहे हैं। हेमचन्द्र ने अपभ्रंश और ग्राम्य भाषा में अंतर किया है। इससे पता चलता है कि उनके समय अपभ्रंश बोल-चाल की भाषा नहीं रह गई थी। आजकल भाषा वैज्ञानिकों का विचार है कि किसी भाषा को मृत बनाने के जिम्मेदार वैयाकरण और आलं-कारिक होते हैं। अपभ्रंश को यदि 'मम्मट' नहीं मिले तो हेमचन्द्र जरूर मिल गए। हेमचन्द्र का इतने विस्तार से पूर्ण उदाहरणोपेत अपभ्रंश-व्याकरण लिखना ही बतलाता है कि उन्हें उस भाषा को पूर्ण बोधगम्य बनाने के लिए ऐसा करना पड़ा। अपने समय की बोलचाल की भाषा का व्याकरण इस तरह नहीं लिखा जाता। परन्तु सि० है० में प्राकृतों का सक्षिप्त व्याकरण देखकर यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि प्राकृत ही उस समय की बोलचाल की भाषा थी। कुछ विद्वान स्वयं हेमचन्द्र के 'कुमार पाल चरित' की भाषा उद्धृत कर दिखाना चाहते हैं कि उसकी अप्रांजल भाषा इस बात का प्रमाण है कि वह बोलचाल की भाषा के समय नहीं लिखा गया है। परन्तु इसके प्रतिकूल यह भी कहा जा सकता है कि एक वैयाकरण की काव्यभाषा स्वतः कृत्रिम और गढ़िया हो जाती है।

अपभ्रंश हेमचन्द्र के समय बोलचाल की भाषा रही हो या नहीं, परन्तु उसके आसपास ही अपभ्रंश-काल समाप्त हो गया इसमें विशेष मतभेद नहीं हो सकता। ईसा की १३ वीं और १४ वीं शताब्दी से तो आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के आरम्भिक साहित्यिक ग्रंथ मिलने लग जाते हैं। १३ वीं शताब्दी में मराठी की ज्ञानेश्वरी तथा चौदहवीं शताब्दी में मैथिल कवि ज्योतिरीश्वर ठाकुर की 'वर्णरत्नाकर' पोथी लिखी गई। अपभ्रंश के अंत और आ० भा० आ० के आरम्भ काल के बीच कम से कम एक या डेढ़ शताब्दी का अन्तर तो होना ही चाहिए। परन्तु जैसा कि गुलेरी जी ने कहा है 'अपभ्रंश कहां समाप्त

होती है और पुरानी हिंदी कहाँ आरम्भ होती है, इसका निर्णय करना कठिन किन्तु रोचक और बड़े महत्त्व का है। इन दो भाषाओं के समय के विषय में कोई स्पष्ट (सीमा) रेखा नहीं खींची जा सकती।'[३१] सीमा-रेखा भले न खींची जा सके, परन्तु अपभ्रंश का अंतिम काल निश्चित किया जा सकता है। तगारे [३२] ने यह समय १२०० ईस्वी माना है और गुलेरी जी [३३] तथा शुक्ल जी ने [३४] विक्रम को ११ वीं शताब्दी।

ढोला मारूरा दूहा के संपादक नरोत्तम स्वामी आदि विक्रम की १० वीं शताब्दी से १२ वीं के अंत तक परिवर्तन युग मानते हैं। [३५] उनका अभिप्राय शायद १० वीं शताब्दी तक ही अपभ्रंश काल मानने का है। परन्तु जैसा पहले दिखाया जा चुका है कि ईसा की ११ वीं शताब्दी तक तो निश्चित रूप से अपभ्रंश बोलचाल की भाषा थी। अतः ढोला० सम्पादकों का अनुमान ठीक नहीं। दूसरी ओर तगारे का मत भी प्रस्तुत प्रसंग में मान्य नहीं हो सकता। तगारे को अपभ्रंश का ऐतिहासिक व्याकरण लिखना था, अतएव वे अपना क्षेत्र अधिक से अधिक विस्तृत कर सकते थे। यहाँ आ० भा० आ० के परिपार्श्व में हिन्दी का आदि काल निश्चित करना है साथ ही प्रतिमित अपभ्रंश का अंतिम काल भी। इस दृष्टि से विचार करने पर ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी अपभ्रंश की अंतिम तिथि प्रतीत होती है न कि गुलेरी जी और शुक्ल जी के अनुसार विक्रम की ११ वीं शताब्दी। हेमचन्द्र से आधी शताब्दी पूर्व तक अपभ्रंश का बद्धप्रवाह होना बहुत है। इससे पूर्व अपभ्रंश का अन्त काल निश्चित नहीं किया जा सकता।

---

३१. पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पुरानी हिन्दी, पृष्ठ ११

३२. हि० ग्रे० अप० पृष्ठ ४

३३. पुरानी हिन्दी पृष्ठ ८

३४. पं० रामचन्द्र शुक्ल, बुद्धचरित, भूमिका पृष्ठ ६

३५. ढोला० : भूमिका पृष्ठ १३६—ना० प्र० स०

अपभ्रंश-भाषा-भाषी प्रदेश

§ ७. यदि भरत की उकार बहुला भाषा अपभ्रंश ही है तो ३०० ई० के आसपास वह केवल पश्चिमोत्तर भारत की भाषा थी।[३६] परंतु अपभ्रंश सदैव वहीं तक सीमित न रही। भरत के लगभग छः शताब्दियों बाद राजशेखर ने अपभ्रंश की जो भौगोलिक सीमा बताई है वह भरत द्वारा निर्देशित सीमा से अधिक व्यापक है। राजशेखर के समय अपभ्रंश भाषा सकल मरुभूमि, टक्क और भादानक देशों में बोली जाती थी।[३७] मरु प्रदेश से राजशेखर का तात्पर्य संपूर्ण राजस्थान रहा होगा। 'टक्क' प्रदेश की भौगोलिक स्थिति के विषय में काव्य मीमांसा के संपादक ने लिखा है कि 'टक्क' विपाशा और सिन्धु नदी के बीच के प्रदेश का नाम था। यह वाहीकों या टक्कों का प्रान्त था। साकल इसकी राजधानी थी और मद्र तथा अरट्ट देश भी सम्मिलित थे। राजतरंगिणी के अनुसार यह प्रदेश चेनाब या चन्द्रभागा के तट पर स्थित था।[३८] भादानक की स्थिति के विषय में अब भी मतभेद है। टक्क के साथ ही इसका नाम आने से पंडितों का अनुमान है कि यह भी उसी के आसपास कहीं रहा होगा। 'काव्य मीमांसा के उसी परिशिष्ट में[३९] संपादक ने लिखा है कि यह पालिग्रंथों का भादीय या भादीय नगर है। एन० एल० दे के अनुसार यह भागलपुर से ८ मील दक्षिण स्थित भद्दरिया है और महावीर स्वामी वहाँ गए थे। परन्तु यह मत ठीक

---

[३६] दे० टिप्पणी

[३७] सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्क भादानकाश्च।: काव्य-मीमांसा, गायकवाड़ सीरीज़, पृष्ठ ५१

[३८] काव्य मीमांसाः तृतीय संस्करण, परिशिष्ट १

[३९] वही।

नहीं है। मरु और टक्क के साथ आने के कारण इसकी स्थिति पश्चिमोत्तर भारत में पंजाब के आसपास ही कहीं सम्भव है। बहुत संभव है कि यह महाभारत सभापर्व के ३२ वें अध्याय में आए हुए 'भारधान' का दूसरा नाम हो। पार्जीटर के मानचित्र[४०] के अनुसार यह शतद्रु और विनशन नदी के बीच का प्रदेश है।

इस प्रकार दसवीं शताब्दी तक अपभ्रंश भाषा-भाषी प्रदेश पंजाब और राजस्थान थे। कुछ विद्वान राजशेखर द्वारा वर्णित राज सभा में विभिन्न भाषाओं के कवियों के बैठने की दिशा से भी अपभ्रंश-प्रदेश निश्चित करने का सुझाव रखते हैं। उस वर्णन के अनुसार अपभ्रंश कवि का स्थान पश्चिम दिशा है।[४१] इससे पश्चिम भारत अर्थात् गुजरात सौराष्ट्र आदि को भी अपभ्रंश प्रदेश माना जा सकता है। ये प्रान्त भी राजशेखर के समय तक अपभ्रंश-भाषा-भाषी रहे होंगे, इस पर हमें आपत्ति नहीं; परंतु राजशेखर के उस वर्णन को इस सीमा तक खींचना उचित नहीं प्रतीत होता। उसके अनुसार प्राकृतों को पूर्व दिशा का मानना पड़ेगा। यदि प्राकृत का अभिप्राय वहाँ महाराष्ट्री प्राकृत ही हो तो उसका प्रदेश पूर्व दिशा निश्चित करना एक दम असंगत है।

अपभ्रंश प्रदेशों के निर्णय में अपभ्रंश कवियों के स्थान और आश्रयदाताओं की राजधानियों का निश्चय भी सहायक हो सकता है। जोइन्दु ने परमात्मप्रकाश तथा योगसार की रचना उत्तरी गुजरात अथवा राजपूताना में की।[४२] देवसेन ने 'सावय धम्म दोहा' मालवा में लिखा। धनपाल ने 'भविसयत्त कहा', जिनदत्त ने 'चरचरी' और

---

[४०] रायल एशियाटिक सोसायटी जर्नल, सन् १६०८ ई०

[४१] पश्चिमेनापभ्रंशिनः कवयः। काव्य मीमांसा, पृष्ठ ५४

[४२] तगारे, हि० ग्रै० अप०, पृष्ठ १८ : उपाध्ये का पत्र।

[४३] पी० एल० वैद्य : महापुराण और जस चरिउ की भूमिकायें।

उपदेश—'तरंगिणी' हरिभद्र ने 'सनत्कुमार चरित', हेमचन्द्र ने 'कुमार पाल चरित्र' तथा सोमप्रभ ने 'कुमारपाल प्रतिबोध' गुजरात में लिखा। दूसरी ओर पुष्पदन्त ने 'महापुराण', 'णायकुमार चरिउ' और 'जसहर चरिउ' की रचना मान्यखेट[४३] (दकन) में की। यद्यपि 'करकंड चरिउ' के रचना-स्थान के विषय में मतभेद है। मुनि कनकामर ने इसकी रचना अस्सये (निज़ाम राज्य) में की थी। डा० उपाध्ये ने मुनि कनकामर द्वारा निर्देशित 'आसाइय' को बुंदेलखंड में कहीं माना है। परन्तु तगारे[४४] और हीरालाल जैन 'आसाइय' को वर्तमान 'अस्सये' ही मानते हैं जो दकन में है। जो हो, इससे अपभ्रंश की प्रसार भूमि का दकन तक होना प्रमाणित होता है। जहाँ तक अपभ्रंश की पूर्वी सीमा का प्रश्न है, कण्ह और सरह के दोहाकोश इसके प्रमाण हैं। जिनकी रचना बंगाल में हुई थी। शहीदुल्ला[४५] ने जो आँकड़े उपस्थित किए हैं उससे यही प्रतीत होता है कि कण्ह 'समतट' या पूर्वी बंगाल के निवासी थे।

इन रचनाओं से पता चलता है कि अपभ्रंश क्रमशः फैलते-फैलते ११ वीं शताब्दी तक संपूर्ण उत्तर भारत की साहित्य भाषा हो गई थी। किसी ठोस प्रमाण के अभाव में यह कहना तो साहस का काम होगा कि वह समस्त उत्तर भारत की बोलचाल की भी भाषा थी। इतना अवश्य है कि इतनी व्यापक साहित्य-भाषा का संबंध उन सभी प्रदेशों की बोल-चाल की भाषा से भी कुछ न कुछ रहा होगा। स्थानीय भेदों का होना स्वाभाविक है। परन्तु यह विलक्षण बात है कि जहाँ प्राकृतों में महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी पैशाची, चूलिका, पैशाची आदि देशभेदों की प्रसिद्धि है वहाँ साहित्यिक अपभ्रंश में देशभेदक नाम परवर्ती काल में ही

---

[४४] महाराष्ट्र साहित्य पत्रिका, पूना : मार्च १९४२ ई०

[४५] ला चैंट्स मिस्टिक्स (फ्रेंच) : भूमिका पृष्ठ २५-२६

मिलते हैं कुछ विद्वान तो प्राकृतों में भी देश भेद नहीं मानते।[४६] अपभ्रंश-प्रदेश पर विचार करते हुए गुलेरीजी ने लिखा है 'शौरसेनी और भूतभाषा की भूमि ही अपभ्रंश हुई और वह पुरानी हिंदी की भूमि अन्तर्वेद ब्रज, दक्षिण पंजाब, टक्क, भादानक, मरु, त्रवण, परियात्र, दशपुर और सुराष्ट्र—यहीं की यह भाषा एक ही अपभ्रंश थी जैसे पहले देश भेद होने पर भी एक ही प्राकृत थी।'[४७]

---

[४६] ए. सी. वुल्नर : इंट्रोडक्शन टु प्राकृत (तृतीय संस्करण) पृष्ठ ५ और मनमोहन घोष : कर्पूर मंजरी, भूमिका पृष्ठ ४६

[४७] पुरानी हिंदी, पृष्ठ ११

अपभ्रंश के विकास की सामाजिक पृष्ठभूमि

§ ८. पिछले पृष्ठों में हमने देखा कि देश और काल के अनुसार अपभ्रंश का क्रमिक विकास हुआ, परंतु यह विकास किस प्रकार संभव हुआ, यह अभी जानना शेष है। यदि भाषा की उत्पत्ति हवा में नहीं होती तो उसका विकास भी हवा में संभव नहीं। भाषा सामाजिक शक्ति है और उसका विकास भी सामाजिक शक्तियों के उत्थान-पतन पर निर्भर है। यद्यपि यह विषय शुद्ध भाषाशास्त्र का उतना नहीं है जितना इतिहास और मानव विज्ञान का, तथापि अपभ्रंश की सामाजिक पीठिका समझ लेने से अनेक भाषाशास्त्रीय गुत्थियाँ सुलझ जायेंगी। अब तक पंडितों ने 'अपभ्रंश और आभीर जाति के संबंध' पर जो विचार किया है उसमें अपभ्रंश के विकास की सामाजिक पीठिका ढूँढ़ने का प्रयत्न नहीं, बल्कि प्राचीन संस्कृत आलंकारिकों के उद्धरणों को स्पष्ट करने की चेष्टा है। बहुत संभव है कि यदि प्राचीन संस्कृत आलंकारिकों ने अपभ्रंश को आभीरोक्ति न कहा होता तो शायद इन आधुनिक भाषाशास्त्रियों ने अपभ्रंश भाषा-भाषी जाति का इतिहास प्रस्तुत किया ही न होता जैसा कि अन्य कई भाषाओं के साथ हुआ है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपभ्रंश का आरंभ 'आभीर जाति' के आगमन अथवा उत्कर्ष से जुड़ा हुआ है तथापि यह भी सच है कि शीघ्र ही अपभ्रंश आभीर आदि अनेक विदेशी जातियों की भाषा हो गई। भरत और दण्डी के उद्धरणों के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है।[४८] यदि दण्डी ने 'आभीरादि' शब्द का शिथिल

---

४८ दे० § २

प्रयोग नहीं किया है तो बहुत संभव है कि उनके 'आदि' शब्द की लपेट में भरत द्वारा उल्लिखित 'शाबरी' आदि विभाषायें भी आ गई हों। एक बात ध्यान देने योग्य है कि 'चाण्डाल' नामक जाति का उल्लेख करते हुए भी उनकी 'चाण्डाली' नामक भाषा का नाम नहीं लिया है। मालूम होता है आगे चलकर अपभ्रंश में चाण्डालों की भाषा का भी मिश्रण हो गया अथवा वह चाण्डालों द्वारा भी अपना ली गई। इसका उल्लेख भरत के लगभग १२ सौ वर्ष बाद अर्थात् १५ वीं शताब्दी के अंत अथवा १६वीं शताब्दी के आरंभ[४९] में लक्ष्मीधर ने किया। *'अपभ्रंशस्तु चाण्डाल यवनादिषु युज्यते।'* लक्ष्मीधर ने आभीरों को हटाकर चाण्डालों और यवनों को ला बिठाया। इसका दो ही अर्थ हो सकता है—

१ या तो लक्ष्मीधर के समय में अपभ्रंश आभीरों की भाषा न रहकर यवनों और चाण्डालों की भाषा हो गई हो; या

२ अपभ्रंश काल के बहुत दिनों बाद होने के कारण लक्ष्मीधर ने तथ्याकन करने में चूक की हो।

पहला मत तो निश्चित रूप से अनैतिहासिक है। जो भाषा अपने चरम विकास काल में शिष्ट वर्ग, राज-मण्डल तथा जैनाचार्यों की भाषा रही हो वह ह्रास की दशा में चाण्डालों और यवनों में अवशिष्ट रह गई हो, यह ठीक नहीं जँचता। १५वीं-१६वीं शताब्दी तक अनेक जैन आचार्य कृत्रिम अपभ्रंश में रचना करते गए। अतः लक्ष्मीधर का उक्त कथन भ्रान्त है। दूसरे मत की संभावना अधिक है। भारतीय साहित्य में यदि चाण्डाल शब्द का नहीं तो 'यवन' शब्द का शिथिल प्रयोग प्रसिद्ध है। 'यवन' शब्द 'आयोनियन' लोगों के लिए प्रयुक्त होता था। बाद मे समूचा ग्राक जाति के लिए व्यवहृत होने लगा। आगे चलकर सभी विदेशियों के लिए यवन और म्लेच्छ शब्द आया करता था।

---

[४९] गुणे, भविसयत्त कहा : भूमिका, पृष्ठ ६८

अस्तु लक्ष्मीधर के 'यवन-चाण्डाल' शब्द को विदेशी जातियों के लिए प्रयुक्त समझना चाहिए।

लगभग १००० ईस्वी के आसपास भोज ने अपभ्रंश के साथ गुर्जरों का संबन्ध जोड़ा[५०]। इसकी पुष्टि १७वीं शताब्दी के प्राकृत वैयाकरण मार्कण्डेय ने की[५१]। इस प्रकार अपभ्रंश का सम्बन्ध गुर्जरों से भी सिद्ध होता है। अपभ्रंश पर केवल आभीरों का ही अधिकार नहीं था यह बात तो नमिसाधु के प्रमाण पर भी कही जा सकती है क्योंकि उन्होंने आभीरी को अपभ्रंश के भेदों में से एक कहा है[५२]। 'गुर्जर प्रतिहार' राजाओं के राजकवि राजशेखर ने अपभ्रंश भाषाभाषी वर्ग की एक लम्बी सूची दी है जिसमे चित्रलेपकार, माणिक्य बन्धक, वैकटिक, स्वर्णकार, वर्द्धकी और लोहकार आदि मुख्य हैं[५३]। स्पष्ट है कि अपभ्रंश बोलने वालों में जनसाधारण वर्ग था।

अपभ्रंश-भाषा-भाषी उपर्युक्त जातियों की लम्बी सूची देखकर सर्वप्रथम यही प्रश्न उठता है कि क्या इन जातियों में कोई आन्तरिक

---

[५०] अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जराः।

[५१] संस्कृताढ्या च गौर्जरी। चकारात् पूर्वोक्त टक्क भाषा ग्रहणम्।

'टक्कभाषा' के लिये "टक्की पुरा निगदिता खलु या विभाषा
सा नागरादि भिरपि त्रिभिरन्विता चेत्।
तामेव टक्क विषये निगदन्ति टक्का—
पभ्रंशमत्र तदुदाहरणं गवेष्यम्॥" [illegible]

[५२] दे० टिप्पणी।

[५३] पश्चिमेनापभ्रंशिनः कवयः। ततः प[illegible] चित्रलेप्यकृतो माणिक्य-बन्धका वैकटिकाः स्वर्णकार वर्द्धकिलोहकारा अन्ये ऽपि तथा। वि[illegible] का पृष्ठ ५४—५५

सम्बन्ध था ? इसका पता लगाने के लिए सबसे पहले आभीर जाति का इतिहास देखना आवश्यक है।

§ ६. आभीरों का सबसे पुराना साहित्यिक उल्लेख महाभारत में चार स्थलों पर मिलता है[५४]। एक स्थल पर वे सिन्धु के पश्चिम रहने वाली जाति के रूप में अंकित हैं। उन्हें घृण्य कहते हुए आक्रोशपूर्ण ढंग से लिखा गया है कि उनके कारण सरस्वती (नदी और भाषा ?) का लोप हो गया। दूसरे स्थल पर द्रोण के 'सुपर्ण व्यूह' में उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान देकर योद्धाओं की श्रेणी में रखा गया है। तीसरे स्थल पर जब अर्जुन द्वारिका से कृष्ण की विधवाओं के साथ लौट रहे हैं तो वे पंचनद के पास उन पर आक्रमण करते हैं; और चौथा स्थल वह है जब राजसूय यज्ञ के अवसर पर वे उपायन लेकर आते हैं—यहाँ उनका उल्लेख 'शूद्रों' के साथ हुआ है।[५५] स्व० आचार्य पं० केशव प्रसाद मिश्र का यह विश्वास था कि आभीरों का दो दल भारत में आया था। पहला दल तो आते ही आर्यों की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अनुसार शूद्र श्रेणी का एक अंग हो गया और दूसरा दल इतना उद्धत तथा लुटेरा था कि आर्य संस्कृति में न घुल सका और यवन आक्रमण काल में इस्लाम धर्म में दीक्षित हो गया। मनु ने उन्हें 'ब्राह्मणात्...आभीरोम्बष्ठकन्यायाम्'[५६] कहकर वर्णव्यवस्था में स्थान दे दिया। परन्तु शक्ति और प्रभुता के साथ इस देश में जातियों के सामाजिक उत्थान की कथा प्रसिद्ध है और कोई आश्चर्य नहीं कि आज आभीरों का दर्जा वैश्यों के बराबर है।

---

[५४] महाभारत २।३२।११६१, ४।२०।७६८, ८।३७।२११६,१६।७।२२३

[५५] डा० के० पी० जायसवाल 'शूद्राभीर' की जगह 'शूराभीर' पाठ मानते थे।

[५६] मनुस्मृति १०।१५

जो हो; महाभारत के उद्धरणों से यह तय है कि ईस्वी सन् के लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक आभीर जाति भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में आ बसी थी। इस तथ्य की पुष्टि काठियावाड़ के 'गुंद' नामक स्थान में प्राप्त रुद्रदामन के एक अभिलेख से भी होती है जिसमें उसके एक अभीर सेनापति रुद्रभूति के दान का उल्लेख है। अभिलेख का समय १८१ ईस्वी माना जाता है। इससे दो बातें मालूम होती हैं। एक तो काठियावाड़ अर्थात् पश्चिमी भारत में आभीरों का आवास और दूसरा शक क्षत्रपों से आभीर जाति का निकट संबंध। एन्थोवेन ने नासिक अभिलेख [३०० ईस्वी] में ईश्वरसेन नामक आभीर राजा की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। समुद्र गुप्त के प्रयाग लौहस्तंभ लेख [३६० ईस्वी] में आभीर गुप्त साम्राज्य की सीमा को छूते हुए राजस्थान, मालवा, दक्षिण पश्चिम तथा पश्चिमी प्रान्तों के अधिकारी कहे गए हैं। झाँसी का अहीरवाड़ (सं० आभीरवाट) प्रयाग स्तंभलेख का दक्षिण प्रान्त हो सकता है। पुराणों के अनुसार दकन आन्ध्रभृत्यों के बाद आभीरों के हाथ आया और छठीं शती के बाद चला भी गया। ताप्ती से देवगढ़ तक का प्रदेश इन्हीं के नाम पर विख्यात था[५७]। जार्ज इलियट के अनुसार ८ वीं सदी में जब काठी जाति ने गुजरात में प्रवेश किया तो उसने देखा कि उसका अधिकांश भाग आभीरों के हाथ है [५८]। इधर मिर्जापुर जिले का 'अहिरौरा' भी अहीरों के नाम पर विख्यात कहा जाता है। मि० एन्थोवेन के अनुसार खानदेश में आभीरों का स्थायी निवास महत्त्वपूर्ण था। वहाँ

---

[५७] डी० आर० भण्डारकर : इंडियन ऐंटिक्वेरी १९११ ईस्वी, पृष्ठ १६

आर० ई० एन्थोवेन : ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑव बाम्बे, भाग १, पृष्ठ २१—२१

[५८] सप्लिमेण्टरी ग्लॉसरी, एस० बी०, अहीर

आभीरों का विभाजन अनेक कर्मकर जातियों या जैसे अहीर सोनार, अहीर लोहार आदि। १५वीं सदी में असीरगढ़ का किला आशा अहीर द्वारा स्थापित कहा जाता है। परन्तु आशा अहीर से 'असीर' की व्युत्पत्ति कठिन जान पड़ती हैं, इसके सिवा ११वीं शताब्दी से ही वहाँ टाक और चौहान राजवंशों का प्रभुत्व था। फिर भी मि० ग्राएट इस किंवदन्ती या अनुश्रुति को कोरी कल्पना मानने के लिए तैयार नहीं हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार फरिश्ता ने भी तासी की घाटी में यायावर जातियों के शासन का उल्लेख किया है। (एन्थोवेन)

आभीरों के उपर्युक्त इतिहास से स्पष्ट है कि किस प्रकार वे पश्चिमोत्तर भारत से पश्चिमी भारत फिर मध्य भारत होते हुए पूर्वी प्रदेशों मे भी फैल गए।

§ १०. अब आभीरों के साथ ही उन जातियों का भी ऐतिहासिक अध्ययन कर लेना चाहिए जिनका सम्बन्ध अपभ्रंश अथवा आभीरों से किसी न किसी प्रकार का अवश्य था। इस दिशा में सर्व प्रथम 'गुर्जर-प्रतिहार' का नाम आता है जिसके नाम पर आज भी वह प्रान्त गुजरात ∠ गुर्जराट् ? कहलाता है। यदि विचार किया जाय तो पंजाब का 'गुजरानवाला' भी इन्हीं गुर्जरों से संबद्ध दिखाई पड़ेगा। पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने सुझाया है कि 'गुर्जर' शब्द 'गुर्जवरदार' से बना है जो संस्कृत का अरबो रूप है। 'गुर्जर' गुर्ज धारण करने वाली जाति थी जिनका काम 'प्रतिहारों' से ही मिलता जुलता था। बहुत संभव है कि ये आरम्भ में भारतीय राजाओं के यहाँ द्वारपाल का काम करते रहे हों और आगे चलकर स्वयं भी राजा बन गए[५९]। इस प्रकार पाण्डेय जी उन्हें भी आभीरों का ही एक अंग अथवा उन्हींके ढंग की विदेशी जाति मानते हैं। शकों से आभीरों का संबंध रुद्रदामन के अभिलेख से

---

[५९] हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बैंतीसवें अधिवेशन का अभिभाषण सन् १९४९ पृष्ठ ४७

पुष्ट ही हो चुका है। अस्तु, इन सभी विदेशी जातियों को एक समूह का कह सकते हैं। अतः एक भाषा अपभ्रंश का उत्थान करना यदि इनका उद्देश्य रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

यहीं एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि अपभ्रंश आभीर आदि विदेशी जातियों और राजाओं के आश्रय में पनपा तो आठवीं-नवीं शताब्दी से जैनाचार्यों ने इसमें साहित्यिक रचना क्यों की? दिगम्बर जैनों का अपभ्रंश-संबंध प्रसिद्ध है और आज यह स्थिति है कि अपभ्रंश के नाम पर जितना साहित्य मिलता है उसका निन्यानबे प्रतिशत जैन धर्माश्रयी अथवा जैन-विरचित है। क्या जैनेतर लोगों ने अपभ्रंश में रचना की ही नहीं? यदि की तो वे क्या हुई? ऐसा लगता है कि साम्प्रदायिक गठन के कारण जैन लेखकों का तो अपभ्रंश-साहित्य सुरक्षित रह गया परंतु इतर साहित्य अरक्षित होने के कारण नष्ट हो गया। परंतु इस तथ्य को नहीं भुलाया जा सकता कि अपभ्रंश मुख्यतः जैनाचार्यों द्वारा ही पल्लवित और पुष्पित हुई। जिस प्रकार पालि बौद्धों की धर्म भाषा है, अर्ध मागधी श्वेताम्बर जैनों की आर्षवाणी है उसी प्रकार अपभ्रंश भी दिगम्बर जैनों की संप्रदाय सरस्वती रही है। जिस प्रकार आभीर जाति के उत्कर्ष ने अपभ्रंश को सम्मानित पद दिलाने में योग दिया उसी प्रकार दिगंबर जैनों की प्रतिष्ठा ने अपभ्रंश को शक्ति दी।

सूक्ष्म विश्लेषण करने या गुजरात-राजस्थान-मालवा आदि प्रान्तों की तत्कालीन अनार्य अथवा विदेशी जातियों से इस सम्प्रदाय का भी सामाजिक संबंध ज्ञात होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण धर्म में स्थान न पाने पर उन जातियों ने अन्य धर्मों का आश्रय प्राप्त करने की चेष्टा की। ब्राह्मण-विरोधी जैन धर्म ने यदि उन्हें अपना लिया हो तो क्या आश्चर्य? उस समय गुजरात-सौराष्ट्र-मालवा आदि में वही अनार्य जातियाँ ऐश्वर्यशाली थीं, उन्हीं का सूर्य तप रहा था। देखते देखते वह क्षेत्र दिगम्बरजैन-मत का अखाड़ा बन गया और उन्हीं राजाओं के

आश्रम में जैनाचार्यों ने साहित्य-रचना आरंभ की। प्रभु अथवा राजा की भाषा में रचना करना स्वाभाविक था क्योंकि संस्कृत तो धर्मणा निषिद्ध थी। इसके सिवा अपने सम्प्रदाय के प्रचारार्थ यदि उन आचार्यों ने लोक भाषा का सहारा लिया हो तो इसे इनकार नहीं किया जा सकता।

अपभ्रंश साहित्य की चेतना भी इस परिवर्तन को प्रतिबिंबित करती है। यदि शेष विस्तृत साहित्य छोड़कर केवल हेमचन्द्र व्याकरण के दोहों का ही विश्लेषण किया जाय तो दो पृथक भावधारा स्पष्ट दिखाई पड़ेगी कुछ[१०] (लगभग १८ दोहे) बिल्कुल वीर-शृंगार मिश्रित ऐहिकता परक भाव के हैं और कुछ (लगभग १० दोहे) एकदम जैन धर्म शिक्षा वाले हैं। इन्हींके साथ सूक्तिपरक और उपदेशात्मक वे साठ दोहे भी रखे जा सकते हैं। एक कर में नंगी करवाल और दूसरी में उससे भी तीखी तरुणी—इस प्रकृति के दर्शन आभीर जैसी वीर दुर्द्धर्ष जाति की अभिव्यक्ति में ही संभव है। वीरोत्तेजक उन्मुक्त प्रेम का जो रूप हमारे मध्ययुगीन साहित्य के आरंभ में मिलता है उसे राजस्थान सौराष्ट्र के आसपास की लड़ाकू जाति की ही देन कह सकते हैं जिनका सामाजिक जीवन भारतीय परम्परा की दृढ़ मर्यादाबद्ध परम्परा से भिन्न उन्मुक्त शिविरों का था। अपभ्रंश के प्राप्य साहित्य में इस प्रकार की पंक्तियाँ अल्प हैं, परन्तु राजस्थान के 'ढोला मारूरा दूहा' जैसे लोकगीतों में अब भी सुरक्षित हैं। जैनाचार्य ने इस तीखी तलवार को अहिंसा से भोथरी कर दी। पीछे तो अपभ्रंश में जो आख्यानक काव्य लिखे गए उनके नायक सेठ और वणिक होने लगे। (दे० भविसयत्त कहा) और उनका पर्यवसान नायक के जैन धर्म में दीक्षित होने के साथ होने लगा। जब तक अपभ्रंश में शौर्य की दीप्ति थी, वह भाषा बाद पर रही और

---

[१०] हेम० ८।४।३४५, ३५१, ३५४, ३५७-१, ३५८-१, ३७३, ३८६, ३८७-३ आदि।

लोक कण्ठ की हार रही, परन्तु ज्योंही एक संप्रदाय के चौकठे में कसी गई क्षीण होने लगी।

§ ११. आभीरों के नाम पर कुछ भाषायें आज भी शेष हैं जैसे 'अहीरवटी' जो रोहतक गुड़गांव, दिल्ली के आसपास बोली जाती है। यह 'मेवाती' से मिलती-जुलती है जो राजस्थानी की एक बोली है। 'राजस्थानी' की 'मालवी' बोली को 'अहीरी' भी कहते हैं। गुजरात का विलक्षण रूप जो 'आधो भीली' बोली है और प्रायः 'खानदेशी' नाम से विख्यात है, 'अहीरनी' भी कही जाती है।[६१] यद्यपि इन बोलियों पर भारतीय आर्यभाषा का अत्यधिक रंग चढ़ गया है तथापि आज भी इनके अध्ययन से अपभ्रंश संबंधी नए तथ्य प्रकाश में आ सकते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि गुजरात के ही अहीरों ने अपनी स्वतंत्र बोली का अस्तित्व सुरक्षित रखा है। ये सभी बातें एक ऐसी प्राचीन अहीर बोली का पता देती हैं जो कभी इन बोलियों की जननी रही होगी।[६२] बहुत संभव है कि वह अपभ्रंश ही रही हो।

---

[६१] ग्रियर्सन, लिं० स० इं०, जिल्द ६, भाग २, पृष्ठ ५०

[६२] आर० वी० रसेल और हीरा लाल जैनः 'ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑव सेंट्रल प्रॉविन्सेज़ ऑव इंडिया, भाग २, पृष्ठ २१

प्राकृत और अपभ्रंश

§[62] अपभ्रंश के ऐतिहासिक विकास की गति देख चुकने के बाद यह आवश्यक है कि उसके व्याकरणिक गठन की सीमाएँ स्पष्ट कर ली जायँ। अपभ्रंश के साथ उस निकटवर्ती जिस भाषा का नाम लिया जाता है वह प्राकृत है। दोनों में इतना साम्य है कि कभी-कभी एकता का भ्रम हो जाता है। नमिसाधु ने भी लिखा है कि प्राकृत ही अपभ्रंश है।[63] इस कथन का तात्पर्य समझने और उसकी सत्यता परखने के लिए प्राकृत और अपभ्रंश का भेदाभेद देख लेना चाहिए।

योरपीय विद्वानों ने 'प्राकृत' शब्द का प्रयोग प्रायः तीन अर्थों में किया है[64]—

(क) भारत में प्राकृत नाम की भाषा विशेष जैसे महाराष्ट्री या संस्कृत नाटकों के प्राकृत गद्यांश।

(ख) भारतीय आर्यभाषा का मध्यकाल (कभी-कभी पालि और अभिलेखों की भाषा को प्राकृत से भिन्न माना जाता है।); और

(ग) शिष्ट साहित्यिक भाषा से भिन्न बोलचाल की 'प्राकृतिक' भाषा। इस अर्थ को ग्रहण करके ग्रियर्सन जैसे विद्वानों ने पहली, दूसरी और तीसरी तीन प्रकार की प्राकृतें मानी हैं जिनका संबंध तीन बड़े-बड़े कालों की बोलचाल की भाषा से है। इन्हींसे विभिन्न कालों की साहित्यिक भाषाओं का निर्माण हुआ है और उनके मृत हो जाने पर भी ये प्राकृतें जीवित रही हैं।

---

[63] 'प्राकृत मेवापभ्रंश :' टीका, रूद्रट-काव्या लंकार २।१२ पर।

[64] बुल्नर, इंट्रोडक्शन टु प्राकृत, तृतीय संस्क० १९३९ पृष्ठ ४

अंतिम अर्थ अनुमानाश्रित तथा अतिव्याप्ति दोष के कारण अब अग्राह्य है। दूसरा अर्थ भी केवल काल-सूचक होने के कारण ऐतिहासिक महत्त्व का ही है। प्रथम अर्थ अवश्य विचारणीय है; परंतु उसमें दो बातें कही गई हैं। क्या उस अर्थ के अनुसार संस्कृत नाटकों की प्राकृत तथा महाराष्ट्री प्राकृत एक ही हैं अथवा भिन्न! जैसा कि गुलेरी जी ने कहा है, 'जिस किसी ने प्राकृत का व्याकरण बनाया उसने प्राकृत को भाषा समझकर व्याकरण नहीं लिखा। ऐसी साधारण बातों को छोड़कर कि प्राकृत में द्विवचन और चतुर्थी विभक्ति नहीं है, सारे प्राकृत व्याकरण केवल संस्कृत शब्दों के उच्चारण में क्या-क्या परिवर्तन होते हैं इनकी परिसंख्या सूची मात्र हैं। दूसरी ओर संस्कृत नाटकों की प्राकृत को शुद्ध प्राकृत का नमूना नहीं मानना चाहिए। वह पंडिताऊ या नकली या गढ़ी हुई प्राकृत है, जो संस्कृत में मसविदा बनाकर प्राकृत व्याकरण के नियमों से 'त' की जगह 'य' और 'च' की जगह 'ख' रखकर साँचे पर जमाकर गढ़ी गई है। वह संस्कृत मुहावरे का नियमानुसार किया हुआ रूपान्तर है, प्राकृत भाषा नहीं। हाँ, भास के नाटकों की प्राकृत शुद्ध मागधी है। पुराने काल की प्राकृत रचना देश भेद के नियत हो जाने पर, या तो मागधी में हुई या महाराष्ट्री प्राकृत में; शौरसेनी पैशाची आदि केवल भाषा में देश-भेद मात्र रह गई; जैसा कि प्राकृत वैयाकरणों ने उन पर कितना ध्यान दिया है, इससे स्पष्ट है। मागधी अर्ध मागधी तो आर्षप्राकृत रहकर जैन सूत्रों में ही बंद हो गई; वह भी एक तरह की छंदस् की भाषा बन गई। प्राकृत व्याकरणों ने महाराष्ट्री का पूरी तरह विवेचन कर, उसीको आधार मानकर, शौरसेनी आदि के अंतर को उसीके अपवादों की तरह लिखा है। या यों कह लें कि देश-भेद से कई प्राकृत होने पर भी प्राकृत साहित्य की प्राकृत एक ही थी। जो स्थान पहले मागधी का था वह महाराष्ट्री को मिला। हाल की सत्तसई, प्रवरसेन का सेतुबंध, वाक्पति का 'गउडवहो' उसी में लिखा गया। किंतु वह पंडिताऊ प्राकृत हुई,

व्यवहार की नहीं।"[६५] फिर वे आगे कहते हैं कि अभिलेखों की प्राकृत की विलक्षण स्थिति है। उस प्राकृत को किसी देश-भेद में नहीं बाँधा जा सकता। इसके सिवा वह साहित्य की प्राकृत से भी भिन्न है। लिखित प्राकृत साहित्य के जमे हुए सभी नियमों का भंग, और विकल्प खुदाई की प्राकृत में मिलता है। देश-भेद से अभिलेखों की प्राकृत तद्देशीय बोलचाल की भाषागत विशेषताओं से युक्त मान सकते हैं, परंतु ग्राम प्राकृत साहित्य की महाराष्ट्री प्राकृत को महाराष्ट्र देश की भाषा नहीं मान सकते।[६६]

तात्पर्य यह कि प्राकृत को चाहे कृत्रिम भाषा मानें या उसके कुछ अंश अथवा प्रकार विशेष को बोलचाल का परंतु वह एक साहित्य-रूढ़ भाषा अवश्य थी और कोई कारण नहीं कि अपभ्रंश जैसी स्वतत्र भाषा से उसका भेदाभेद न देखा जाय। यह ध्यान देने की बात है कि जहाँ प्राकृत के अनेक भेद गिनाए गए हैं वहाँ अपभ्रंश का नाम नहीं लिया गया है। नमिसाधु ने अपभ्रंश को प्राकृत इसी अर्थ में कहा है कि वह प्राकृत से विकसित हुई है। गुलेरी जी के ही शब्दों म 'पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से अधिक मिलती है और पिछली पुरानी हिंदी से'[६७] दूसरे शब्दों में अप्रतिमित अपभ्रंश प्राकृत से भिन्न है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए राहुल जी ने लिखा है कि सुबन्त तिङन्त या शब्द रूप और धातु रूप की शैली में दोनों (पालि और प्राकृत) ही ने संस्कृत का अनुसरण नहीं छोड़ा······और अपभ्रंश ? यहाँ आकर भाषा में असाधारण परिवर्तन हो गया। उसने नए सुबन्तों, तिङन्तों की सृष्टि की······वस्तुतः संस्कृत से पालि और प्राकृत तक भाषा-विकास क्रमिक या अविच्छिन्न प्रवाह युक्त हुआ, मगर आगे वह क्रमिक

---

[६५] गुलेरी जी, पुरानी हिंदी, पृष्ठ ४-५

[६६] पुरानी हिंदी, पृष्ठ ७४

[६७] वही, पृष्ठ ११

विकास नहीं बल्कि विच्छिन्न-प्रवाह-युक्त विकास—जाति परिवर्तन हो गया।'[६८]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राकृत के आधार पर ही अपभ्रंश का विकास हुआ और हेमचन्द्र शब्दानुशासन के अपभ्रंश खण्ड के कई दोहे शुद्ध प्राकृत के हैं।[६९] हेमचन्द्र ने अपवाद स्वरूप प्राकृत की भी कुछ विशेषताओं को अपभ्रंश में गिना दिया है।[७०] फिर भी निम्नलिखित कारणों से अपभ्रंश प्राकृत से भिन्न और स्वतंत्र भाषा है।

१. शब्द रूपों में सरलता लाने के लिए कारक और लिंग-भेद को दूर करना। प्रायः अपभ्रंश में तीन ही कारक रह गए थे—(क) कर्ता-कर्म-संबोधन समूह (ख) करण-अधिकरण समूह (ग) संप्रदान-अपादान और संबंध समूह। धीरे-धीरे द्वितीय और तृतीय समूह मिश्रित होकर विकारी कारकों (oblique cases) के रूप तैयार करने लगे थे।

२. क्रियापदों में संस्कृत के आख्यातों को क्रमशः छोड़ते हुए अधिकांशतः वर्तमान और भूत कृदन्तज रूपों का प्रयोग।

३. लुप्तविभक्तिक शब्दों के कारण वाक्य विन्यास गत अस्पष्टता को दूर करने के लिए नए-नए परसर्गों का प्रयोग करना।

४. शब्दकोश का विस्तार—देशज शब्दों के ग्रहण द्वारा तथा तद्भव शब्दों के चलते रूपों को अपनाकर।

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि व्याकरणिक भाषा-गण की दृष्टि से भी अपभ्रंश प्राकृत से स्वतंत्र भाषा है।

---

[६८] हिंदी काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन, अवतरणिका पृष्ठ ६

[६९] हेम० ८।४।३६६ की दोहा-सं० २, ३, ५ और ८।४।३६०

[७०] हेम० ८।४।४१४—३, ४.

अपभ्रंश और देशी

§ १३. जिस प्रकार पंडितों ने 'अपभ्रंश शब्द' और 'अपभ्रंश भाषा' को एक समझकर भ्रम उत्पन्न किया (और शायद इसीलिए कुछ लोग अपभ्रंश का प्रयोग पुल्लिंगवत् ही करते हैं) उसी प्रकार 'देशी शब्द' और 'देशी भाषा' के विषय में घपला कर दिया। लगभग ६ वीं शताब्दी ईस्वी से अपभ्रंश का प्रयोग देशी या देश - भाषा के रूप में होने लगा था, इसलिये अपभ्रंश और देशी के सम्बन्ध की समस्या का सम्मुख आना स्वाभाविक है। जैसा कि पिशेल ने कहा है देशी, देश्य, देशीमत तथा देशी प्रसिद्ध शब्द देशीय तत्त्वों (Heterogeneous elements) के सूचक हैं[७१]। जहाँ तक इस शब्द के इतिहास का प्रश्न है सबसे पहले भरत ने इस शब्द का प्रयोग किया—उन शब्दों के लिए जो तत्सम और तद्भव से भिन्न हों[७२]। परन्तु किसी 'देशी' शब्द का उदाहरण न देकर भरत ने हमें अंधकार में छोड़ दिया। स्पष्ट नहीं है कि देशी से उनका अभिप्राय क्या था और अपभ्रंश से उसका संबंध क्या था ?

भरत के बाद संस्कृत आलंकारिकों तथा प्राकृत वैयाकरणों ने एक स्वर से उन प्राकृत शब्दों को देशी कहना शुरू किया जिनकी व्युत्पत्ति का पता नहीं चलता था। ६०० ईस्वी में रुद्रट ने स्पष्ट रूप से कहा कि जिस देश्य (शब्द) की प्रकृति-प्रत्यय मूला व्युत्पत्ति न हो तथा जिनकी

---

[७१] पिशेल, ग्रै० § ६

[७२] दे० टिप्पणी १४

रूदि न हो उसे संस्कृत में न रचना चाहिए[७३]। इसीसे मिलता-जुलता अभिप्राय हेमचन्द्र का भी ज्ञात होता है। "मैंने इस कोश में उन्हीं शब्दों को एकत्र किया है जो 'लक्षण' से सिद्ध नहीं होते, न संस्कृताभिधान में प्रसिद्ध हैं और न गौणी लक्षणा से सिद्ध होती हैं। देश विशेष में बोली जाने वाली भाषायें अनन्त हैं, इसलिए यहाँ देशी शब्द का तात्पर्य उस देश विशेष की भाषा से है जो अनादि काल से चली आई हुई प्राकृत से उत्पन्न हुई है।"[७४] पश्चात् 'लक्षण' शब्द की टीका करते हुए कहा है कि देशी शब्द वही हैं जो सिद्ध हेमचन्द्र नाम में सिद्ध नहीं हुए हैं और न प्रकृति प्रत्यय विभाग से निष्पन्न ही होते हैं।'[७५] हेमचन्द्र ने इस प्रकार के कुछ शब्दों का उदाहरण भी दिया है और भरसक इस नियम का निर्वाह 'देशी नाम माला' में किया भी है। इस कोश की टीका में यत्र-तत्र यह भी लिखा है कि यद्यपि अमुक शब्द को अन्य कोशकारों ने 'देशी' कहा है तथापि वह हमारे व्याकरण के अमुक सूत्र से सिद्ध हो जाता है, इसलिए हमने उसे स्थान नहीं दिया है।

---

[७३] प्रकृति-प्रत्यय मूला व्युत्पत्तिर्नास्ति यस्य देशस्य।
तन्मउहादि कथञ्चन रूदिरिति न संस्कृते रचयेत् ॥ काव्यालङ्कार ६।२७

[७४] जो लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
ण य गउण-लक्खणा-सत्ति-संभवा ते इह णिबद्धा ॥
देस विसेस-पसिद्धीइ भण्णमाणा अणन्तया हुंति।
तम्हॉ अणाइ-पाइय-पयट्ट-भासा-विसेसओ देसी ॥—देशी नाम माला

[७५] लक्षणे शब्द शास्त्रे सिद्ध हेमचन्द्र नाम्नि ये न सिद्धाः प्रकृति प्रत्ययादिविभागेन न निष्पन्नास्तेऽत्र निबद्धाः। ग्राहादयः कथ्यादीनामादेशत्वेन साधिताः तेऽन्यैर्देशीयेषु परिगृहीता अप्यस्माभिर्न निबद्धा।—टीका, वही।

ये उल्लेख प्रायः हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के चतुर्थ पाद के ही हैं जिसमें अपभ्रंश भाषा का व्याकरण वर्णित है। हेमचन्द्र के कोश और व्याकरण दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करने से पता चलता है कि कोश व्याकरण के सहकारी तथा पूरक रूप में लिखा गया है। ऐसा लगता है कि हेमचन्द्र ने 'देशी' का प्रयोग प्रायः उसी अर्थ में किया है जिस अर्थ में महाभाष्यकार ने 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग किया है। वे संस्कृत से विकृत रूपों की दृष्टि से एक भाषा को अपभ्रंश कहते हैं और उसी भाषा को उसमें प्रचलित संस्कृत से अव्युत्पन्न शब्दों को, भरत मुनि के अनुसार म्लेच्छ शब्दों को, देशी कहते हैं।[७६]

इन्हीं शब्दों को ध्यान में रखकर पिशेल ने कहा है कि वे (प्राकृत वैयाकरण) ऐसे प्रत्येक शब्द को 'देशी' समझते हैं जिनका रूप और अर्थ संस्कृत से व्युत्पन्न न किया जा सके। संस्कृत में अपने प्रवेश और व्युत्पत्ति शास्त्र में अपने कौशल के अनुपात में वे उस शब्द विशेष को 'देश्य' घोषित कर देते हैं जिन्हें अन्य लोग या तो तद्भव कहते हैं या तत्सम। इसी प्रकार वहाँ ऐसे भी देशी शब्द हैं जिन्हें यद्यपि स्पष्टतः संस्कृत धातु से व्युत्पन्न दिखाया जा सकता है तथापि संस्कृत में उनका ठीक-ठीक रूप कोई नहीं है।"[७७] इनमें से अनेक शब्दों को डा० पी० एल० वैद्य ने संस्कृत से व्युत्पन्न बतलाया है[७८] और कुछ को डा० उपाध्ये ने कन्नड़ से।[७९]

इन बातों के आधार पर हम कह सकते हैं कि देशी शब्द प्राचीन काल में ही नहीं, बल्कि आज भी पंडितों के संस्कृत ज्ञान और व्युत्पत्ति-

---

[७६] पाहुड़ दोहा: सं० हीरालाल जैन, भूमिका पृष्ठ ४१-४२

[७७] पिशेल, ग्रै० § ६.

[७८] ऐनल्स ऑव दि भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट—८, पृष्ठ ६३-७१

[७९] वही, १२ पृष्ठ २७४-८४

कौशल की ही सीमा का द्योतक है। जब सभी भाषायें मूलतः समाज की देन हैं तो कौन शब्द देशी नहीं है? जो हो, अपभ्रंश में अनेक 'देशी शब्द' मिलते हैं इस तथ्य से शायद ही कोई असहमत हो। 'देशी शब्द' और देशी भाषा में प्रायोगिक अंतर होते हुए भी तात्त्विक अंतर नहीं है। आखिर, 'देशी शब्द' किसी 'देशी भाषा' के ही तो होंगे। अस्तु अपभ्रंश में देशी शब्दों का पाया जाना इस बात प्रमाण है कि वह देशी भाषा थी। अब 'देशी' शब्द के प्रयोग का भी इतिहास देख लेना चाहिए।

§ १४. लगभग ५०० ईस्वी के आसपास पादलिप्त ने 'देसी वयण' शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु महाराष्ट्री के लिए, अपभ्रंश के लिए नहीं।[८०] सातवीं से दसवीं शती के बीच स्वयंभू कवि ने 'पउम चरिउ' के प्रारम्भ में अपनी 'कथा' की भाषा को 'देशी' कहा।[८१] ६६५ ईस्वी में कवि पुष्पदंत ने महापुराण में अपनी पुस्तक की भाषा के लिए 'ण वियाणमि देसी' कहा है (१।८।१०)। पश्चात् १००० ईस्वी में पद्मदेव ने 'णासणाह चरिउ' की भाषा को 'देसीसद्दत्थ गाढ' वर्णित

---

[८०] पालित्तएण रइया वित्थरओ तह य देसी वयणेहिं नामेण तरंगावई कहा विचित्ता विउला य' (याकोबी द्वारा 'सनत्कुमार चरित' की भूमिका पृष्ठ १७ में उद्धृत।)

[८१] राम कहा-णइ एह कमागय
दीह समास-पवाहालंकिय
सक्कय-पायय-पुलिणालंकिय
देसीभासा-उभय तडुज्जल
कवि दुक्कर घण सद्दसिलायल। (हीरालाल जैन द्वारा पाहुड़ दोहा की भूमिका पृष्ठ ४३-४५ में उद्धृत)।

किया।[८२] इसके कुछ ही वर्षों बाद लक्खमएव (लक्ष्मणदेव) ने 'णेमिणाह चरिउ' की पूर्व पीठिका में 'देस भास' का आभास दिया है।[८३] देशी भाषा सम्बन्धी इन उद्धरणों में से एक पादलिप्त को छोड़कर शेष कवि अपभ्रंश के हैं। परन्तु कोई आश्चर्य की बात नहीं जो प्राकृत कवियों ने भी अपनी रचना की भाषा को 'देशी' कहा हो। 'देशी' भाषा का प्रयोग तो आ० भा० आ० के प्राचीन कवियों ने भी अपनी भाषा के लिए किया है। हिंदी के प्रसिद्ध कवि गोस्वामी तुलसीदास ने अपने मानस की भाषा को 'भाखा' तथा 'ग्राम गिरा' कहा है 'अवधी' या 'हिंदी' नहीं। मराठी के प्रसिद्ध संत ज्ञानदेव ने 'ज्ञानेश्वरी' की भाषा के लिए 'आम्हाँ 'प्राकृता देशी कारें अन्वे गीता'[८४] कहा है।

इन बातों से स्पष्ट है कि 'देशी भाषा' का 'भाषा' शब्द स्थावर नहीं, बल्कि गत्वर रहा है 'भाषा' का अर्थ 'जो बोली जाय'। इसलिए जिस युग में जो भाषा 'बोलचाल' की रही है उस युग में उसीको 'भाषा' कहा गया है। जब बोलचाल की भाषा संस्कृत थी तो उसके कवि उसे केवल 'भाषा' कहते थे। पाणिनि ने संस्कृत के लिए 'भाषा' शब्द का ही व्यवहार किया है पर पतंजलि तक आते-आते भाषा का

---

[८२] वायरणु देसि सद्दत्थगाढ
छंदालंकार विसाल पोढ।
जइ एवमाइ-बहुलक्खणेहिं
इह विरइय कव्व वियक्खणेहिं
पयडिव्वउ किं अप्पउ ण तेहिं॥

[८३] ण समाणमि छंदु ण बंधभेउ

×　　×

णउ सक्कय पायउ देस भास
णउ सद् वण्णु जाणमि समास॥

[८४] ज्ञानेश्वरी, अ० १८

अर्थ हो गया शिष्ट भाषा। संस्कृत का भाषण क्षेत्र सीमित होने पर जब प्राकृतें बोलचाल की भाषा बनीं तो कवियों ने उसी को 'भाषा' अथवा 'देशी भाषा' समझा। इसी प्रकार जब प्राकृतों का स्थान अपभ्रंश ने लिया तो 'भाषा' अथवा 'देशी भाषा' संज्ञा उसके लिए स्वाभाविक थी। आगे चलकर पंडितों ने यही पद हिंदी आदि आ० भा० आ० को दिया। सातवीं शताब्दी के आरम्भ में बाण ने हर्ष चरित (बम्बई संस्करण पृष्ठ ४७, ११, ६, ७) में अपने साथियों मे 'ईशान' नामक 'भाषा कवि' का उल्लेख किया है जो प्राकृत कवि 'वायु विकार' से भिन्न कहा गया है। सभवतः 'भाषा' से बाण का तात्पर्य किसी स्थानीय अपभ्रंश से था।[८५] अपभ्रंश देशभाषा अवश्य थी परन्तु उसके 'देशभाषा' कहलाने की अवधि है; इस सामान्य तथ्य को भूलकर अपभ्रंश के समर्थक आधुनिक पंडितों ने विद्यापति की इन पंक्तियों पर व्यर्थ का विवाद खड़ा कर दिया है।

सक्कय वाणी बहुअ न भावइ
पाउँअ रस को मम्म न पावइ
देसिल वअना सब जन मिट्ठा।
तैं तैसन जम्पओ अवहट्टा॥[८६]

डा० हीरालाल जैन जैसे पंडित का कहना है कि अवहट्ट अर्थात अपभ्रष्ट (अपभ्रंश) के लिए 'देसिल वअना' शब्द का प्रयोग किया गया है। दूसरी ओर आचार्य शुक्ल तथा केशव प्रसाद मिश्र जैसे लोगों का विचार है कि 'देसिल वअना' शब्द का प्रयोग अपभ्रंश से भिन्न आधुनिक भारतीय आर्य भाषा (इस प्रसग में मैथिली) के लिए किया गया है। मतभेद का आधार है 'तैसन' शब्द। डा० ज्यूल्स

---

[८५] ग्रियर्सन : ऑन दि माडर्न इंडो-आर्यन वर्नाक्यूलर्स,' सितंबर १९३१, §९९

[८६] कीर्तिलता, सं० बाबूराम सक्सेना, ना० प्र० स० पृष्ठ ६

श्लॉक[८७] तथा आचार्य शुक्ल[८८] 'तैसन' का अर्थ 'साहस' करते हैं, जब कि डा० जैन तदैव (वही) करते हैं। डा० जैन को इतना खींचतान की आवश्यकता न पड़ती, यदि वे ऐतिहासिक तथ्य को ध्यान में रखते। क्या विद्यापति के समय अपभ्रंश देशी भाषा थी ? यदि उनके समय अपभ्रंश ही देशी भाषा थी तो 'पदावली' की भाषा क्या थी ? मैथिल म पदावली की रचना करना सिद्ध करता है कि उस समय अपभ्रंश केवल दरबार की भाषा थी और बोलचाल मे आ० भा० आ० का उदय हो गया था। इस तथ्य की पुष्टि प्राकृत वैयाकरणों तथा संस्कृत आलंकारिकों के कथन से भी हो जाती है।

नमि साधु, वाग्भट आदि ने ११वीं शताब्दी के आसपास ही अपभ्रंश को देश भाषा के रूप में स्वीकार किया है।[८९] परन्तु हेमचंद्र तक आते-आते अपभ्रंश केवल पंडितवर्ग की भाषा रह गई। अपभ्रंश 'देश भाषा' अवश्य थी लेकिन हमेशा नहीं। दूसरी ओर हम डा० कीथ की तरह अपभ्रंश को एक दम गढ़ी हुई नकली भाषा भी नहीं कह सकते। जैसा कि गुलेरी जी ने साहित्यिक प्राकृत (महाराष्ट्री) की कृत्रिमता का उल्लेख करते हुए कहा है "वस्तुतः शब्दों के बोधगम्य रूप अपभ्रंश......में अधिक रह गए हैं। ऊँची प्राकृतों मे 'र' उड़कर 'मूर्ख' का भी 'मुक्ख' और मोक्ष का भी 'उष्ट्र' का 'उट्ठ' हो जाता है, किन्तु अपभ्रंश ...... में मुरुख, और उष्ट्र या उष्ट रूप भी बच गया। यह विवेक और सतर्कता बोलचाल की भाषा में ही संभव है"।[९०] अपभ्रंश तो अपभ्रंश, प्राकृतों के भी विषय में हेमचन्द्र ने लिखा है कि सभी

---

[८७] डा० जैन के नाम पत्र ता० १०।११।१२ से; दे० पाहुड़ दोहा की भूमिका पृष्ठ ३३

[८८] हिंदी साहित्य का इतिहास, पाचवाँ संस्क० पृष्ठ ५

[८९] दे० टिप्पणी २७, २८

[९०] पुरानी हिंदी पृष्ठ ७५

संस्कृत शब्दों को नियमानुसार मनमाना तद्भव नहीं बनाया जा सकता।[९१] इन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि अपभ्रंश के कुछ शब्दों को अपने लिये अबूझ देखकर हम उन्हें कृत्रिम अथवा गढ़ा हुआ न कहें। निश्चय ही वे लोक-कृत तथा व्यवहृत पद हैं।

---

[९१] हेम० ८।२।१७४

परिनिष्ठित अपभ्रंश और उसकी विभाषायें

§ १५. प्रायः संस्कृत अलङ्कारिकों ने अपभ्रंश को देश-भेद से अनेक तथा अनन्त बतलाया है[१२]। एक दृष्टि से यह उचित ही है क्योंकि हर दस कोस पर भाषा का बदलना सामान्य जनश्रुति है। परन्तु इस भेद की भी एक सीमा है। प्राचीन आचार्यों ने इस सीमा का भी निर्देश किया है। अपभ्रंश के भेदों अथवा विभाषाओं का उल्लेख ११वीं शताब्दी से ही आरम्भ हो जाता है। नमिसाधु ने उपनागर, आभीर और ग्राम्य तीन भेद बताया। यही तीन संख्या नाम बदलकर परवर्ती वैयाकरणों के यहाँ नागर, उपनागर और व्राचड के रूप में सामने आई। परन्तु इस भेदोपभेद और वर्गीकरण-कुशल देश में आचार्यों को इतने से ही संतोष नहीं हुआ। १७वीं शताब्दी में मार्कण्डेय ने अपभ्रंश के २७ भेद गिनाए[१३]। इस प्रकार हमारे सामने एक

---

[११] अपभ्रष्टं तृतीयं च तदनन्तं नराधिप।
देश भाषा विशेषेण तस्यान्तो नैव विद्यते॥ विष्णुधर्मोत्तर ३।३

[१२] व्राचडो लाटवैदर्भावुपनागरनागरौ।
बार्बरावन्त्य पाञ्चाल टाक्क मालव कैकयाः॥
गौडोढ्रवैवपश्चात्य पाण्ड्य कौन्तल सैंहलाः॥
कालिङ्ग्य प्राच्य कार्णाटिकाञ्च्य द्राविडगौर्जराः॥
आभीरो मध्यदेशीयः सूक्ष्मभेदव्यवस्थिताः
सप्तविंशत्यपभ्रंशाः वैतालादि प्रभेदतः॥ प्राकृत सर्वस्व २, टीका।
× × ×
नागरो व्राचड श्चोपनागरश्चेति ते त्रयः
अपभ्रंशाः परे सूक्ष्मभेद त्वान्न पृथङ्मताः वही, १।७।३

ओर वैयाकरणों का इतना विस्तृत वर्गीकरण है और दूसरी ओर अब तक अपभ्रंश का जो प्राप्त साहित्य है वह मुश्किल से दो प्रकार की भाषाओं का प्रतीत होता है। अगर ठीकठीक कहें तो संपूर्ण प्राप्त अपभ्रंश साहित्य एक ही परिनिष्ठित भाषा का है। इन दो विरोधी तथ्यों में संगति बैठाने के लिए तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

मार्कण्डेय आदि प्राकृत वैयाकरणों ने अनेक अपभ्रंशों का नाम तो गिना दिया है, परन्तु उनके भेदक लक्षणों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। इसलिये उनके आधार पर अपभ्रंश की विभाषाओं का विचार करना कठिन है। अपभ्रंश का सबसे प्रामाणिक व्याकरण हेमचन्द्र ने लिखा है और पंडितों का कहना है कि वह पश्चिमी, नागर अथवा शौरसेनी अपभ्रंश का व्याकरण है। परन्तु पिशेल ने हेमचन्द्र व्याकरण का विश्लेषण करके बताया है कि वह एक नहीं अनेक बोलियों का व्याकरण है। हेमचन्द्र के कथन 'प्रायो ग्रहणाद्यस्यापभ्रंशे विशेषो वक्ष्यते तस्यापि क्वचित्प्राकृतवत् शौरसेनीवच्च कार्यं भवति' ८।४।३२९ को ८।४।३९६ और ८।४।४४६ के प्रकाश में समझने पर पता चलता है कि उन्होने अपनी अपभ्रंश के लिए महाराष्ट्री और शौरसेनी दोनों प्राकृतों को आधार चुना था। आधारभेद से किस प्रकार आधेय भेद हो गया, इसे 'गुणे' ने बहुत विस्तार से दिखलाया है[९४]। इन्हीं बातों को और आगे बढ़ाते हुए उपाध्ये ने यह कहा कि 'परमात्म प्रकाश' की भाषा मे ऐसी अनेक विशेषतायें हैं जो हेमचन्द्र व्याकरण में नहीं लक्षित हैं[९५]। इन बातों से वे यह संकेत करना चाहते हैं कि अपभ्रंश का प्राप्त साहित्य भी अनेक प्रकार की अपभ्रंश बोलियों और देशभेदों की सूचना देता है।

बात ठीक है यदि ठीक ढंग से समझी और कही जाय। व्यावहारिक

---

[९४] गुणे, भविसयत्त कहा : भूमिका पृष्ठ ६४

[९५] परमात्मप्रकाश : हिंदी भूमिका, पृष्ठ १०७, अंग्रेजी भूमिका पृष्ठ ४७

प्रयोग की भाषा तथा व्याकरण की भाषा में अन्तर होना स्वाभाविक है। जब पाणिनि के इतने विशाल व्याकरण की सीमाओं को तोड़कर कालिदास ऐसे कवियों ने अनेक अपाणिनीय प्रयोग किये तब हेमचन्द्र की क्या बात! इसके सिवा वैयाकरण एक भाषा की विशेषताओं का विचार करते हुए अधिक से अधिक उसके विभाषागत विकल्पों का ही उल्लेख कर सकता है क्योंकि वह 'शब्दानुशासक' है 'शब्द शासक' नहीं। व्याकरण के नियम बनाने के लिए तो भाषा का एक परिनिष्ठित और स्थिर रूप स्वीकार हो करना पड़ेगा। इसलिए थोड़े से वैकल्पिक प्रयोगों के बावजूद 'सिद्धहेम' का अपभ्रंश व्याकरण एक परिनिष्ठित भाषा का व्याकरण है। इसके साथ यह भी ठीक हो सकता है कि वह उस भाषा का पूर्ण व्याकरण नहीं है—केवल रूपरेखा मात्र है।

अब प्रश्न यह है कि अपभ्रंश की जिन बोलियों का उल्लेख किया गया है वे परिनिष्ठित और साहित्यिक अपभ्रंश के पूर्व की अवस्था को बतलाती है या पर की। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक साहित्यिक भाषा बोलियों से ही बनती है। इसलिए हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि नमिसाधु ने जिन भेदों का नाम गिनाया है वे साहित्यिक अपभ्रंश का स्वरूप स्थिर होने से पूर्व की दशा का बोध कराते हैं। ग्रियर्सन का भी ऐसा ही विचार है।[९६] "जब स्थानीय अपभ्रंशों की ये रचनायें अधिक से अधिक लोकप्रिय हुईं और शैली की एक परंपरा विकसित हो गई तो एक विशेष अपभ्रंश, प्राकृतों की तरह, साहित्यिक बोली के रूप में स्थिर हो गई जिसमें पश्चिमी भारत की काव्यकृतियाँ रची गईं। सामान्य स्वीकृति पा जाने पर यह भारत के अधिकांश भागों में साहित्यरचना के लिए मान्य हो गई। इस रूप में प्रयुक्त होने पर भी वह स्थान-भेद से भिन्न-भिन्न रही, परंतु ये भिन्न रूप—वे मुश्किल से बोलियाँ कही जा सकती हैं—किसी प्रकार अनेक स्वतंत्र स्थानीय अपभ्रंशों के न थे।

[९६] लिं० स० इं०, जिल्द १, भाग १, पृष्ठ १२४

ये बोली जाने वाली अन्य भाषाओं की तरह भी न थी जिनमें साहित्य की रचना हो। उनमें से प्रत्येक स्थानीय भेद (Variation) थी, परंतु किसी स्थानीय बोली की नहीं, बल्कि एक साहित्यिक भाषा की जिसे हम साहित्यिक अपभ्रंश कह सकते हैं।

ग्रियर्सन ने वहीं 'पादटिप्पणी' में इस तथ्य को और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट अपभ्रंश-भेद उस देश विशेष की वास्तविक बोलियाँ न थीं जिनके नाम पर उनका नामकरण हुआ है। क्योंकि उनके अनुसार ये उन प्रदेशों में भी बताई गई हैं जिनकी स्थानीय बोली द्राविड़ थी। इसलिए ग्रियर्सन ने अपभ्रंश को किसी देश विशेष की भाषा न मानकर प्राकृतों और आ० भा० आ० के बीच की कड़ी माना है।

उपर्युक्त मतामत का अध्ययन करने पर हम दो निष्कर्षों पर पहुँचते हैं .—

१. अपभ्रंश का एक साहित्यिक और परिनिष्ठित रूप था जो बहुत संभव है कि नागर अथवा पश्चिमी अपभ्रंश का था। चूँकि अपभ्रंश गुजरात, सौराष्ट्र, मालवा आदि पश्चिमी भारत के ही देशों में विकसित हुई, इसलिए उन प्रान्तों की अपभ्रंश को प्रतिमित अपभ्रंश मान लेने में कोई आपत्ति नहीं। कुछ लोग उसे शौरसेनी अपभ्रंश भी कहना चाहते हैं, परंतु जैसा कि ग्रियर्सन ने स्पष्ट कर दिया है शौरसेनी अपभ्रंश को अकेली शौरसेनी प्राकृत का उत्तराधिकारी नहीं समझना चाहिए।[१७] दोनों एक ही देश की भाषा नहीं प्रतीत होती।

२. वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट अपभ्रंश भेदों के मूल में कोई ठोस भाषावैज्ञानिक आधार नहीं है। वह केवल संख्या परिगणन प्रतीत होता है।

---

[१७] लिं० स० इं० : पादटिप्पणी १२५ वे पृष्ठ की। जिल्द १, भाग १।

§ १६. यदि हम वैयाकरणों के अपभ्रंश-भेदों को नहीं मानते तो फिर किन्हें माने ? तगारे ने अपभ्रंश का देश विभाजन नए सिरे से किया है। उन्होंने कृतियों के रचनास्थान के आधार पर दक्षिणी, पूर्वी और पश्चिमी तीन भेद किया है।[९८] दक्षिणी अपभ्रंश की कल्पना का आधार मान्यखेटवासी पुष्पदंत का महापुराण और जसहर चरिउ तथा असये निवासी मुनि कनकामर का 'करकण्डु चरित' है। परंतु जैसा कि उनकी पूरी पुस्तक के देशगत भेदक विवेचन से स्पष्ट है दक्षिणी और पश्चिमी अपभ्रंश में केवल शैलीगत भेद है अन्यथा दोनों में अत्यधिक साम्य है। उनके आँकड़ों से दक्षिणी अपभ्रंश की विशेषता पर इतना ही प्रकाश पड़ता है कि उसमें प्राकृत-प्रभाव अधिक है। इसके आधार पर एक अलग अपभ्रंश की कल्पना करना, हमारी समझ से, संगत नहीं लगता। कवियों के वासस्थान के आधार पर उनकी भाषा निश्चित करने में अनेक बातों का विचार करना पड़ता है। काव्य भाषा में स्थानीय छौंक के साथ वैयक्तिक छौंक भी तो आ जाती है। साहित्यिक भाषा चाहे जिस प्रान्त की हो, परंतु साहित्य-रूढ़ हो जाने पर दूर-दूर के लोग भी उसमें रचना करते ही हैं। इस देश-भेद से प्रायः शैली भेद ही प्रकट होता है। अस्तु, दक्षिणी अपभ्रंश की सत्ता मानना ठीक नहीं जँचता।

तगारे ने पूर्वी अपभ्रश का आधार कण्ह और सरह का दोह कोश माना है। यद्यपि यह सामग्री बहुत कम है और इसमें पश्चिमी अपभ्रंश का पर्याप्त निर्वाह है, फिर भी उसमें मागधी की कुछ ऐसी विशेषताएँ सुरक्षित रह गई है कि उसे साहित्यिक अपभ्रंश की एक भाषा के रूप में तो स्वीकृत कर ही सकते हैं। म० भा० आ० तथा आ० भा० आ०— विशेषतः हिंदी के मध्ययुग के स्वरूप का अध्ययन करने से पता चलता है

---

[९८] हि० ग्रै० अप०, पृष्ठ १५-१६

कि राष्ट्रभाषा में पछाँह और पूरब का स्पष्ट तथा मुख्य भेद है। यदि तगारे ने मराठी का आदि स्रोत दिखाने के लिये दक्खिनी अपभ्रंश का अनुमानित ढाँचा तैयार करने की चेष्टा की है तो यह प्रयत्न कोरा काल्पनिक है। हम अधिक से अधिक पूर्वी और पश्चिमी दो अपभ्रंशों की सत्ता मानते हैं जिनमें पश्चिमी अपभ्रंश ही प्रतिमान स्वरूप थी।

संक्रान्ति-कालीन भाषा

§१७. साहित्य-रूढ़ अपभ्रंश के स्थिरीकरण के पश्चात् पुनः लोक-बोलियों के उदय के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। यह क्रिया लगभग ईसा की बारहवीं सदी में आरंभ हो गई। उस समय से लेकर जबतक विभिन्न प्रान्तों की आधुनिक भाषाओं का स्वतंत्र साहित्य नहीं मिलने लगता तबतक भा० आ० का संक्रान्ति-काल कहा जाता है। यह समय लगभग दो सौ वर्षों का था। संक्रान्ति-काल इसे इसलिए कहते हैं कि उसमें भाषा का कोई निश्चित स्वरूप न था, एक ओर साहित्य की भाषा अपभ्रंश थी और दूसरी ओर लोक-बोलियों का भी प्रादुर्भाव हो चला था। फलतः उन बोलियों के मिश्रण से विलक्षण प्रकार की अपभ्रंशाभास जन-भाषाओं का साहित्य तैयार हो चला। उस अपभ्रंशाभास भाषा का स्वरूप क्या था, यह जानने के लिए बहुत थोड़ी सामग्री है। जो सामग्री है भी उसकी प्रतियाँ कुछ शताब्दी बाद की हैं। इसलिये उनकी भाषा को उस युग का प्रतिनिधि नहीं मान सकते। फिर भी जो साहित्य है उसीके आधार पर संतोष करना पड़ेगा। देश-भेद से प्रस्तुत सामग्री को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

(क) पश्चिमी—प्राकृत पैङ्गलम, ढोला मारूरा दूहा, पृथ्वीराज रासो और पुरातन प्रबंध संग्रह के कुछ फुटकल पद्य।

(ख) पूर्वी—वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता, चर्यापद आदि।

(ग) दक्षिणी—ज्ञानेश्वरी।

§१८. प्राकृत पैङ्गलम् : [११] लगभग १४वीं शताब्दी के अंत में

---

[११] बिब्लि० इंडिका संस्करण : रा० ए० सो० बं०, सं० ६७६, सन् १६०० ईस्वी संपादक चन्द्रमोहन घोष।

राजपूताना में ही कहीं इस पुस्तक का संकलन हुआ। जिन पाण्डुलिपियों के आधार पर इसका संपादन किया गया है, उनका लिपिकाल संपादक के अनुसार १६वीं शताब्दी के पहले का ही है। चूँकि यह विभिन्न कालों के छन्दों का संग्रह-ग्रंथ है, इसलिये हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण की तरह इसमें भी कई कालों के भाषा-सूचक छन्द हैं। संपादक के साथ ही डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का भी अनुमान है कि इसमें ६०० — १४०० ईस्वी तक के लोक प्रचलित पद्य संकलित हैं। अधिकांश कविताएँ कृत्रिम साहित्यिक अपभ्रंश की हैं जिनका आधार शौरसेनी अपभ्रंश है। उसमें दो छन्द तो 'कर्पूर मंजरी' के भी हैं। इतना होते हुए भी कुछ छन्द ऐसे अवश्य हैं जिनकी भाषा को बिना किसी हिचक के पुरानी हिन्दी अथवा हिन्दी का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। डा० चाटुर्ज्या के अनुसार वे छन्द पृष्ठ २४६, ३७५, ४१२, ४३५, ४६३, ४७०, ५१६ और ५४१ के हैं। परन्तु, यदि इन छन्दों की भाषा का विश्लेषण किया जाय तो ये उदाहरण हिंदी की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। केवल पृष्ठ २४६ वाले छन्द को छोड़कर (चलिअ वीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपिय......) जो हिंदी की पुस्तकों में प्रायः उद्धृत है, शेष सभी छंद हिन्दी से दूर हैं। वस्तुतः मात्रिक छंदों वाले खंड से यदि हिंदी से मिलते-जुलते छंद खोजे जायँ तो बहुत मिलेंगे। उनमें से कई छंद तो शार्ङ्गधर नामक कवि के हैं जिनका सम्बन्ध इतिहास प्रसिद्ध हम्मीरदेव से बताया जाता है। कुछ छद विद्याधर नामक किसी कन्नौजवासी कवि के मिलते हैं। हमारी समझ से पृष्ठ ६। छुद ६, १५७।६२, १८४।१०८, २२७।१३२ २४६।१४७, ३०६।१६३ की भाषा पश्चिमी हिंदी के प्राचीन रूप निश्चित करने में विशेष सहायक होगी। आचार्य स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल ने बुद्ध चरित[100] की भूमिका

[100] बुद्ध चरित, प्रथम संस्क० सं० १९७९, ना० प्र० स० काशी, भूमिका पृष्ठ ७—१०

में 'प्राकृत पैंगलम्' के अनेक छंदों को उद्धृत करके इनमें पश्चिमी और पूर्वी अनेक बोलियों के प्राचीन सूत्र दिखलाये हैं।

खड़ी बोली और पंजाबी :

१. सज्जा हूआ। २. ढोल्ला मारिअ ढिल्लि महँ

३. हमीर वीर जब रण चलिआ ५. चंडेसो रक्खे सो।
तुरअ तुरअहि जुज्झिआ गोरी रक्खो।
अप्प पर णाहि बुज्झिआ।

४. भवाणी हसंती। दुरितं हरंतो।

ब्रज और मारवाड़ी :

१. कासीसर राणा किअउ पआणा २ दूरित्ता हम्मारो।

अवधी और बैसवाड़ी :

१. मण मज्झ बम्मह ताव। णाहु कंत अज्जु वि आव।

२. आवे कंता सहि कहिआ। ४. तत्थ देक्ख हरिवंभ भए।

३. लग णाहि जल।

भोजपुरी, मैथिली और बँगला :

१. यहिअ मण इछल कहूँ। २ विसक पूरल सुंदहरा।

३. महि चलइ मुअल जिवि उडुए। ४ परिफुल्लिअ केसु णआवण आछे।

५. सो हर तोहर संकट संहर। ६ तासु जणणि किं ण थक्कइ वंज्झइ।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'प्राकृत पैंगलम्' काल में विभिन्न आधुनिक भाषाओं की विशेषताओं से युक्त एक सामान्य भाषा प्रचलित थी जिसमें एक ओर तो कुछ कवि-समय-सिद्ध शब्द पाए जाते थे और दूसरी ओर बोलचाल के स्थानीय रूप भी सहज गृहीत थे।

ढोला-मारूरा दूहा : इसकी भाषा में भी कई काल के स्वर मिलते हैं, क्योंकि यह लोकगीतों की परंपरा में सुरक्षित था। प्रतिलिपि-काल बहुत परवर्ती होने पर भी जैसा कि इसके संपादकों

का दावा है ढोला० का रचना काल सन् ईस्वी के १३६३ (सं० १४५० वि०) के बाद का नहीं हो सकता। उसकी भाषा में कुछ ऐसे सूत्र हैं जिन्हें आधुनिक राजस्थानी से पृथक करके प्राचीन कहा जा सकता है।"ढोला की भाषा माध्यमिक राजस्थानी है, परन्तु यहाँ पर यह न भूलना चाहिए कि उस समय राजस्थान एवं ब्रजभूमि की भाषा एक थी और इस भाषा को ब्रज भाषा भी वैसे ही कहा जा सकता है जैसे कि राजस्थानी। अवश्य ही जो साहित्यिक ब्रज-भाषा बाद में विकसित हुई वह संस्कृत के प्रभाव के कारण इस राजस्थानी-ब्रज से काफी दूर थी। इसके कारण कबीर की भाषा आज जितनी राजस्थानी जान पड़ती है, उतनी ब्रजभाषा नहीं जान पड़ती। × × × ढोला० काव्य की भाषा कबीर से बहुत मिलती है। अनेक शब्द, वाक्यांश और वाक्य ज्यों के त्यों मिलते हैं।" ढोला० के संपादकों ने तो यहाँ तक कहा है कि जायसी की रचनाओं में ऐसे अनेक शब्द और वाक्यांश पाए जाते हैं जो ढोला० की राजस्थानी में भी मिलते हैं एवं आज भी राजस्थान में समझे जाते हैं लेकिन जो बाद की ब्रजभाषा के लिए जो अवधी एवं राजस्थानी की मध्यवर्ती भाषा है, सर्वथा नवीन हैं।'[१०१] इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ढोला० की भाषा यदि एक ओर प्राचीनता में अपभ्रंश के छोर से मिली हुई है तो दूसरी ओर कबीर आदि संत कवियों की प्राचीन हिंदी से भी जुड़ी हुई है। ढोला० की भाषा उस पछाँहीं भाषा की प्रतिनिधि है जिसने अपभ्रंश के बाद उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा बनी रहने की परंपरा जारी रखी।

पृथ्वीराज रासो—रासो ऐतिहासिकता के संबंध में जितना बदनाम है, उससे कहीं अधिक भाषा के संबंध में। आरंभ के कुछ

---

[१०१] ढोला मारूरा दूहा : काशी ना० प्र० स० प्रथमावृत्ति सं० १९९१ भूमिका, पृष्ठ १६७-८

विवाद ने नई पीढ़ी के लिए रासो के अध्ययन का रास्ता छेंक दिया है। इधर कुछ वर्षों से राजस्थान के उत्साही विद्वानों ने रासो वृहद, मध्यम और लघु नामक अनेक रूपान्तरों की घोषणा की है, तथापि अभीतक उनमें से कोई प्रति प्रकाश में नहीं आई। अतः हमारे अध्ययन का आधार ना० प्र० सभा, काशी का संस्करण ही हो सकता है। ऐसा लगता है कि भाषा के क्रमिक विकास का अध्ययन करने के लिए रासो की भाषा अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। जो विद्वान प्रत्येक काव्यकृति में व्याकरण का व्यवस्थित साँचा लेकर प्रवेश करते हैं उनके लिए रासो क्या कोई पोथी जाली और गड़बड़ हो सकती है। परन्तु जो भाषा की लोक प्रचलित मौखिक परंपरा की गतिशीलता को बराबर ध्यान में रखते हैं उन्हें रासो में भाषा के कई स्तर मिलेंगे। यदि हम मुनि जिनविजय जी द्वारा खोजे हुए अपभ्रंश रासो के छंदों[१०२] से रासो के तत्तुल्य छंदों की तुलना करें तो भाषा संबंधी अनेक तथ्य प्रकाश में आयेंगे। मुनिजी का अनुमान है कि उन छंदों का संकलन जिस प्रति में हुआ है उसका लिपिकाल सं० १५०० वि० (सन् १४४३ ईस्वी) से पहले ही होगा।

पु० प्र० सं०, पृष्ठ ८६, पद्यांक २७५ और पृथ्वीराज रासो पृष्ठ १४९६, पद्य २१६ के पद्य मात्रों की तुलना।

इक्कु = एक।	मुक्क ओ = मुक्यौ।
बाणु = बान।	चुक्कउ = चुक्यौ।
पुहुवीसु = पहुमी नरेस।	खडहडिउ = थरहरयो।
चंद बलद्दिउ = चंद वरदिया।	छंडि = छोरि।

ध्वनि विचार की दृष्टि से पु० प्र० सं० वाले छद में अपभ्रंश की उकार बहुलता है जबकि रासो में व्रज की ओकार तथा औकार प्रवृत्ति। रासो में 'म' को भरसक सुरक्षित रखा गया है जब कि पु० प्र० सं० छंद

[१०२] पुरातन प्रबन्ध संग्रह, प्रास्ताविक वक्तव्य पृष्ठ ११

में म = वँ कर दिया गया है। पु० प्र० सं० वाले छंद में पइं (तुमने) करि (हाथ में), नं (ननु या इव) न वि (नापि = न भी) आदि अनेक प्राचीन प्रयोग मिलते हैं। चाहे पु० प्र० सं० के वे छंद रासो का प्राचीन अपभ्रंशानुवाद हों चाहे (मुनि जी के शब्दों में) रासो के मूल रूप से हों प्रस्तुत रासो के छंदों की भाषा के बहुत निकट हैं। अस्पष्टता के कारण अनेक शब्दों को एकदम बदल भी दिया गया है, तथापि इस साम्य से यह बात स्पष्ट है कि रासो के भीतर तत्कालीन भाषा का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक छंद मिल सकते हैं। पश्चिमी हिंदी—विशेषतः ब्रज का आरंभिक रूप रासो की अव्यवस्थित भाषा के बीच भी अच्छी तरह सुरक्षित है।

इनके अतिरिक्त पुरातन प्रबंध संग्रह में कुछ ऐसे भी लोक प्रचलित छंद सुरक्षित हैं जिनकी भाषा अपभ्रंश से मुक्त एकदम हिंदी के निकट है। जैसे—

> चारि पाय विचि दुडुगुडु दुडुगुडु।
> जाइ जाइ पुणु रुडुघुडु रुडुघुडु॥
> आगलि पाछलि पूँछे हलावइ,
> अंधारउँ किरि मूला चावइ।[१०३]

'दुडुगुडु' और 'रुडुगुडु' जैसे अनुकरणात्मक शब्दों को छोड़कर शेष सभी शब्द बिल्कुल आधुनिक बोली के हैं। ये सभी तथ्य सिद्ध करते हैं कि पछाँह में अपभ्रंश से कतराकर आधुनिक देशी भाषाओं का उदय हो रहा था, परन्तु उन पर अपभ्रंश का थोड़ा बहुत प्रभाव भी था।

§१६. उस संक्रान्ति काल में पश्चिमी भारत की अपेक्षा पूर्वी भारत का प्राप्त साहित्य अधिक प्राचीन और प्रामाणिक है। इस प्रकार थोड़ा सा

---

[३] पु० प्र० सं० पृष्ठ १०, पद्यांक ८

विचार सुनीति बाबू ने भी किया है।[१०४] उन्होंने प्राचीन बँगला भाषा के उदाहरणों में ११५६ ईस्वी की 'टीका-सर्वस्व' नामक पुस्तक का उल्लेख किया है जिसमें ३०० शब्दों का संग्रह है और जो बंध घाटीय सर्वानन्द नामक बंगाली पंडित द्वारा 'अमर कोश' पर की गई भाषा टीका है। डा० चाटुर्ज्या ने यह नहीं बताया है कि जिस पाण्डुलिपि के आधार पर उसका प्रकाशन हुआ है उसका लिपिकाल क्या है। फिर भी उन्होंने उस पुस्तक में आये हुए शब्दों को प्राचीन बँगला-काल से संबद्ध किया है और बँगला-भाषा के 'ध्वनिविचार' संबंधी अध्ययन के लिए उन्हें महत्त्वपूर्ण माना है। इनमें से अनेक शब्द तो अप्रचलित और अबोधगम्य हो गये हैं और काफी शब्द ऐसे हैं जिन पर पंडित जन-सुलभ संस्कृत की छाप है। फिर भी कुछ शब्द तो ऐसे हैं ही जो प्राक्-मुस्लिम काल (प्राचीन बँगला) तथा आरम्भिक बँगला साहित्य में प्राप्त हो जाते हैं।[१०५]

परंतु इनसे भी महत्त्वपूर्ण है ४७ 'चर्यापद' या 'चर्या' जिनकी रचना सहजिया संप्रदाय के सिद्धों ने की थी। म० म० हरप्रसादशास्त्री के अनुसार इन पदों की पांडुलिपि १२ वीं शताब्दी की है परंतु डा० राखालदास बंद्योपाध्याय उन्हें १४ वीं शताब्दी से प्राचीन नहीं समझते थे। राखाल बाबू का मत अधिक संगत जान पड़ता है। चर्यापदों की भाषा में प्राचीन बँगला के अनेक सूत्र मिलते हैं। जैसे षष्ठी विभक्ति का—एर, अर; चतुर्थी—रे; सप्तमी—त; परसर्ग माँझ, अन्तर, सांग; भूतकालीन प्रत्यय—इल,—इब, वर्तमान कृदन्त—अन्त; कर्मवाच्य-इअ तथा 'आछ' और 'थाक' जैसे क्रियापद।

---

[१०४] बं० लैं० पृष्ठ १०९, ११०, ११२

[१०५] 'साड़े सात शत बत्सर पूर्वेर बाँगला शब्द : राय बहा० योगेशचन्द्र विद्यानिधि, द्वादश शतकेर बाँगला शब्द : बसंत रंजन राय। सुनीति बाबू द्वारा उद्धृत।

इन सबसे महत्त्वपूर्ण हैं मिथिला प्रदेश में प्राप्त दो ग्रंथ : एक ज्योतिरीश्वर ठाकुर का 'वर्णरत्नाकर' और दूसरा विद्यापति ठाकुर की कीर्तिलता। 'वर्णरत्नाकर' ज्ञात मैथिली साहित्य का ही नहीं, बल्कि समस्त आ० भा० आ० का प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसका रचना-काल ईसा की १४ वीं शताब्दी का प्रथम पाद है। प्राप्त पाण्डुलिपि का लिपिकाल ईस्वी सन् १५०७ (लक्ष्मण सं० ३८८) है। इसलिए उक्त ग्रंथ में तत्कालीन भाषा बहुत कुछ सुरक्षित है।

मैथिली 'ध्वनिविचार' के लिए महत्त्वपूर्ण होते हुए भी यह ग्रंथ आ० भा० आ० के उदय काल पर अच्छा प्रकाश डालता है। यदि इसकी भाषा एक ओर प्राचीन बंगला से मिलती-जुलती है तो दूसरी ओर अवधी के भी निकट दिखाई पड़ती है। आधुनिक मैथिली की अपेक्षा इसके रूप अधिक सरल मालूम होते हैं विशेषतः क्रियापदों के रूप। ध्वनिविचार की दृष्टि से दो-तीन बातें ऐसी हैं जो अपभ्रंश से भिन्न पूर्वी प्रभाव को प्रकट करती हैं जैसे तत्सम 'क्ष' का उच्चारण 'क्ख' और 'क्ष्य' जैसा बंगला और उड़िया में है। (भ्रमर क्खक, वियक्खनी, क्ष्यार प्रदीप)। उसमे 'व' = ब है जैसे एबम्बिध, किम्बा। 'ड' के लिए प्रायः 'ल'; जैसे व्यालि = व्याडि, क्रीला = क्रीडा 'स' तथा 'श' परस्पर विनिमेय हैं जैसे मांश। रूपविचार में अपभ्रंश से सरलता है। विभक्तियाँ घिसकर केवल स्वर रूप मे रह गई हैं और संग, सञो, सँ, कारण, लागि, तह, क आदि करण, संप्रदान, अपादान और संबंध कारकों के परसर्गों का प्रयोग भी खूब हुआ है। क्रिया रूपों में—अाल प्रत्यय युक्त भूतकाल की विशेषता पूर्वीपक्ष की घोषणा करती है। संयुक्त काल और क्रिया का प्रयोग धड़ल्ले से हो चला था। परंतु इन सबसे बड़ी विशेषता है शब्दकोश संबंधी। अपभ्रंशकाव्य के बाद यह पहला ग्रंथ है जिसमें संस्कृत के तत्सम तथा अर्द्धतत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत हुआ है। यही नहीं इसमें तुलुक (तुर्क) पयाङ्क (प्यादा), कोर, तारिक,

मोजा, सरमोजा, नीक (निक), हजार, नौबति, ओहदा आदि फ़ारसी शब्दों का ग्रहण भी मिलता है।[१०९]

वर्णरत्नाकर से ही मिलती-जुलती परंतु उससे लगभग एक शताब्दी बाद की पुस्तक है 'कीर्तिलता'। 'वर्णरत्नाकर' जहाँ केवल गद्य की पुस्तक है वहाँ 'कीर्तिलता' में 'गद्य-पद्य' दोनों है। इसके रचयिता कवि विद्यापति ने एक ओर जहाँ तत्कालीन देसी भाषा में पदावली की रचना की वहाँ दूसरी ओर देसी मिश्रित अपभ्रंश में 'कीर्तिलता' की रचना की। इससे यही प्रतीत होता है कि उस समय तक राजदरबारों में अपभ्रंश का ही सम्मान था और इसीलिए कवि ने जो पुस्तक आश्रयदाता के विरुद्ध में लिखी उसकी भाषा तो 'दरबारी' रखी परंतु जो स्वान्तःसुखाय अथवा जनता के लिए लिखी उसकी भाषा तत्कालीन देश-भाषा थी। कीर्तिलता में तत्कालीन भाषा संबंधी अनिश्चितता तथा संक्रान्तिकालीन अव्यवस्था भलीभाँति प्रतिफलित हुई है। कहीं तो प्राकृताभास अपभ्रंश के उदाहरण मिलते हैं जिनमें अपभ्रंश से भी पूर्व के प्राकृत कालीन प्रयोग मिलते हैं और कहीं प्राचीन मैथिली को पुट देकर चलती हुई अपभ्रंश लिखी गई है। परन्तु कृत्रिम भाषा का प्रयोग पद्यों में ही अधिक हुआ है। कहीं-कहीं तो संस्कृत के भारी भरकम शब्दों को बलात् विकृत करके सुदीर्घ समासों की लड़ी बाँध दी गई है। परन्तु प्रायः तत्कालीन देसी मिश्रित अपभ्रंश के ही अधिक प्रयोग हैं: जैसे

(१) रज्जलुद्ध असलान बुद्धि विक्कम बले हारल।
पास वइसि विसवासि राए गएनेसर मारल॥

× ×

---

[१०९] विशेष विवरण के लिए देखिए: सुनीतिबाबू की अंग्रेजी भूमिका और कृष्णापाद गोस्वामी, एम० ए० द्वारा प्रस्तुत 'शब्द-सूची'। : वर्णरत्नाकर, बिब्लि० इंडि० संस्क० सं० २६२ सन् १९४० ईस्वी

ठाकुर ठक भए गेल चोरें चप्परि घर लिज्झिआ।
दास गोसाञनि गहिअ, धम्म गए, धन्ध निमज्जिअ॥
खले सजन परिभविअ कोई नहिं होइ विचारक।
जाति अजाति विवाह अधम उत्तम कां पारक॥ [१०७]
(२) थल कमलपत्त पमान नेत्तहि मत्तकुंजर गामिनी।
चौहट्टवट्ट पलट्टि हेरहि साछ सा छहि कामिनी॥
कप्पूर कुंकुम गंध चामर न अन कज्जल अंबरा।
वेवहार मुल्लहिं वणिक विक्कण कीनि आनहि बब्बरा॥[१०८]

यदि उपर्युक्त दोनों छप्पयों की भाषा को तुलसी के 'कटकटहिं मरकट...' या ऐसे ही अन्य छप्पयों की तुलना में रखा जाय तो अद्भुत साम्य दिखाई पड़ेगा। इन छप्पयों की भाषा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण वे गद्यांश हैं जिनमें मैथिली का पर्याप्त पुट है—

१. "तीनहु शक्ति का परीक्षा जानलि। रूथलि विभूति पलटाए आनलि। × × जनि दोसरी अमरावती क अवतार भा। × × आनक तिलक आनकां लाग। × × सबे किछु किनइते पावथि। × × एक हाट करे ओ ओल, औकी हाट करे ओ कोल। × × काहू काहु अइसने जो संगत करे। × काहु होअ अइसइनो आस कइसे लागत आचर व तास।"

कीर्तिलता की भाषा को 'वर्णरत्नाकर' की भाषा के सम्मुख रखकर देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि वर्णरत्नाकर में बँगलापन अधिक है (भले ही वह अनुलेखन पद्धति के कारण आ गया हो) और कीर्तिलता में मैथिली-भोजपुरी-अवधी आदि के आरम्भिक बीज। 'वर्णरत्नाकर' में 'कीर्तिलता' की अपेक्षा तत्सम शब्दों का ग्रहण

[१०७] कीर्तिलता, ना० प्र० स० काशी संस्क० पृष्ठ १६

[१०८] कीर्तिलता पृष्ठ २७-२८

अधिक है। इसका कारण काल-भेद नहीं बल्कि प्रकृति-भेद है। एक 'कोश' के ढंग का ग्रन्थ है तो दूसरा काव्य है। 'कीर्तिलता' में जैनपुर नगर का यथार्थ वर्णन इस बात का प्रमाण है कि कवि ने उस नगर को देखा था। यदि ऐसी बात है और उन प्रदेशों में कवि ने कुछ वर्ष बिताए हैं तो उसकी भाषा में अवधी और भोजपुरी प्रयोगों का आना स्वाभाविक है। ये दोनों ही ग्रन्थ पूर्वी हिंदी की प्राचीन परम्परा बतलाने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सहायक सिद्ध होंगे।

§ २०. तत्कालीन 'दकन' की भाषा का स्वरूप जिस ग्रंथ में सुरक्षित बताया जाता है वह है 'गीता' पर संत ज्ञानेश्वर की 'ज्ञानेश्वरी' टीका। ज्ञानेश्वरी १३ वीं शताब्दी की लिखी कही जाती है। परन्तु उसकी मूल भाषा आज सुरक्षित नहीं है। ज्ञानेश्वरी का वर्तमान रूप ज्ञानेश्वर के तीन सौ वर्ष बाद (शक सं० १५०६) श्री एकनाथ संपादित, संशोधित और परिष्कृत है। "राजवाड़े ने ज्ञानेश्वरी का जो संस्करण प्रकाशित किया है वह निस्सन्देह बहुत प्राचीन पाण्डुलिपि पर आधारित है और उसमें कुछ ऐसे पाठ दिये गए हैं जो प्राग्-एकनाथ काल के आभासित होते हैं परन्तु मुझे विश्वास नहीं होता कि वह पांडुलिपि सचमुच मुकुन्दराज की है। परम्परा यह है कि एकनाथ के समय में यह कृति बिल्कुल अबोध गम्य हो गई क्योंकि यह 'पाठांतरे शुद्धाबद्ध' थी। फलतः एकनाथ ने उसके परिष्कार का कार्य अपने हाथ में लिया। यह कार्य शक संवत् १५०६ में हुआ जो उसके रचना काल से लगभग ३०० वर्ष बाद का है। अतः उसके मूल पाठ का पता लगाना असंभव कार्य है। एकनाथ की अपेक्षा तथाकथित प्राचीनतर पाण्डुलिपि की प्रामाणिकता में भारी सन्देह है। केवल उसके कुछ प्राचीन प्रयोगों को देखकर उसे प्राचीन कह डालना उचित नहीं। × × मेरा विचार यह है कि ज्ञानेश्वरी के वर्तमान रूप को देखकर किसी व्यवस्थित व्याकरण की रचना करना और कोई सिद्धान्त स्थापित करना विश्वसनीय नहीं।

इसके लिये अन्य सामग्रियाँ अपेक्षित हैं।"[१०९] श्री आप्टे के मत से आज के अनेक भाषा वैज्ञानिक सहमत हैं। प्राकृत, अपभ्रंश तथा मराठी के प्रसिद्ध विद्वान डा० पी० एल वैद्य का भी यही विचार है। वस्तुतः ज्ञानेश्वरी का वर्तमान रूप आधुनिक मराठी भाषा के बहुत निकट है। अतएव उसके आधार पर १३ वीं-१४ वीं शताब्दी के महाराष्ट्र प्रदेश की भाषा का निर्णय करना खतरे से खाली नहीं।

§२१. इन सामग्रियों के अतिरिक्त श्री अगरचंद नाहटा ने किसी अप्रकाशित पाण्डुलिपि से जैन कवियों के कुछ गद्यांश उद्धृत किए हैं जो यदि प्रमाणिक हैं तो तत्कालीन भाषा संबंधी देश भेद बतलाने के लिए अत्यंत उपयुक्त सिद्ध होंगे।[११०]

(१) प्रथमां चनवा जरी नायिका भणइ।

अहे बाइ एहु तुम्हारा देसु कवण माहि गणियइ। किसउ देसु गुजरातु, सॉभलि माहरी बात। एउ जु लाधउ माणसश्रो जमारश्रो आलि मात्रि कांइ हारउ, एइ जि सम्यक्त्व मूल बारह व्रत पालियहिं। × × आशातना पालियहिं। पूजिय श्री आदिनाथ देवता। पाप नासइ शत्रुंजय सेवता। अनी किसउ घणउं भणियइ माहरी माइ एहु देसु गुजराति छाडी करि अनइ अनेरइ देशि किसी परि मनु जाइ। जिणि देशि मादल तणा धोंकार १ तिविलि तणादोंकार २ वंशतणा पोंकार ३ नृत्य तणा समाचार ४ ताल तालकर ५ आवजी ६ पखावजी ७ परावजी ८ खंचावजी ९ भूगोलिया १० करडि ११ झल्लरि १२ पडही १३ समेतु १४ पंच सबदु वाइयइ। गूजरी गीत गाइयइ। लास्य तांडव नाचियइ। मृदंगु वाइयइ। हे हैदिहो वाई किशी परिवाइयइ।

---

[१०९] हरि नारायण आप्टे : विलसन फिलालाजिकल लेक्चर्स आन मराठी, पृष्ठ ७३—७४

[११०] वीर गाथा काल का जैन साहित्य : नाहटा, ना० प्र० प० वर्ष ४६, अंक ३ सं० १९९८ वि०

(२) जब मालवा देश की वावली बोलण लागी, तब अवर देश की परिभागी। दिक्खुरे मोरी बहिणी फुणि फुणि मोरा देसु, काहउ वक्खाणहि । मोरा देश की बात न जाणहि । जिणि देशि मंडवगढ केरा ठाउ, जयसिंघ देव राउ । मसूर का थान । अवर देश का काहउ मानु। काटा सुतु अरु तुट्टणा । कोरा साडा अरु भूणा। ठाली अरु वाजणी, पेटिली अरु नाचणी। दिक्खुरे मोरी बहिणी। वलि वलि काहउ विललाइ। तोरा बोल्या सहु वाइयइ। मालव देश की परिनीकी सिरि की टीकी। सेत चीर का साडा। पूजियइ आदिनाथ युगराज दिहेवाइ कवणि परि पूजिइय।

(३) अथ पूर्वी नायिका का बोल्या सुणाहुगे रे भइया। इथु जुगि जाणिवउ धीरे, दिखुरे भोरी बहिनी, पुनि पुनि मोर देसु कितपु खरति आहि। मोरे देस की बात न जानसि, जेहि देस ऐसे मानुस कैसे इक्कु धीरे-धीरे विवेकिए। परम दाय के मोउन मरार मल्ल, तुम्ह कतुके जान, कतुके परान, बवाकी आन! अम्हाँ तुम्हाँ बड़ा अंतरु आहि। कइसु अंतरु, तुम्हके मानुस तरि मोटे, उपरि मोटे विचि छोटे। अत अम्ह के मानुस तरि नान्हे उपरि नान्हे विचि पूनु करसु सारविडु आहि। अइस दीसतु हइ, जइसा पूनम का चाँदु। अधकोदव के चावर खाइयहि। गीत गाइयइ। सुठि नीके वनिए वसहि। कइसे वानिए, आचच्चच्चा।

(४) मरहठी—तरि हाया जनमु आवागमणु कवणा गति न होइ रे बप्पा। तरि भविक जनतं पुच्छिसि मइं अनिक देश देशांतर चतुर्दिशा मागु मया देखुणी। अपूर्वुं, सर्व तीर्थाचा मेटु गीत रासु गीतल्लास कट समस्त गूमटा। तरिया इकि नाहिं सागिन पुरी सत्तरि सहस्र गुजराताचा भीतरि गिरि सेतुज्जं जा ऊपरि। श्री ऋषभनाथा चा रंगमंडपि अनिक गीत ताल एकाग्र चित्तं कारुणी। निजकर कमल चा द्रव्य उपार्जनी। परमेसर वीतरागाचा भवनिवेचनी। तः पुनःपि जन मुनि वरिणे अहं एवमेव सत्यं अतास्यंची आण।

उपर्युक्त चारो उद्धरण क्रमशः गुजरात, मालवा पूर्व देश तथा

महाराष्ट्र की चौदहवीं-शताब्दी की भाषा का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें मराठी का उदाहरण शेष से सर्वथा पृथक है। एक तो षष्ठी विभक्ति—'चा' के कारण; दूसरे शब्दकोश में संस्कृत शब्दों के ग्रहण के कारण। शेष उदाहरण हिंदी के अत्यन्त निकट हैं। संपूर्ण प्रदेशों के नमूने का अध्ययन करने से पता चलता है कि उस समय थोड़े से स्थानीय भेद के अतिरिक्त समस्त उत्तर भारत की साहित्य भाषा एक थी। यदि सब के आधार पर एक भाषा का व्याकरण तैयार किया जाय तो संक्रान्ति कालीन भाषा का बहुत कुछ अनुमानित (Hypothetical) रूप प्रस्तुत हो सकता है। भाषा प्रधान तब भी पछाँह की ही थी। इसे तो सुनीति बाबू ने भी स्वीकार किया है कि पछाँह की भाषा का काव्य के लिए प्रयोग मध्ययुग में पन्द्रहवीं शताब्दी तक होता रहा[111]।

§ २२. कुछ लोग इस संक्रान्ति कालीन भाषा के लिए 'अवहट्ट' नाम सुझाते हैं। सुनीति बाबू ने अवहट्ट को अपभ्रंश के कनिष्ठ रूप में स्वीकार करते हुए लिखा है कि आ० भा० आ० (स्थान विशेष की) के मेल से जो परवर्ती अपभ्रंश तैयार हुआ उसे पूर्वी देशों में १४ वीं शताब्दी में 'अवहट्ट' कहा गया[112]। यह संकेत विद्यापति के कीर्तिलता वाले उद्धरण[113] की ओर है। कुछ लोगों को इस पर आपत्ति हो सकती है क्योंकि पश्चिमी भारत मे तत्कालीन भाषा 'पिंगल' के नाम से विख्यात थी। क्या 'पिंगल' और 'अवहट्ट' दो थीं? यदि हाँ तो तत्कालीन भाषा को इनमें से एक नाम देना कहाँ तक उचित है? 'पिंगल' शब्द प्राचीन 'ब्रजभाषा' के लिए रूढ़ हो गया है। परन्तु स्वयं 'प्राकृत पैंगलम्' के लेखक ने जिसे 'पिंगल' नाम प्रिय है, अवहट्ट के

---

[111] बं० लै०, भूमिका पृष्ठ ११३, इंडो आर्यन एंड हिंदी पृष्ठ ६६
[112] वही,
[113] दे० टिप्पणी ८६

लिए ही, संभवतः, पिंगल शब्द का प्रयोग किया है। इसका स्पष्टीकरण उसके टीकाकार वंशीधर ने किया है[११४]। यद्यपि 'अवहट्ट' शब्द 'अपभ्रष्ट' अर्थात् 'अपभ्रंश' का ही विकृत रूप है, तथापि इसका प्रयोग विद्यापति से पूर्व किसी अन्य कवि, वैयाकरण अथवा आलंकारिक ने नहीं किया है। अस्तु जिन लोगों को यह आशङ्का है कि संक्रान्ति कालीन देशी मिश्रित (आधुनिक भा० आर्यभाषा मिश्रित) अपभ्रंश के लिए 'अवहट्ट' शब्द का प्रयोग करने से भ्रम उत्पन्न हो सकता है, उन्हें ऐतिहासिक तिथिक्रम का भी ध्यान रखना चाहिए। हमारी समझ से संक्रान्ति कालीन भाषा के लिए 'अवहट्ट' नाम का प्रयोग सुविधा की दृष्टि से करना चाहिए। स्व० पंडित केशवप्रसाद मिश्र का यही सुझाव था।

---

[११४] पढमो भासातरंडो णाओ पिंगलो जअइ। गाहा १

टीका : प्रथमो भाषातरंडः प्रथम आद्यः भाषा अवहट्ट् भाषा यया भाषया अयं ग्रंथो रचितः सा अवहट्ट् भाषा तस्या इत्यर्थः त...प्प पारं प्राप्नोति तथा पिङ्गल प्रणीतं छन्दः शास्त्रं प्राप्यावहट्ट् भाषा रचितैः तद्ग्रन्थ प्राप्नोतीति भावः सो पिङ्गलो णाओ ज अइ—उत्कर्षेण वर्तते। : प्राकृत पैंगलम् पृष्ठ ३

आधुनिक भाषाओं का उदय

§ २३. अपभ्रंश-काल और आधुनिक भारतीय आर्यभाषा-काल के बीच वाले संक्रान्ति काल में अपभ्रंश के सहारे आ० भा० आ० का रूप निर्माण हो रहा था और १५वीं शताब्दी के अंततक सभी आ० भा० आ० में स्वतंत्र (अपभ्रंश मुक्त तथा स्थानीय विशेषताओं से युक्त) तथा प्रौढ़ साहित्य रचना होने लगी। जहाँ तक हिंदी भाषा का संबंध है—इसकी दो मुख्य बोलियों, ब्रज और अवधी में सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक सूरसागर, जायसीकृत पद्मावत और तुलसीकृत रामचरितमानस जैसी प्रौढ़ कृतियाँ सामने आ गईं। इनकी भाषा से स्पष्ट है कि ये कम से कम दो शताब्दी पूर्व की मौखिक और साहित्यिक भाषा-परंपरा का प्रतिनिधित्व करती हैं। या तो इनके पूर्व उन बोलियों में साहित्य लिखा न गया होगा या मौखिक परंपरा में ही सुरक्षित रहा होगा। बहुत संभव है कि इनके पूर्व का साहित्य इनके व्यापक प्रभाव से नष्ट भी हो गया हो। जो हो, पहला प्रश्न यह है कि इन आधुनिक भाषाओं का उदय उस संक्रान्ति काल से किस प्रकार हुआ?

इसके लिए पिशेल[११५] और ग्रियर्सन[११६] ने अनेक अपभ्रंशों की कल्पना की है। उन्होंने प्रत्येक आ० भा० आ० के लिए एक-एक अनुमानित अपभ्रंश की सत्ता स्वीकार की है। मार्कण्डेय के २७ *अपभ्रंशों वाले उद्धरण ने संभवतः इन विद्वानों को इस अनुमान के लिए प्रेरित किया है।* परन्तु पता नहीं क्यों उनमें से अनेक को ग्रियर्सन ने छोड़ दिया है। चूँकि यह सिद्धान्त बिलकुल अनुमानाश्रित है, इस

---

११५. पिशेल, ग्रै § ७

११६. लिं० स० इं० जिल्द १, भाग १, पृष्ठ १२५,

लिये इसकी वैज्ञानिकता को लेकर विवाद करने की आवश्यकता नहीं। यहाँ अपभ्रंशों से अभिप्राय संभवतः तत्तद्देशीय स्थानीय बोलियों से है जिनका साहित्य नहीं मिलता।

ग्रियर्सन की वह अनुमानित सूची इस प्रकार है :—

प्रदेश	अपभ्रंश	आधुनिक भाषा
१. दक्षिणी सिंधु घाटी	व्राचड	सिंधी, लहंदा, आदि
२. नर्मदा से दक्षिण (अरब सागर से उड़ीसा तक)	वैदर्भ्य और दाक्षिणात्य	मराठी
३. उड़ीसा	औड्र या औत्कल	उड़िया
४. बनारस से बिहार तक	मागध	बिहारी (भोजपुरी मगही)
५. बंगाल	गौड़ या प्राच्य	बँगला
६. काशी के आसपास	अर्ध मागधी	पूर्व हिंदी
७. गुजरात	नागर	गुजराती
८. गंगा-यमुना द्वाब	शौरसेनी	ब्रज
९. उत्तर मध्य पंजाब	टक्क	पंजाबी
१०. दक्षिण पंजाब	उपनागर	पंजाबी
११. उज्जैन	आवन्त्य	राजस्थानी

इस कल्पना में संभवतः ग्रियर्सन का ध्यान प्रान्तों की बदलती हुई सीमाओं की ओर नहीं गया है। एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में विभिन्न प्रान्तों का विकास समझने में प्रायः राजनीतिक दृष्टि से प्रान्त-विभाजन बाधक रहा है। स्वयं एक प्रान्त की सांस्कृतिक सीमा भी घटती-बढ़ती रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर संस्कृत काल का शूरसेन देश, प्राकृत और अपभ्रंश काल के शूरसेन देश के समान ही न था। इसी प्रकार ब्रजभाषा के शूरसेन देश से भी उनकी तुलना की जा सकती है। शौरसेनी प्राकृत पर संस्कृत का सीधा और अत्यधिक प्रभाव सिद्ध करता है कि संभवत :दो प्रदेश एक से थे और यह गंगा-यमुना द्वाब के

उत्तरी भाषा से लेकर पंजाब तक का भाग रहा होगा। परंतु अपभ्रंश काल का शूरसेन प्रदेश (दूसरे शब्दों में शौरसेनी अपभ्रंश का प्रदेश) शायद उक्त भूभाग से बड़ा था और उसकी सीमा में पश्चिमी भारत का बहुत सा भाग आ मिला था। तत्पश्चात् उसी शौरसेनी अपभ्रंश से निकली हुई ब्रजभाषा का प्रदेश आरंभ में (पिंगल की अवस्था में) बहुत कुछ वही होते हुए भी क्रमशः पश्चिम से पूरब की ओर खिसकने लगा। इस तथ्य का प्रमाण इन भाषाओं के व्याकरणिक गठन की विभिन्नता है। इन बातों से प्रतीत होता है कि एक-एक अपभ्रंश से एकाधिक आधुनिक भाषाओं का प्रादुर्भाव हुआ होगा और कुछ अपभ्रंश विभाषायें ऐसी भी रही होंगी जिनसे आजतक कोई साहित्यिक भाषा उद्भूत नहीं हुई।

यहीं हिंदी की दो मुख्य बोलियों पर विचार कर लेना समीचीन होगा; एक अवधी दूसरी खड़ी बोली।

§ २४. **अवधी**—ब्रज भाषा का प्रारंभिक इतिहास शौरसेनी अपभ्रंश से संबद्ध किया जा सकता है, परंतु 'अवधी' की किसी साहित्यिक अपभ्रंश का पता नहीं चलता। इस विषय मे विद्वानों ने अनुमान का सहारा लिया है। आचार्य शुक्ल ने बुद्धचरित की भूमिका में अवधी के अनेक पदों को नागर अपभ्रंश के उदाहरणों से खींच निकाला है तथापि यह आज तक विवाद ग्रस्त है कि अवधी की उत्पत्ति किस अपभ्रंश से हुई! अवध प्रान्त शूरसेन और मगध के बीच में होने से दोनों क्षेत्रों की भाषा संबंधी विशेषताओं से युक्त समझा जाता है। वर्तमान भाषाओं के पूर्व 'शूरसेन' में शौरसेनी अपभ्रंश, मगध में मागधी अपभ्रंश और इन दोनों के मध्यभाग में अर्धमागधी अपभ्रंश का प्रचलन रहा होगा, इसी अनुमान पर अर्धमागधी से अवधी के उद्गम का भी अनुमान किया जाता है।[११७]

---

११७ लिं० स० इं०, जिल्द १, भाग १ पृष्ठ ३०१

शौरसेनी और मागधी प्राकृतों के अपभ्रंश रूप ग्रन्थों में प्राप्य हैं, परन्तु अर्धमागधी अपभ्रंश के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। यह बात तो निश्चित है कि अवधी का जन्म सीधे प्राकृत से न होकर किसी न किसी अपभ्रंश से ही हुआ होगा। परन्तु उस क्षेत्र के नाम की कोई अपभ्रंश क्यों नहीं मिलती ? यदि उसका कोई साहित्य नहीं मिलता तो उसका नाम तो मिलना चाहिए। जिस प्रकार शूरसेन क्षेत्र की भाषा शौरसेनी तथा मगध क्षेत्र की भाषा मागधी कहलाई उसी प्रकार अवध या कोशल क्षेत्र की भाषा अवधी या कोशली प्राकृत या अपभ्रंश क्यों नहीं कहलाई ? क्या कारण है कि अवध अथवा कोशल क्षेत्र पर एक ओर से शौरसेनी तथा दूसरी ओर से मागधी का आधिपत्य हो गया ?

इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए हमें उन प्रदेशों की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पीठिका का अध्ययन करना होगा। सच तो यह है कि जिस समय प्राकृतों और अपभ्रंश का विकास हो रहा था, अवध प्रान्त गतश्री अवस्था में था। यूनानी आक्रमणकारी मिलिंद ने उसे उजाड़ बना दिया था।[११८] शताब्दियों तक वह उसी अवस्था में रहा। गुप्तवंश ने उसका पुनरुद्धार किया। यही कारण है कि अवध की प्राकृत और अपभ्रंश बोली का साहित्यिक पैमाने पर उत्थान न हो सका। राजनीतिक पक्ष के अतिरिक्त अवध क्षेत्र का सांस्कृतिक पक्ष भी उस युग में अस्तगामी था। मगध जहाँ गौतम और महावीर की शिक्षाभूमि तथा कार्यक्षेत्र रहा वहाँ अवध उनके कार्यकलापों से वंचित रहा। मगध का गौरव भी उन दिनों बाढ़ पर था। शिशुनाग, हर्यंक, नंद, मौर्य तथा गुप्त राजाओं ने सदियों तक मगध को अपनी राजधानी बनाए रखा। नालंदा और विक्रमशिला के प्रसिद्ध विश्व-

---

११८. विं० ए० स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑव इंडिया, तृतीय संस्करण पृष्ठ ११८

विद्यालयों ने उस क्षेत्र की सांस्कृतिक भूमिका उन्नत की। फलतः मागधी, प्राकृत और अपभ्रंश का साहित्यिक मान बढ़ना स्वाभाविक था। दूसरी ओर, शूरसेन प्रदेश कौरव-पाण्डव काल से ही राजनीतिक और सांस्कृतिक चेतना से दीप्त रहा। मथुरा का नागों ने भी गुप्तकाल से पूर्व तक उस क्षेत्र का उन्नयन किया। पीछे चौहानों और गहरवारों के शासनकाल में भी इसका प्रताप-सूर्य तपता रहा। इसीलिए इस प्रदेश की भाषा की साहित्यिक परम्परा संपन्न रही। बहुत दिनों तक दबे रहने के बाद पठानों के समय अवध प्रदेश कुछ राजनीतिक प्रकाश से आलोकित हुआ। उसी समय उस क्षेत्र की भाषा को भी पनपने का अवसर मिला।

एक बात यह ध्यान देने की है कि आधुनिक भाषाओं के उदय और स्वतंत्र विकास में मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन का बहुत बड़ा हाथ है। अपभ्रंश-काल तक उत्तर भारत की काव्य-भाषा बहुत कुछ पश्चिमी भारत की भाषा थी। परन्तु भक्ति-आंदोलन मे वह केन्द्र खिसककर ब्रज और अवध के मध्यदेश में आगया। आ० भा० आ० में मध्यदेश की भाषा हिंदी के शिरोमणि होने का मुख्य कारण यही सांस्कृतिक आन्दोलन है। यद्यपि यह आन्दोलन सपूर्ण उत्तर भारत — गुजरात से बंगाल और महाराष्ट्र से हिमालय तक व्याप्त था तथापि सतों की भाषा में बहुत कम स्थानीय-भेद था। प्रायः सभी प्रान्तीय भाषाओं पर 'ब्रज बोली' की छाप थी क्योंकि उस भक्ति-आन्दोलन का केन्द्र कृष्ण की लीला भूमि ब्रज प्रदेश ही था। यद्यपि इस भक्ति-आन्दोलन में अवध के मर्यादा पुरुषोत्तम राम भी एक थे, परंतु राम-भक्ति की धारा काव्य में उतनी प्रतिफलित और व्यापक नहीं हुई जितनी कृष्ण भक्ति धारा। इसीलिये जहाँ तक मध्ययुग की काव्य-भाषा का सबंध है, ब्रज भाषा का ही बोलबाला रहा। स्वयं गोस्वामी तुलसीदास ने भी ब्रजभाषा में काव्य-रचना की। गुजरात, महाराष्ट्र राजस्थान तथा बंगाल और मिथिला पर ब्रजबोली का रंग था। ब्रज का यह प्रभाव

अपनी पड़ोसिनी अवधी पर भी काफ़ी थी। यहाँ तक कि आगे चलकर ब्रज-अवधी मिश्रित एक नूतन काव्य-भाषा चल पड़ी। तात्पर्य यह कि हिंदी आदि आ० भा० आ० के उदय और विकास में भक्ति-आंदोलन का बहुत बड़ा योग रहा है।

ग्रियर्सन की दृष्टि भौगोलिक अधिक थी। इसी दृष्टि से उन्होंने अवधी को अर्धमागधी (अनुमानित) से उत्पन्न कहा है। इधर ब्रजभाषा के विद्वान कवि और मर्मज्ञ रत्नाकरजी ने अवध या कोसल क्षेत्र को भी शौरसेनी क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया है।[११९] इसी खींचतान के बीच डा० बाबू राम सक्सेना ने अपना असमंजस व्यक्त किया है। भाषागत विशेषताओं को लक्ष्य करने से अवधी, अर्धमागधी से दूर और पालि के बहुत कुछ निकट दिखाई पड़ती है। इसलिए उनका अनुमान है कि अवधी जैन अर्धमागधी से नहीं बल्कि उससे पूर्व की किसी अर्धमागधी बोली से उत्पन्न हुई होगी![१२०] इसमे कोई संदेह नहीं। परंतु प्रश्न उस समय की भाषा का उतना नहीं जितना अपभ्रंश कालीन अवधक्षेत्र की भाषा के स्वरूप का है। रत्नाकर जी ने ब्रज और अवधी दोनों का आधार एक ही शौरसेनी अपभ्रंश माना है। उनके अनुसार "अपभ्रंशों के बनने और प्रयुक्त होने के समय संज्ञा और विशेषण वाचक अकारान्त पुल्लिंग शब्द दो प्रकार के हो गए थे। एक प्रकार के तो वे, जिनके कर्त्ता-कर्म कारकों के एक वचन रूप उकारांत, इकारान्त और अकरान्त होते थे और दूसरे प्रकार के वे जिनके उक्त कारकों के एक वचन रूप ओकारान्त, एकारान्त और आकारान्त होते थे। इन दोनों प्रकार के शब्दों के रूपों में से उकारान्त और ओकारान्त रूप शौरसेनी क्षेत्र में बरते जाते थे, इकारान्त और एकारान्त रूप मागधी क्षेत्र में तथा अकारान्त और आकारान्त रूप शौरसेनी के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में

---

[११९]. कोशोत्सव स्मारक संग्रह ग्रंथ (पृष्ठ १८५-८६)

[१२०]. इवल्यूशन ऑव अवधी : भूमिका पृष्ठ १०

अर्थात् पंजाब तथा काबुली सीमांत प्रान्त में।"[१२१] रत्नाकरजी ने, सम्भवतः, अवधी और ब्रज से समान प्रेम होने के कारण दोनों के एक स्रोत पर विशेष बल दिया है, परंतु भाषा वैज्ञानिक इससे शायद ही सहमत हो सकें। अवधी स्पष्टतः पूर्वी समूह की बोली है जबकि ब्रज पश्चिमी समूह की।

§ २५. खड़ी बोली : यदि अवधी की जननी कोसली अपभ्रंश तथा मातामही कोसली प्राकृत का पता नहीं है तो खड़ी बोली हिंदी भी वैसी ही अज्ञात-कुल-शीला कही जाती है। अवधी का साहित्यिक उत्थान तो मध्ययुग में हो भी गया, परन्तु खड़ी हिंदी का उत्थान उससे भी पीछे हुआ। कोढ़ में खाज यह हुई कि खड़ी हिंदी के पूर्व तत्तुल्य व्याकरणिक गठन की उर्दू भाषा का साहित्य सामने आ गया। फलतः उर्दू वालों ने आज उच्च कंठ से घोषणा शुरू कर दी है कि खड़ी हिंदी का जन्म उर्दू से हुआ है। बात ठीक है, यदि ठीक ढंग से कही जाय। प्रश्न यह है कि उर्दू कहाँ से पैदा हुई? यदि मज़हबी आग्रह को छोड़कर शुद्ध भाषावैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो उर्दू फ़ारसी से उत्पन्न नहीं हुई है बल्कि दिल्ली-मेरठ की बोली से ही प्रादुर्भूत हुई है। भाषा के स्वरूप का निर्णय उसके शब्दकोश से उतना नहीं होता जितना 'पद विन्यास' और वाक्य विन्यास से। कहना न होगा कि उर्दू का पदविन्यास आ० भा० आ० का है, किसी ईरानी शाखा की भाषा का नहीं। अस्तु उर्दू को साहित्यिक खड़ी हिंदी का ऐसा पूर्व रूप कह सकते हैं जिसने फ़ारसी-अरबी शब्द-कोश का विशेष सहारा लेकर दिल्ली-मेरठ की ग्रामीण बोली के आधार पर एक नई शैली चलाई। इसमें कोई शक नहीं कि दिल्ली-मेरठ की बोली को साहित्यिक रूप प्रदान करने का श्रेय बहुत कुछ इस्लाम—विशेषतः मुग़ल राज्य को है। दिल्ली का राजधानी बनना उस क्षेत्र के राजनीतिक जागरण का कारण हुआ। स्वयं राज कर्मचारियों पर

---

[१२१]. कोशोत्सव स्मारक संग्रह ग्रन्थ, पृष्ठ वही।

भी स्थानीय बोली का प्रभाव पड़ा और शिष्ट जनों के द्वारा उसका परिष्कार हुआ।

प्रश्न यह है कि मुग़ल से पूर्व इस क्षेत्र की भाषा का उत्थान क्यों नहीं हुआ? पृथ्वीराज चौहान के समय दिल्ली राजधानी थी, परंतु उसका झुकाव अन्तर्वेद अथवा पूरब की अपेक्षा राजस्थान की ओर अधिक था, क्योंकि यमुना के पूरब जयचंद का प्रभाव था। फलतः पृथ्वीराज के आश्रय में राजस्थानी मिश्रित पिंगल को अधिक प्रोत्साहन मिला। पृथ्वीराज के बाद दिल्ली को पठानों ने केन्द्र बनाया, परन्तु उस संघर्ष काल में भाषा का स्वरूप निखर न सका, बल्कि संक्रान्ति और संधि सूचक रहा। यदि ख़ुसरो के नाम पर मिलने वाली कविता मे उसीके समय की भाषा है तो खड़ीबोली का आरंभिक निखार उसमें भी देखा जा सकता है। मुग़ल काल तक आते-आते उस क्षेत्र की भाषा को काफ़ी अवसर मिल चुका था। परंतु आरंभ में मुग़लों की राजधानी आगरा थी। इसीलिए मीर, वली आदि आरंभिक उर्दू शायरों की भाषा पर ब्रजभाषा का प्रभाव पर्याप्त है। शाहजहाँ के बाद जब राजधानी दिल्ली चली गई तो खड़ी बोली के उत्थान के लिए अनुकूल वातावरण मिला। उर्दू शायरों की भाषा मे भी ब्रजभाषा प्रभाव हटने लगा। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि १६ वीं शताब्दी का आर्यसमाज आदि वाला सांस्कृति पुनर्जागरण आन्दोलन न हुआ होता तो शायद खड़ी बोली का साहित्यिक रूप उर्दू मे ही सुरक्षित रह जाता और हिंदी काव्य की भाषा ब्रज ही बनी रहती। मुग़ल साम्राज्य के उच्छेद ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से खड़ी बोली हिंदी के उत्थान में बहुत योग दिया[१२२]। इस प्रकार खड़ी बोली हिंदी के उत्थान में मुग़लों का उत्थान और पतन दोनों सहायक हुआ। गुलेरीजी ने ठीक ही लिखा है कि 'हिंदुई' भाषा बनाने का काम मुसलमानों ने बहुत कुछ किया, उसकी सार्वजनिकता भी उन्हीं की कृपा

---

[१२२] हिन्दी साहित्य का इतिहास, ५ वाँ संस्क० पृष्ठ ४०८

से हुई, फिर हिन्दुओं में जागृति होने पर उन्होंने हिंदी को अपना लिया।'[123]

वस्तुतः खड़ी बोली की परंपरा उर्दू से भी पुरानी है, उर्दू तो उसके उत्थान का एक सोपान है। आचार्य शुक्ल ने अपभ्रंश के प्राचीन उद्धरणों को लेकर उनमें खड़ी बोली के बीज रूप दिखलाये हैं।[124] जैसे

(१) नव जल *भरिया* मग्गड़ा।

(२) भल्ला हुआ जु *मारिया* बहिणि महारा कंतु।

(३) एक्के दुन्नय जे *कया* तेहि नीहरिय घरस्स।

(४) सोउ जुहिट्ठिर संकट *पाआ*। देवक लेखिअ कोण *मिटाआ*।

डा० धीरेन्द्र वर्मा ने खड़ीबोली प्रदेश के ठेठ ग्रामीण गद्यांशों को एकत्र कर दिखलाया है कि इसकी परंपरा जन जीवन में अत्यन्त प्राचीन काल से सुरक्षित है।[125]

§ २६. इसी प्रकार हिंदी की अन्य विभाषाओं और बोलियों के विकच तथा अविकच रूप का अध्ययन सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि पर किया जा सकता है। बिहारी बोलियों में मैथिली का साहित्यिक विकास सब से पहले हो गया। इसका श्रेय वहाँ के सुसंस्कृत राजवंश तथा स्वतंत्र और समुन्नत लोकजीवन को है। भोजपुरिया की अवस्था आज भी उन्नत नहीं हो सकी। इसके कारणों की खोज के लिए भी गहराई में उतरने की आवश्यकता है। हिंदी की विभाषाओं के अतिरिक्त अन्य प्रान्तीय भाषाओं का विकास स्वतन्त्र इकाई के रूप में इसलिए हो गया कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही वे प्रांत सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत कुछ स्वतंत्र इकाई बन चुके थे। इसीलिए उस जन समूह को

---

[123]. पुरानी हिंदी पृष्ठ १०८

[124]. हिं० सा० इ० पृष्ठ ४०६

[125]. ग्रामीण हिंदी पृष्ठ ३३

आशाओं और आकांक्षाओं ने स्वतंत्र भाषा का रूप ग्रहण कर लिया। इस प्रकार आ० भा० आ० के उदय और विकास का बहुत कुछ श्रेय मध्ययुगीन संत और भक्ति आंदोलन को है जिसने संपूर्ण देश की चेतना में नवजीवन का संचार कर दिया।

§ २७. *आ० भा० आ० में तत्सम शब्दों के समावेश का कारण*-अपभ्रंश में तत्सम शब्दों का बहिष्कार तथा हिंदी आदि आ० भा० आ० भाषाओं में उनका सहसा ग्रहण देखकर प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों हुआ ? उद्योतन सूरि ने (७७८ ईस्वी) अपभ्रंश के आकर्षण का वर्णन करते हुए कहा है "लम्बे समास, अव्यय उपसर्ग, विभक्ति, वचन और लिंग काठिन्य से पूर्ण संस्कृत भाषा दुर्जन के हृदय की तरह दुरूह है, किन्तु प्राकृत सज्जनों के वचन की तरह आनन्ददायक है। यह अनेक कलाओं के विवेचन रूप तरंगों से पूर्ण सांसारिक अनुभवों का समुद्र है जो विद्वानों से मथन किए जाने पर टपकने वाली अमृत की बूँदों से भरा है। परन्तु *यह (अपभ्रंश) शुद्ध और मिश्रित संस्कृत* तथा प्राकृत शब्दो का समानुपातिक और आनंददायक सम्मिश्रण है। यह कोमल हो या कठोर बरसाती पहाड़ी नदियों की तरह बेरोक है।......"[१२६]

अपभ्रंश मे संस्कृत मिश्रण की बात उद्योतन सूरि ने ही नहीं कही, बल्कि दसवीं शताब्दी में राजशेखर ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा कि संस्कृत से युक्त होने पर अपभ्रंश लालित्य पूर्ण हो जाता है।[१२७] इतना होते हुए भी आश्चर्य है कि अपभ्रंश साहित्य में संस्कृत के तत्सम शब्दों का ग्रहण नहीं बराबर दिखाई पड़ता है। मालूम होता है कि

---

१२६. 'ता किं अवहंसं होई ? तं सक्कय-पय-उभय-सुधा-सुद्ध पय सम तरंग-रंगत-वग्गिरं ......पणय कुविय-पियमाणिनि समुल्लाव सरिसं मणोहरम्।—कुवलय माला' अपभ्रंश काव्यत्रयी : एल० बी० गांधी

१२७. संस्कृतमपभ्रंशं लालित्यालिंगितं पठेत्-काव्य मीमांसा

ब्राह्मणेतर धर्मों ने ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया स्वरूप तत्सम शब्दों का भी बहिष्कार किया। परंतु जब आधुनिक भाषाओं का उदय हुआ तो पुनः भारतीय समाज, उन आदर्शों का पुनरुत्थान हुआ। फलतः संस्कृत का प्रभाव पुष्कल रूप में पड़ा। आधुनिक भाषाओं में तत्सम शब्दावली का प्रवेश दो आन्दोलनों के कारण दो बार हुआ। एक तो पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के भक्ति-आन्दोलन के द्वारा, दूसरा १६वीं शताब्दी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के द्वारा। इन दोनों आन्दोलनों में कुछ तात्त्विक अंतर था। इसे समझ लेने पर उनके प्रभावों को भी समझने मे सुविधा होगी।

सोलहवीं शताब्दी का सांस्कृतिक जागरण द्विमुख था। उसका एक पक्ष था संत-मार्ग और दूसरा भक्ति-मार्ग। कबीर दादू आदि संतों का मूल साधारण जनता में था। फलतः इनके साहित्य में तद्भव और देशज शब्दों का ही आधिक्य था। परंतु तुलसी आदि का भक्ति आन्दोलन जहाँ एक ओर लोकाश्रयी था वहाँ शास्त्रानुगामी भी था। इसीलिए इनकी भाषा में तद्भव शब्दों के साथ तत्सम और अर्द्धतत्सम शब्दों का भी प्रवेश हुआ। इस्लाम से मुकाबला करने के लिए प्राचीन संस्कृतशास्त्र और साहित्य के पुनरुत्थान ने आ० भा० आ० के शब्द-कोश को तत्सम अर्ध तत्सम शब्दों से समृद्ध बना दिया। परंतु फिर भी वह भाषा लोकजीवन के निकट थी। अपभ्रंश के अबूझ तद्भव शब्दों की अपेक्षा उन नवीन तद्भव शब्दों में स्वाभाविकता तथा स्पष्टता अधिक थी। तद्भव तथा अर्द्धतत्सम शब्दों का ही आधिक्य रहा, तत्सम शब्द कम थे।

१६वीं शताब्दी का सांस्कृतिक पुनर्जागरण जन-जीवन से न उठ-कर केवल मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के मस्तिष्क की उपज था। मध्य युगीन भक्ति-आन्दोलन शास्त्रों का सहारा लेकर भी लोकजीवन से रस ग्रहण कर रहा था। परंतु १६वीं शताब्दी का सांस्कृतिक पुनर्जागरण केवल शास्त्रों में ही स्थित था और उन्हींकी नूतन व्याख्या में रत था।

सामाजिक विवशताओं के कारण यह सामान्य जनजीवन के उतना निकट न जा सका। फलतः इसने संस्कृत शब्दों की उद्धरणी कर दी। इसीलिए आधुनिक हिंदी अर्थात् खड़ी बोली में तुलसी-सूर की भाषा से अधिक तत्सम शब्द आ घुसे। ग्रियर्सन ने लिखा है कि बँगला में तत्सम शब्दों का ग्रहण हिंदी से भी अधिक हुआ। शुरू में वहाँ ८०% तत्सम शब्द लिए गये। इसका भी कारण है। सांस्कृतिक पुनर्जागरण का अड्डा बंगाल में ही अधिक था। मराठी में भी तत्सम का ग्रहण हिंदी की अपेक्षा विशेष मिलेगा। हिंदी में तत्सम की अपेक्षा तत्समाभास शब्द अधिक गढ़े गए। धीरे-धीरे फिर इस अतिरेक का प्रतिवर्तन हो रहा है और सभी भाषाओं में तद्भव शब्दों की ओर झुकाव शुरू है, क्योंकि फिर जन-आन्दोलन और ग्रामोत्थान जोर पकड़ रहा है।

क्या अपभ्रंश को 'पुरानी हिंदी' कहना उचित है ?

§ २८ संभवतः गुलेरीजी पहले आदमी हैं जिन्होंने सं० १९७८ वि० में सबसे पहले अपभ्रंश के लिए 'पुरानी हिंदी' शब्द का प्रयोग किया। अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने लिखा है "पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी आदि नाम कृत्रिम और वर्तमान भेद को पीछे की ओर ढकेल कर बनाए गए हैं। भेदबुद्धि दृढ़ करने के अतिरिक्त इनका कोई फल भी नहीं है। कविता की भाषा प्रायः सब जगह एक ही थी। जैसे नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता 'व्रज भाखा' कहलाती थी, वैसे अपभ्रंश को पुरानी हिंदी कहना अनुचित नहीं, चाहे कवि के देश काल के अनुसार उसमें कुछ रचना प्रादेशिक हो।

'पिछले समय में भी हिंदी कवि-संत लोग विनोद के लिए एक-आध पद गुजराती या पंजाबी में लिखकर अपनी वाणियाँ भाखा में लिखते रहे जैसे कि कुछ शौरसेनी, पैशाची का छींटा देकर कविता महाराष्ट्री प्राकृत में ही होती रही। मीरांबाई के पद पुरानी हिंदी कहे जायँ या गुजराती या मारवाड़ी या हिंदी? कवि की प्रादेशिकता आने पर भी साधारण भाषा 'भाखा' ही थी। जैसे अपभ्रंश में कहीं-कहीं संस्कृत का पुट है वैसे तुलसीदासजी रामायण को पूरबी भाषा में लिखते-लिखते संस्कृत में चले जाते हैं। यदि छापाखाना, प्रांतीय अभिमान, मुसलमानों का फ़ारसी अक्षरों का आग्रह और नया प्रांतिक उद्बोधन न होता तो हिंदी अनायास ही देश भाषा बनने जा रही थी। अधिक छपने-छापने, लिखने और झगड़ों ने भी इस गति को रोका। आजकल लोग पृथ्वीराज रासे की भाषा को हिंदी का प्राचीनतम रूप मानते हैं, किंतु इतना कहे देते हैं कि यदि इन कविताओं को

पुरानी हिंदी नहीं कहा जाय तो रासे की भाषा को राजस्थानी या 'मेवाड़ी-गुजराती-चारणी-भाटी' कहना चाहिए, हिंदी नहीं। ब्रजभाषा हिंदी नहीं, और तुलसीदास की मधुर उक्तियाँ भी हिंदी नहीं।'[१२८]

उपर्युक्त लम्बे उद्धरण में उत्तर भारत की काव्य-भाषा अथवा राष्ट्र-भाषा की परंपरा को ध्यान में रखते हुए अपभ्रंश को पुरानी हिंदी कहा गया है। गुलेरीजी का विरोध कई कोनों से हुआ। 'ढोला मारूरा दूहा' के संपादकों ने घोषित किया कि अपभ्रंश-काल के पश्चात् उस समस्त भूखंड में, जो आजकल पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी और गुजराती का अधिकार-क्षेत्र है, बोलचाल एवं साहित्य की भाषा राजस्थानी रही है। राजस्थानी हिंदी की समस्त शाखाओं में प्राचीनतम है। वह अपभ्रंश की जेठी बेटी है।"[१२९] उन्हें इसीसे संतोष नहीं हुआ और आगे उन्होंने कहा—"इस परिवर्तन काल की भाषा को सुप्रसिद्ध विद्वान चन्द्रधर शर्मा गुलेरी पुरानी हिंदी का नाम देते हैं। गुजराती भाषा के विद्वान् मोहनलाल दलीचंद देसाई ने उसे 'जूनीहिंदी जूनी गुजराती' कहा है। अन्य विद्वान (?) इसे प्राचीन राजस्थानी कहते हैं। हमारी समझ में ये नाम उपयुक्त नहीं हैं। उक्त भाषा कुछ थोड़े हेरफेर के साथ समस्त उत्तरी भारत में प्रचलित थी और उसीसे वर्तमान देश-भाषाओं का विकास हुआ है। वह केवल हिंदी और गुजराती की ही जन्मदात्री नहीं है, किंतु उससे अन्य भाषाओं का भी जन्म हुआ है। वास्तव में उसे उत्तर कालीन अपभ्रंश कहना चाहिए।'[१३०]

परंतु इन विद्वानों ने गुलेरीजी के कथन को कुछ अन्यथा समझ लिया। गुलेरीजी ने उत्तर कालीन अपभ्रंश को ही नहीं बल्कि पूरी

---

[१२८] पुरानी हिंदी, पृष्ठ १२—१३

[१२९] ढोला० भूमिका पृष्ठ १३८

[१३०] वही, पृष्ठ १३९-४०

अपभ्रंश को हिंदी कहा है। उन्होने उस परिनिष्ठित अपभ्रंश को भी पुरानी, हिंदी कहा है जिसमें आधुनिक देश भाषाओं का मिश्रण नहीं हुआ था। यह समझ लेने पर शायद वह संपादक मंडल गुलेरीजी का और भी विरोध करता।

गुलेरीजी के कथन पर कुछ और भी आपत्तियाँ उठाई गई हैं। "गुलेरी जी ने 'पुरानी हिंदी' शीर्षक लेख में जो नमूने दिए हैं वे प्रायः गंगा की घाटी के बाहर के प्रदेशों में बने ग्रन्थों के हैं, अतः इनमें हिंदी के प्राचीन रूपों का पाया जाना कम स्वाभाविक है। अधिकांश उदाहरणों में प्राचीन राजस्थानी के नमूने मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इन उदाहरणों की भाषा में अपभ्रंश प्रभाव इतना अधिक है कि इन ग्रन्थों को इस काल के अपभ्रंश साहित्य के अंतर्गत रखना अधिक उचित मालूम होता है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में ऐसा ही किया भी है। तो भी इन नमूनों से अपनी भाषा की पुरानी परिस्थिति पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।"[१३१]

कुल मिलाकर 'अपभ्रंश' को 'पुरानी हिंदी' कहने में दो प्रकार की बाधायें हैं—

(क) यदि अपभ्रंश को पुरानी हिंदी कहें तो संस्कृत, पालि, प्राकृत को भी क्यों न कहें ?

(ख) जब उसी अपभ्रंश से अनेक पश्चिमी आधुनिक भाषाओं का विकास हुआ है तो अकेले हिन्दी का ही उस पर अधिकार क्यों न हो ?

पहली बाधा का दूर करना सहज है। जैसा कि राहुलजी ने कहा है अपभ्रंश का ढाँचा संस्कृत और प्राकृत से एकदम भिन्न होकर हिंदी के निकट आ गया। अपभ्रंश के स्तर पर भाषा में गुणात्मक परिवर्तन हो गया। नए सुबन्तों और तिङन्तों की रचना करके उसने अपने को

---

[१३१] धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास, भूमिका ७७-७८,

हिन्दी के बहुत निकट कर लिया। यहाँ तो ठीक है। परन्तु अन्य आधुनिक भाषाओं के दावे को क्या कहा जाय? इसके उत्तर में राहुलजी कहते हैं "हम जब इन पुराने कवियों की भाषा को हिंदी कहते हैं तो इस पर मराठी, उड़िया, बँगला, आसामी, गोरखा, पंजाबी, गुजराती भाषाभाषियों को आपत्ति हो सकती है। उन्हें भी उसे अपना कहने का उतना ही हक है जितना हिंदी भाषाभाषियों को।...वस्तुतः यह सिद्ध-सामंत युगीन कवियों की उपरोक्त सारी भाषाओं की सम्मिलित निधि है।" [१३२]

राहुलजी की उदारता श्लाघ्य है; परंतु उनके उद्धरणों और गुलेरीजी के उद्धरणों में अंतर है। गुलेरीजी ने केवल पश्चिमी भारत को अपभ्रंश के पद्य उद्धृत किये हैं जब कि राहुलजी ने पूर्वी भारत के अपभ्रंश कवियों को भी अपनाया है। अस्तु, गुलेरीजी जब उन्हें हिंदी कहते हैं तो उनका ध्यान पश्चिमी हिंदी की ही ओर अधिक है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि पश्चिमी हिंदी लगभग उसी प्रदेश में विकसित हुई जिसमें शौरसेनी अपभ्रंश चरम उत्थान कर चुका था। यहाँ राजस्थानी को पुरानी हिंदी की एक विभाषा के रूप में स्वीकार करना चाहिए। इस तरह राष्ट्र-भाषा अपभ्रंश का दाय भाग सबसे अधिक हिंदी को ही मिला। बँगला आदि के लिए नागर अपभ्रंश राष्ट्र-भाषा थी, जबकि हिंदी के लिए वह मातृ-भाषा भी थी। इसीलिए हिंदी का उस पर विशेष अधिकार है। यों तो अपभ्रंश के कुछ पद्य उद्धृत कर उससे किसी भी आधुनिक प्रान्तीय भाषा का संबंध सहज ही दिखलाया जा सकता है, तथापि व्यावहारिक और राष्ट्र-भाषा की परंपरा का ध्यान रखते हुए अपभ्रंश को 'पुरानी हिंदी' कहना अनुचित नहीं है।

---

[१३२] हिंदी काव्य धारा, अवतरणिका पृष्ठ १०

ध्वनि-विचार

§ २६. ध्वन्यात्मक दृष्टि से अपभ्रंश शब्द-समूह को अन्य म० भा० आ० से स्पष्टतः पृथक् करने वाली विशेषताओं का प्रायः अभाव-सा है। वस्तुतः म० भा० आ० भाषाशास्त्र में ध्वनि-विचार सबसे दुर्बल पक्ष है। हेमचन्द्र आदि प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृतों में जो ध्वन्यात्मक पार्थक्य दिखलाया है वह बहुत ही स्थूल तथा सामान्य है। उस समय आधुनिक ढंग के यांत्रिक परीक्षण के अभाव में वैज्ञानिक सूक्ष्मता संभव भी न थी। इसीलिए जहाँ तक अपभ्रंश का सम्बन्ध है, ध्वनि विचार से भी अधिक विश्वसनीय उसका 'पद विचार' है और 'पदमात्रों' (Morphemes) के ही आधार पर ध्वन्यात्मक विशेषताओं का अध्ययन सम्भव है। परन्तु उन पदमात्रों और पदों के उच्चारण तथा लेखन में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आज कोई साधन अवशिष्ट नहीं है। इसीलिए अनुलेखन पद्धति (Orthography) पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। जैसा कि सुनीति बाबू ने लिखा है भारत में 'अनुलेखन पद्धति' की परम्परा अत्यन्त रूढ़िवादी रही है। लोग प्रायः अपने समय की प्रचलित भाषा में न लिखकर आर्ष और प्राचीनतर ध्वनियों और व्याकरण का अनुगमन करते रहे हैं[१२९]। अस्तु, यह कहना कठिन है कि अपभ्रंश के प्राप्य पाठों की 'अनुलेखन पद्धति' स्वयं उसीकी है या प्राकृतों की। अपभ्रंश की 'अनुलेखन पद्धति' मे एक और बाधा उपस्थित हो गई। यह परवर्ती जैनाचार्यों के कारण आई। मध्यग व्यंजनों के लुप्त होने पर कहीं-कहीं तो 'अ' रहने दिया गया है और किसी संप्रदाय ने कड़ाई से वहाँ 'य' श्रुति कर देने का नियम पालन किया। कुछ

[१२९] इंडो आर्यन एंड हिंदी, पृष्ठ ८५

लोगों ने उसे पूर्व स्वर अथवा व्यंजन के साथ सन्धि कर देने की स्वच्छंदता दिखलाई। वर्तनी की अनिश्चितता अपभ्रंश और प्राचीन हिंदी दोनों ही के ध्वन्यात्मक अध्ययन में बाधक है। इसलिए कोई नियम बनाना ख़तरे से खाली नहीं। हिंदी की वर्तमान अवस्था (खड़ी हिंदी) में तत्सम शब्दों को ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि केवल तद्भव शब्दों का इतिहास जानने में ही अपभ्रंश 'ध्वनि विचार' सहायक हो सकता है।

§ ३०. वर्णमाला—

अपभ्रंश में प्राकृतों के लगभग सभी स्वर सुरक्षित थे, ह्रस्व ए (ऍ और ह्रस्व ओ (ओॅ) दो नए स्वर अपभ्रंश ने नये जोड़े। प्राकृतों में ऍ और ओॅ नहीं थे। इनका प्रयोग छन्दानुरोध (Metrical accidency) से ही नहीं प्रतीत होता बल्कि ध्वन्यात्मक दुर्बलता का परिणाम मालूम होता है।

१ रक्खेज्जहु लो अहों अप्पणा बालहें जाया विसम थण। (हेम० ८।४।३६५-२) इन दो स्वरों क परंपरा हिंदी में भी आई।

१. गुपुत प्रगट जहँ जो जेॅहि खानिक। (तुलसी : मानस १)

२. जासु कृपा सोॅ दयाल। (तुलसी : मानस १

इसी प्रकार 'ऍक्का' शब्द बोली में ही नहीं बल्कि साहित्यिक खड़ी हिंदी में भी प्रयुक्त होता है। परन्तु 'ऍ' का प्रयोग पश्चिमी और पूर्वी हिंदी में भिन्न-भिन्न बलाघात से होता है। पछाँह में यह इतनी दुर्बल श्रेणी का हो जाता है कि 'इ' की तरह सुनाई पड़ता है। पछाँह में इसका उच्चारण 'इक्का' होता है। उर्दू की कृपा का ही यह फल हो सकता है। 'एक' के लिए 'इक' का प्रयोग उर्दू छन्दों में ख़ूब होता है।

ऋ : प्रा० भा० आ० के स्वरों में यही ऐसा है जो अपना मूल उच्चारण म० भा० आ० के आरंभ में ही खो चुका था। म० भा० आ० काल से स्वर समूह में 'ऋ' का स्थान नहीं रह गया। यों तो तत्सम शब्दों में हिंदी में भी इसका प्रयोग होता है, परंतु प्रायः इसका

उच्चारण 'रि' की तरह होता है। डा० तगारे ने अपभ्रंश में 'ऋ' संबंधी नाना विकारों और परिवर्तनों का देश कालिक (भौगोलिक और ऐतिहासिक) तुलनात्मक अध्ययन करके निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला है।[130]

१ आदि ऋ > अ—पश्चिमी अपभ्रंश की अपेक्षा पूर्वी अपभ्रंश में कम प्रचलित था, यद्यपि दोनों ही प्रदेशों में तीव्र गति से लुप्त हो रहा था।

२. आदि ऋ > इ—पूर्वी अपभ्रंश की निजी विशेषता थी और पश्चिमी अपभ्रंश में भी ४३% से ६६.६% तक हो चली थी।

३. आदि ऋ > उ-मुख्यतः औष्ठय तत्व के कारण।

४. प्रा० भा० आ० ऋ का दीर्घ स्वर में परिवर्तन जैसे कान्ह > कृष्ण प्रायः पूर्वी अपभ्रंश में छन्दानुरोध से।

५. मध्यग ऋ > इ पश्चिमी और पूर्वी दोनों अपभ्रंशों में प्रचलित।

अपभ्रंश 'ऋ-विकार' से हिंदी की तुलना करने से पूर्व प्रा० भा० आ० 'ऋ' का आधुनिक उच्चारण संपूर्ण भारत में प्रचलित उच्चारण के परिपार्श्व में विचारना अधिक समीचीन होगा। आज भी देश-भेद से 'ऋ' का उच्चारण विविध स्वरानुगामी है। द्राविड़ भाषा-भाषी देशों उकार तुल्य जैसे क्रुष्ण।

महाराष्ट्र में अकार तुल्य जैसे क्रष्ण और उत्तर भारत में इकार तुल्य जैसे क्रिष्ण। क्या हम इससे यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जिस प्रदेश में 'ऋ' का उच्चारण जिस स्वर का अनुगामी था उसमें 'ऋ' का विकार भी उसी स्वर में बहुलता से हुआ? इस प्रकार जैसा कि अपभ्रंश में भी या हिंदी में ऋ > इ का बाहुल्य होना चाहिए। यों तो इसके अपवाद भी कम नहीं हैं जैसे,

---

[130] हि० ग्रै० अप० पृष्ठ ४१

नृत्य = नाच　　　मृत्यु = मीचु　　　(अब, मौत)

गृह = घर　　　वृद्ध = बूद, बुड्ढा ।

परंतु इ वाले विकार अधिक हैं—

हृदय > हिय　　　दृष्टि > दीठ

तृण > तिन　　　पृष्ठ > पीठ

अमृत > अमिय　　　मातृ > माई

सदृश > सरिस　　　भ्रातृ > भाई

संयुक्त स्वरों अथवा संध्यक्षरों का उच्चारण बहुत पहले लुप्त होकर शुद्ध ए, ओ में बदल गया था अतः उनपर विचार करना अपेक्षित नहीं ।

व्यंजन—अपभ्रंश में ङ, ञ, न जैसे पंचम वर्णों और ष जैसे अघोष ऊष्म वर्णों को छोड़कर शेष सभी व्यंजन सुरक्षित थे । 'श' का प्रयोग केवल पूर्वी अपभ्रंश (सरह और कण्ह दोहा कोश) में ही मिलता है । 'न' के विषय में कुछ विवाद है । याकोबी तथा कुछ अन्य विद्वानों ने अपभ्रंश में 'न' को सुरक्षित माना है । परंतु वैज्ञानिक ढंग से पाठों का परीक्षण करने वाले आधुनिक विद्वानों ने प्रायः अपभ्रंश से 'न' को उड़ाकर 'ण' पाठ ही रखा है । प्रश्न यह है कि क्या अपभ्रंश में 'न' था ही नहीं ? राजस्थानी और पंजाबी में 'ण' का बाहुल्य देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि संभव है पश्चिमी अपभ्रंश में भी 'ण' की ही अधिकता रही हो । लेकिन गुजराती भी तो उसी अपभ्रंश की बेटी है जिसमें 'न' भी पर्याप्त मिलता है । यदि अपभ्रंश में 'न' नहीं था तो पश्चिमी हिंदी में कहाँ से आया । इसका समाधान कुछ लोग 'अनुलेखन पद्धति' के द्वारा करते हैं । उनका कहना है कि उर्दू लिपि के कारण खड़ी बोली तथा मध्ययुग में लिखे हुए ब्रज अवधी ग्रंथों से 'ण' उड़ गया और उसके स्थान पर सर्वत्र 'न' हो गया ।

जहाँ तक 'अनुलेखन पद्धति' का प्रश्न है अपभ्रंश और प्राचीन हिंदी दोनों में 'ष' का प्रयोग मिलता है । 'खंगार' के लिए 'षंगार

अपभ्रंश का ही उदाहरण है। वस्तुतः 'ष' का प्रयोग अघोष ऊष्म वर्ण के लिए न कर केवल महाप्राण कण्ठ्य वर्ण 'ख' के लिए किया जाता था, क्योंकि 'ख' को दग्धाक्षर समझकर लोग उसके स्थान पर 'ष' का ही प्रयोग करते थे। कबीर तुलसी, सूर आदि की प्राचीन पाण्डुलिपियों में प्रायः 'ख' के लिए 'ष' मिलता है जैसे 'देषूँ'।

§ ३१. *स्वर विकार*—

यद्यपि प्राकृत वैयाकरणों ने एक स्वर से अपभ्रंश के स्वर परिवर्तन की *अनियमितता* घोषित की है[१३१] तथापि वे साहित्यिक प्राकृतों के स्वर-परिवर्तन की मुख्य रूपरेखा के अनुगामी दिखाई पड़ते हैं। तगारे[१३२] आदि विद्वानों ने उन प्रवृत्तियों को संक्षेप में इस प्रकार लिखा है :—

१. अन्त्य स्वर-लोप। इसके अपवाद बहुत कम हैं।

२. उपान्त्य या उपधा स्वर की मात्रा को सुरक्षित रखना।

३. आदि अक्षरगत स्वर के अतिरिक्त प्रागुपद्य या प्रागुपान्त्य स्वरों का लोप। सर्व प्रथम स्वरों का क्षीण होकर-अ-में अवशिष्ट रहना और फिर य या व श्रुतियों में उच्चरित होना।

४ म० भा० आ० द्वारा प्राप्त आदि अक्षरों के गुण की सामान्यतः सुरक्षा।

५. आदि अक्षर में स्वर के क्षति पूरक दीर्घीकरण के साथ म० भा० आ० द्वारा प्राप्त द्वित्व व्यंजन का एक व्यंजन में अवशिष्ट रह जाना।

---

[१३१] 'अज्झलउ च बहुलम्' पुरुषोत्तम १७।१७। व्यंजनों के विषय में भी पुरुषोत्तम ने यही अनियमितता बतलाई है १७।६, जबकि औरों ने केवल स्वरों के विषय में कहा है। हेम०—'स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे' ८।४।३२६; त्रिविक्रम ३।३।६; मार्कण्डेय १७।६

[१३२] हि० ग्रै० अप० पृष्ठ ४६

तगारे ने यह भी लक्ष्य किया है कि ये आ० भा० आ० में भी पाई जाती हैं।

§ ३२. *अन्त्य स्वर लोप*—आ० भा० आ० से ही अन्त्य स्वर को ह्रस्व उच्चरित करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है क्योंकि शायद वह बलाघात हीन था। जैसे वैदिक यत्रा, तत्रा लौकिक संस्कृत में आकर यत्र, तत्र ही रह गए। म० भा० आ० काल में यह प्रवृत्ति बहुत आगे बढ़ गई। अपभ्रंश ने उसे जारी रखा।

पिय <प्रिया; पराइय <परकीया; संझ <संध्या

भुक्ख <बुभुक्षा; अवेज्ज <अविद्या।

हिंदी में भी अन्त्य स्वर के ह्रस्व उच्चारण की प्रवृत्ति बाढ़ पर है। अवधी का लघ्वंत उच्चारण प्रसिद्ध है जैसे घोड़ु या घोड़(परिचल घोड़ भुसहुले जाय।) पछाँह में यह प्रवृत्ति कम या नहीं है। विना > बिनु, विन पूरब और पछाँह दोनों जगह मिलता है। खड़ी बोली में अनेक शब्द ऐसे हैं जो लघ्वंत उच्चरित होते हैं, परन्तु उस तरह लिखे नहीं जाते। कौन्, मौन्, अनजान्, अंचल् प्रचलन् आदि शब्दों का उच्चारण ध्यान देने योग्य है। अवधी में जो 'चलिय करिय विसरामु' है वही खड़ी हिंदी में 'चलिए कीजिए विश्राम।' होगा।

शेष प्रवृत्तियाँ अति सामान्य हैं अतः उन पर विचार करना व्यर्थ है।

§ ३३. *सानुनासिकता*—प्रायः दो प्रकार की दिखाई पड़ती है। एक क्षति पूरक और दूसरी 'अकारण' कही जाती है। स्वरों की सानुनासिकता परवर्ती म० भा० आ की विशेषता है जो आ० भा० आ० काल तक विकसित होती रही। अन्त्यानुनासिक शब्द में जब अंतिम दो स्वरों का संकोच होता है तो वहाँ सानुनासिकता होती है; जैसे—

हउँ < अहकम् ; सइँ < स्वयम् ; अवसइँ, अवसें, अवसिँ < अवश्यम् नपुं० सामान्य बहु वचन का—आइँ < आनि और तृ० एक वचन एँ < एन इस प्रकार की सानुनासिकता के उदाहरण हैं। वर्गों के पंचम वर्ण अर्थात् ङ०, ञ, ण, न, और म का अनुनासिक

होना सामान्य नियम है।

जिसे सुविधा के लिए 'अकारण सानुनासिकता' कहते हैं वह वस्तुतः अकारण नहीं बल्कि 'असंलक्ष्य कारण' है। जैसे साँप < सर्प; साँस <श्वास; अश्रु > आँस; भौं < भ्रू।

हिंदी में बहुत दिनों तक इस सानुनासिकता की व्यवस्थित नियमावली पर विवाद होता रहा है जैसे 'गुपुत रूप प्रभु अवतरेउ, गए जान सब कोय।' (तुलसी) में 'गएँ' सानुनासिक हो या अननुनासिक। अपभ्रंश की परंपरा यहाँ सानुनासिकता का समर्थन करती है जैसे।

जे महु दिण्णा-दि अहडा दइएँ पवसन्तेण।

§३४. *निरनुनासिकता*

अप० : सिह < सिंह ; वीस < विंश ; दाढा < दंष्ट्रा ; पच्छाहुँ < पश्चात् हिंदी : उपर्युक्त निरनुनासिक शब्द यहाँ पाए जाते हैं।

§३५. *अन्य स्वर-विकार*—

प्रायः सभी भाषाशास्त्रियों ने आदिलोप, मध्यलोप, आद्यागम, मध्यागम, स्वरभक्ति, अपनिहिति, अभिश्रुति आदि धर्मनियमों के लिए प्राकृत, अपभ्रंश और हिंदी के उदाहरण एकत्र कर दिए हैं। परन्तु यथोचित विवेचन के अभाव में केवल कुछ उदाहरणों को भर्ती के लिए उद्धृत करने से कुछ नहीं होता। इनके आधार पर यह निश्चय करना कठिन है कि अपभ्रंश या प्राकृत ने किस सीमा तक हिंदी के ध्वनि निर्माण मे योग दिया है। अस्तु, केवल परिसंख्या को व्यर्थ और इस काम की वैज्ञानिक गहराई की गुरुता समझकर इनका विवेचन अपेक्षित नहीं समझते। प्रायः सभी लोगों ने पिशेल के ही उदाहरणों को पुनः-पुनः लिपि-बद्ध किया है, नए उदाहरण खोजने का कष्ट बहुत कम उठाया गया है। विषय की सीमा को देखते हुए उनकी गहराई में न जाना ही उचित प्रतीत होता है।

§ ३६. *य-व श्रुति*—

सि० हेम० ८।१।१८० 'अवर्णो य श्रुतिः, की टीका में हेमचन्द्र ने

लिखा है 'क ग च जेत्यादिना लुकि सति शेषः अवर्णः अवर्णात्परो लघु-प्रयत्नतरयकार-श्रुतिर्भवति।' अर्थात् अ और आ के बीच 'य' श्रुति होती है। फिर 'क्वचिद् भवति पियइ' कहकर उन्होंने 'इ' और 'अ' के बीच भी 'य' श्रुति माना है। 'प्राकृत सर्वस्व' में मार्कण्डेय ने 'अनादौ अदितौ वर्णौ पठितव्यौ यकार वदिति पाठशिक्षा।' लिखा है। जैन लेखकों ने 'य' श्रुति का भलीभाँति पालन किया है। 'लघुप्रयत्नतर' होने के कारण यह मुखसुख की दृष्टि से भी उचित है। जहाँ तक हिंदी का प्रश्न है यहाँ भी 'य' श्रुति की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, परन्तु पछाँह में ही इसका बाहुल्य है। पूर्वी प्रदेशों में 'व' श्रुति की ओर विशेष झुकाव जान पड़ता है। पछाँह मे 'जायँगे' कहेंगे तो पूरब में जावँगे। फिर भी 'य' और 'व' परस्पर विनिमेय है। 'जीवन' के लिए 'जीयन' अथवा 'जियन' का प्रयोग पूर्वी देशों में भी मिलता है।

'जियनि मूरि सम जोगवत रहेऊं।'—तुलसी।

§ २७. व्यंजन विकारः—

सामान्यतः प्राकृतों की तरह अपभ्रंश में भी आदि व्यंजन को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति थी। हिंदी आदि आ० भा० आ० में भी वह परंपरा जारी रही। परन्तु अपभ्रंश की तरह अपवाद यहाँ भी मिलते रहे। या तो परवर्ती ह-या ऊष्म ध्वनि के प्रभाव से आदि व्यंजन भी महाप्राण हो जाता है जैसे, भाप ∠ बाष्प, घर ∠ गृह; अथवा मूर्धन्य ध्वनि के प्रभाव से वह दन्त्य से मूर्धन्य हो जाती है जैसे, डँसना ∠ √ दंश, प्राकृतों की तरह अपभ्रंश में भी अन्त्य व्यंजन लोप की प्रवृत्ति वर्तमान रही। परंतु आगे चलकर हिंदी आदि आ० भा० आ० में अस्पष्टता के कारण यह प्रवृत्ति कुछ कम हो गई। गत और गज दोनों हो'गय' होने लगे अतः धीरे-धीरे स्पष्टता के आग्रह ने इस लोप की प्रवृत्ति को दूर किया। यद्यपि अवधी में 'हय गय चीर' जैसे प्रयोग होते रह, परंतु ये वैकल्पिक और प्राचीन रूप ही समझे जाते थे। प्रा० भा० आ० के

वेघस्, मनस्, पयस् आदि शब्दों के अन्त्य व्यंजन, जो प्राकृतकाल से ही लुप्त थे, हिंदी में भी लुप्त रहे।

§ ३८ *महाप्राणकरण*—

अप०-खिल्लियइँ <कीलकाः; झल् <√ज्वल् इसी से संबद्ध झलफल, झलमल झलक आदि शब्द। हिंदी में 'झल्' की अपेक्षा 'झर' शब्द अधिक प्रचलित था (रलयोरभेदः)।

झर हू मिटै न झार। (विहारी 'रत्नाकर' पृष्ठ ३६)

हिंदी में अपभ्रंश की ही तरह अनादि महाप्राणकरण कम होता है जैसे वट <वट्ठ; धन्धा <द्वन्द्व (?)। यह शब्द 'काम' के अर्थ में हिंदी में भी प्रचलित है। क्या 'धीग धरमध्वज धंधक (धंधरक) धोरी।' (तुलसी) के 'धंधक' को 'द्वन्द्वक' से संबद्ध कर सकते हैं? पछाँह वाले महाप्राणकरण की ओर उतने नहीं झुकते। वे 'धन्दा' कहना अधिक पसंद करते हैं, 'धन्धा' नहीं कहते।

महाप्राणकरण ठीक उलटा *अमहाप्राण करण* (deaspiration) भी होता है। अप० कुहिय < ×खुहिय <क्षुभित; संकल <शृंखला; बहिणि <भगिनी। अपभ्रंश में महाप्राणकरण की प्रवृत्ति इससे अधिक है। तगारे का अनुमान है कि यह प्रवृत्ति या तो अवावयर्य के कारण आई है या वर्ण विपर्यय के कारण।[१३२]

अपभ्रंश का 'भुक्ख' हिंदी में 'भूख' हो जाता है (क्षतिपूरक दीर्घीकरण के द्वारा। परंतु पछाँह में इसका रूप 'भूक' होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पछाँही हिंदी में महाप्राण को अल्पप्राण करने की प्रवृत्ति अधिक है। शायद यह उर्दू का प्रभाव हो। जैसे धोखा = धोका; पौधा = पौदा; ठंढ = ठंड; ठंढक = ठंडक। इसी तरह संस्कृत कनिष्ठ, कुष्ठ, कोष्ठ और घनिष्ठ शब्दों को वहाँ कनिष्ट, कुष्ट, कोष्ट और घनिष्ट कर देते हैं।[१३३]

---

[१३२] हि० ग्रै० अप० ७० [१३३] वाङ्मय विमर्श पृष्ठ ५३६

बँगला और मराठी मे भी कुछ-कुछ यह दशा है। मध्य > अप० मज्झ > माझ (हि०) > माज (मराठी) > मेज (बंगला)। हिंदी मझली मौसी बँगला में 'मेज माशी' कहलाती है।

§ ३९. *मूर्धन्यीकरण*—

अपभ्रंश में निम्नलिखित परिस्थितियों में दन्त्य व्यंजन मूर्धन्य होता है।[134]

१. जब ठीक 'ऋ' के पहले हो　÷　उडु < ऋतु
२. जब कुछ अंतर पर पहले र हो　—　पढम < प्रथम
३. जब ठीक पहले र हो　सड्ढ < सार्ध
४. ठीक बाद र हो　विट्टाल < अपवित्र
५. (क) अकेला और मध्यग दन्त्य वर्ण　निवड < निपत
५. (ख) दित्व और मध्यग दन्त्य वर्ण　अट्ठि < अस्थि
५. (ग) आदि दन्त्य　ठड्ढ < स्तब्ध
६.　आदि और मध्यग न, ल

अतिम परिस्थिति को छोड़कर शेष सबमे हिंदी भी अपभ्रंश की तरह दन्त्य वर्णों को सुरक्षित रखती है और कभी-कभी मूर्धन्य कर देती है। परतु आदि और मध्यग न, ल के मूर्धन्य रूप 'ण' औ 'ळ' मराठी और राजस्थानी मे विशेष मिलते हैं।

§ ४० *मध्यग व्यंजन*—

प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार मध्यग स्पर्श वर्ण घोष हो जाते हैं जैसे क, त, प; ग, द, ब हो जाते हैं[135] और ख थ फ घ ध भ हो जाते हैं।[136] परंतु अपभ्रंश मे ये प्रवृत्तियाँ वैकल्पिक रहीं। दो स्वरों

---

[134] हि. ग्रै. अप. ७०

[135] पु० १७।१।१३; हेम० ८।४।३९६; त्रि० ३।३।२, कि० ५।१; मार्क० १७।२

[136] वही।

के बीच में आने वाले क, ग, च, ज, त, द प्रायः लुप्त हो जाते हैं। ऐसे कम उदाहरण हैं जब क, च, त घोष होते हों और प भी कभी ही कभी 'व' होता है। अपभ्रंश कवियों का झुकाव इन स्वरद्वयान्तर्गत स्पर्शवर्णों को या तो लुप्त कर देने की थी या श्रुति कर देने की। प्राकृत वैयाकरणों के निर्देशानुसार उन्होंने वर्णों को ग, ज, द में बदलने की ओर उतना ध्यान नहीं दिया।

इसी प्रकार स्वर द्वयान्तर्गत महाप्राण स्पर्श वर्ण ख, घ, थ, ध, फ, भ भी प्रायः ह् हो जाते थे। ऐसा बहुत कम होता था कि ख, थ, फ क्रमशः थ, ध, भ म बदलें। वस्तुतः स्वयं प्राकृतों में भी इस विषय में विभिन्नता है। महाराष्ट्री मे 'लोप' और 'ह' वाली प्रवृत्ति है जब कि शौरसेनी में 'घोष' आर महाप्राण करने की। श्री मनमोहन घोष ने इसी आधार पर अनुमान लगाया है कि शौरसेनी प्राचीन प्राकृत है और महाराष्ट्री उसकी उत्तराधिकारिणी है।[१३७] जो हो, अपभ्रंश प्राकृत वैयाकरणों की अपेक्षा प्राकृत साहित्य को अनुसरण करती जान पड़ती है।

§ ४१. मध्यग—म—

यद्यपि म > वँ विकार हेम० ८।४।३६७ द्वारा अपभ्रंश की निजी विशेषता कहा गया है तथापि अर्धमागधी, महाराष्ट्री तथा जैन महाराष्ट्री जैसी प्रारम्भिक प्राकृतों में भी पाया जाता है।[१३८] अतः इसे अपभ्रंश की निजी विशेषता नहीं मान सकते। अपभ्रंश ने—म—को प्रायः सुरक्षित रखा। भ्रमर>भवँर; कमल> कवँल जैसे वैकल्पिक रूप भी मिलते हैं। अपभ्रंश में मध्यग—म—के लोप की भी क्षीण प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इसका एक प्रमाण अवधी में मिलता है। निमि∠ निमित्त; 'निति' का 'नेते' भी हो जाता है।

---

[१३७] कर्पूर मंजरी, भूमिका

[१३८] पिशेल, ग्रै० § २५१

१. मोहिं निति पिता तजेउ भगवाना। (तुलसी : मानस)
२. मीन जिअन निति वारि उलीचा। (तुलसी : मानस)

§ ४२. संयुक्त व्यंजन—

क्ष: पश्चिमी अपभ्रंश में क्ष>छ, च्छ (प० हिंदी) पक्षी>पच्छी, पंछी पूर्वी अपभ्रंश में क्ष>ख (पू० हिं० और बंगला) पक्षी>पाखी

त्व : >पू० अप० आदि में तु; जैसे तुहुँ<त्वं; मध्यग 'त्त' >प० अप० प, प्प, व; जैसे पइँ<त्व
हिंदी में पू० अप० वाली प्रवृत्ति विशेष मिलती है।

द्व: >ब या व; बारह<द्वादश; बार<द्वार; बे<द्वे।

संयुक्त र प्राकृत वैयाकरणों ने पर—र को सुरक्षित माना है विकल्प से। यद्यपि प्राण, प्रिय, पावडि, प्राउ, प्राइव, प्रभु, जैसे र युक्त शब्द मिल जाते हैं तथापि सावर्ण्य द्वारा र लोप की प्रवृत्ति विशेष। हिंदी में भी तत्सम शब्दों को छोड़कर अन्यत्र—र लोप का ही बाहुल्य है। चक्रवर्ती > चक्कवइ > चक्कवै। कार्य > कज्ज > काज या कारज आदि।

§ ४३. र का आगम—

प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार व्यंजन में 'र' का आगम अपभ्रंश की अपनी विशेषता है[१३९] सि० हेम० में प्रस्सदि < पश्यति (८।४।३९३, भ्रंत्रि < भ्रान्ति (८।४।३६०) त्रास < व्यास (८।४।३९९) आदि उदाहरण मिलते हैं। अन्य वैयाकरणों ने भी उदाहरण दिए हैं। हिंदी में श्राप < शाप जैसे कुछ उदाहरण अवश्य मिलते हैं, परन्तु पृथ्वीराज रासो में इस तरह के शब्दों का बाहुल्य है। शायद 'र' का आगम भाषा को संस्कृत की उदात्तता प्रदान करने के लिए होता है।

---

[१३९] पु० १७।१४, हेम० ८।४।३९९, त्रि० ३।३।६ मार्क० १७।३

§४८. अन्य व्यंजन विकार—

ल के साथ द, ड, र और न तथा ब, व और म का परस्पर विनिमय प्राकृतकाल से ही चला आ रहा है। इसी प्रकार व्यंजन विपर्यय और व्यञ्जन-द्वित्व की भी प्रवृत्ति अपभ्रंश के लिए नई नहीं है। हिंदी ने कुछ सीमा तक इन्हें अपनाया है। ये उदाहरण इतने बासी हो चुके हैं कि उनकी उद्धरणी व्यर्थ है।

साराश यह कि अपभ्रंश ने ध्वनिविकार की प्राकृत प्रवृत्तियों की सरलता का ध्यान रखते हुए हिंदी को भी प्रदान करने का प्रयत्न किया है।

पद-विचार

(नाम-रूप)

§ ४५. पद विचार ही ऐसा पक्ष है जिसमें अपभ्रंश विशेष रूप से प्राकृतों से भिन्न तथा हिंदी आदि आ० भा० आ० के निकट दिखाई पड़ती है। भा० आ० के पदविकास का सिंहावलोकन करने से पता चलता है कि निरन्तर कमी और एकरूपता (Reduction and regularisation) की ओर अग्रसर हो रही है। अपभ्रंश का पदविन्यास प्राकृतों के बाद का सोपान ज्ञात होता है। इसलिए उसे हिंदी आदि आ० भा० आ० के पद-निर्माण की पृष्ठभूमि समझनी चाहिए।

§ ४६ *प्रातिपदिक*:—

प्रा० भा० आ० काल के व्यंजनान्त प्रातिपदिक कुछ तो प्राकृत में ही कम हो गए थे और वे अपभ्रंश तक आते-आते अदृश्य हो गए। यद्यपि त्, न्, स्, व्यंजनान्त प्रातिपदिकों के कुछ अवशेष जैसे बंभाण < ब्रह्माणः; रायाणो < राजानः; वइणो < व्रतिनः आदि अपभ्रंश में दिखाई पड़ जाते हैं तथापि उन्हें अपवाद और प्राचीन परंपरावहन मात्र समझना चाहिए। व्यंजनान्त प्रातिपदिकों में अपभ्रंश ने कई स्थलों पर दो प्रकार से हेरफेर किया:—एक तो उनका अन्त्य व्यंजन छोड़ दिया; जैसे मण < मनस्; जग ∠ जगत्, अप्प < आत्मन्, मणहारि < मनोहारिणी आदि। दूसरे, अन्त्य व्यंजन में अकार मिला दिया और स्त्रीलिंग—आ का—इ कर दिया। जैसे जुवाण < युवन् आउस < आयुष्, अप्पण < आत्मन्। यही नहीं ऋकारान्त प्रातिपदिक को 'अर' कर लिया। जैसे-पियर < पितृ, भायर < भातृ, भत्तार < भर्तृ, भाइ

< भातृ, ससु < स्वसृ, माइ < माई आदि। अत्-अन्ती वर्तमान कृदन्त और वत्-अन्ती प्रातिपदिकों के-'अन्त' और—'वन्त' हो जाते। कभी-कभी मत्—मन्त का भी—'वन्त' हो जाता था। कभी प्राकृत के अनुसार—त् का भी त्याग कर दिया जाता था; जैसे भगव < भगवत्।

हिंदी में उपर्युक्त सभी विशेषताएँ सरलीकृत रूप में अपनाई गईं। यहाँ स्वरांत और व्यंजनान्त प्रातिपदिक-भेद ही मिटा दिया गया।

§ ४७ अपभ्रंश में स्वरांत प्रातिपदिकों में भी न्यूनता तथा एकरूपता की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। सिद्धान्ततः केवल तीन प्रकार के प्रातिपदिक रह गए—अ-इ-उकारान्त। परंतु व्यवहारतः इनमें भी अकारान्त प्रातिपदिक की ही प्रधानता रही। अकारान्त प्रातिपदिक के विभक्तिक प्रत्यय जो थोड़े बहुत प्रा० भा० आ० के विस्तृत रूप विधान से बच पाए थे, (जैसे तृतीया—एँ,—ए ष० एकव०—अह,—आह, सप्त०—हिँ,-हि और ष० बहुव०—ण) अन्य प्रकार की प्रातिपदिक-संज्ञाओं के साथ भी जुड़ जाते थे। इस संयोग में तत्सम, तद्भव अथवा-इ,-उ कारान्त का भेद नहीं किया जाता था (क्यों कि विकारी रूप में वे—अकारान्त की ही तरह समझे जाते थे।) हिंदी आदि आ० भा० आ० ने उनमें से कतिपय रूपों का अपभ्रंश से ग्रहण किया और आवश्यकता पड़ने पर इस झंझट को भी छोड़कर कारक संबंध प्रकट करने के लिए परसर्गों का विकास किया। परंतु आरंभिक अवस्था में यदि हिंदी आदि आधुनिक भाषाओं में संज्ञा के भी रूप मिलते हैं तो केवल विकारी रूपों में और सबमें एकरूपता भी दिखाई पड़ती है।

एकीकरण की यह प्रवृत्ति इस छोर तक पहुँच गई थी कि अपभ्रंश में—ई,-आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों को भी ह्रस्वान्त कर दिया जाता था। जैसे कील < क्रीड़ा, सियय < सिकता, पडिम < प्रतिमा, पुज्ज < पूजा; वेणि, < वेणी, मालइ < मालती सयलिंधि < सैरन्ध्री; किंकरि < किंकरी। जिंभा < जिह्वा जैसे रूप को वैकल्पिक ही समझना चाहिए। कभी-कभी—आकारान्त को भी—

इकारान्त में ह्रस्वित कर दिया जाता था। जैसा निशि < निशा, कहि < कथा।

तात्पर्य यह कि स्वरांत और व्यञ्जनात प्रातिपदिकों के सूक्ष्म भेद सम्बन्धी जो दुरुहता प्रा० भा० आ० काल में वर्तमान थीसे उस अपभ्रंश ने बहुत कुछ दूर करके हिंदी के लिए रास्ता साफ किया।

§ ४८. *लिंग विधान :—*

प्राकृत वैयाकरणों[१४०] को अपभ्रंश में लिंग सम्बन्धी इतनी अव्यवस्था दिखाई पड़ी कि उन्होंने उसे 'अतंत्र' घोषित कर दिया। पिशेल[१४१] ने ठीक ही कहा है कि अन्य सभी बोलियों की अपेक्षा अपभ्रंश में लिंग-विधान बहुत अस्थिर है, यद्यपि जैसा कि हेम० ८।४।४४५ के कथन से आभासित होता है यह बिल्कुल अव्यवस्थित नहीं है। लिंग विधान की यह अव्यवस्था अपभ्रंश-काल से बहुत पहले प्रा० भा० आ० से ही शुरू हो गई थी। अशोक-अभिलेख, पालि और प्राकृतों में भी इस प्रकार की लिंग सम्बन्धी शिथिलता मिलती है। परन्तु पूर्वी अपभ्रंश में पश्चिमी अप० की अपेक्षा लिंग-भेद तथा लिंग-विवेक कम दिखाई पड़ता है सरह और कण्ह के दोहों की लैङ्गिक शिथिलता बँगला आदि भावी पूर्वी आ० भा० आ० को प्रभावित करती रही। यह लिंग-भेद वास्तविक नहीं बल्कि व्याकरणिक होता है। इसलिए बहुत सम्भव है कि इनको शब्द रूपों की एकरूपता ने विशेष प्रभावित किया है। प्रा० भा० आ० में भी कई स्थलों पर किसी शब्द के लिंग की अपेक्षा उसका 'अन्त' रूप-प्रणाली को प्रभावित करता दिखाई पड़ता है। अपभ्रंश के पद-विन्यास के कारण ही नपु० लिंग लुप्त हो गया। इ-उकारान्त पुं० और स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों के अनेक रूप एक

१४० पु० १७।२१, हेम० ८।४।४४५, त्रि० ३।४।६७, मार्क० १७।६
१४१ ग्रे० § ३५६

समान है। इसके सिवा आकारान्त स्त्रीलिंग प्रातिपदिक अकारान्त की भाँति हो गए। फलतः पुल्लिंग रूपों के अपनाने का रास्ता खुल गया।

§ ४६. अपभ्रंश में–आ,–ई,–ऊकारान्त प्रातपदिकों में लिंग संबंधी कोई कठिनाई नहीं है। उनका लिंग प्रा० भा० आ० में चाहे जो रहा हो, परंतु अपभ्रंश में वे सभी स्त्रीलिंग थे। जैसे वट्ट <वत्मन् (नपुं०), अंत्रडी<अन्त्र (नपु०)।–आ,–ई–ऊकारान्त तत्सम और तद्भव शब्द स्वभावतः स्त्रीलिंग थे जैसे राहा (राधा), रमा (तत्सम) लच्छी (लक्ष्मी), बहू (वधू)। वास्तविक कठिनाई अ-इ-उकारान्त प्रातपदिकों के लिंग संबंधी है क्योंकि इन अन्तों वाले शब्द सभी लिंगों में होते हैं। अकारान्त प्रातपदिकों में से एक रूप इस प्रकार का है—नपुं० कुम्भइँ= पुं० कुम्भान्। नपुं० रहइँ = स्त्री रेखा; नपुं० अम्हइँ = उभयलिंग अस्मे। इस प्रकार अपभ्रंश में लिंग विपर्यय के उदाहरण अनेक हैं।

§ ५०. हिंदी में चूँकि शब्द-रूप नहीं होता इसलिए विभिन्न स्वरांतों से लिंग-निर्णय की आवश्यकता नहीं पड़ती। हिंदी में केवल व्याकरणिक लिंग मिलते हैं। इस प्रकार व्याकरण की दृष्टि से यहाँ पुं० और स्त्री० दो ही लिंग हैं, नपुं० लिंग लुप्त है। परंतु गुजराती और मराठी में आज भी (सभवतः द्राविड़ भाषाओं के प्रभाव से) तीन लिंग पाए जाते हैं।

§ ५१. लिंग विधान के क्षेत्र में विशेषणों और संबंध-सूचक परसर्गों संबंधी लिंग परिवर्तन का भी विचार कर लेना समीचीन होगा। संस्कृत में विशेषण-विशेष्य का लिंगानुसारी होता है; जैसे सुन्दरी भार्या। परन्तु हिंदी में इस नियम का कड़ाई से पालन नहीं होता। जैसे सुन्दर पुरुष और सुन्दर स्त्री दोनों ही लिंगों में विशेषण पुल्लिंग है। लाल टोपी और लाल घोड़ा। परन्तु 'काली टोपी' और 'काला घोड़ा' जैसे उदाहरण भी मिलते हैं। इस प्रकार अपभ्रंश में जहाँ—केर परसर्ग के बाद स्त्रीलिंग और पुल्लिंग दोनों संज्ञायें रहती थी वहाँ हिंदी—का में संबंधवान के अनुकूल लिंग प्रभाव दिखाई पड़ने लगा। जैसे इसका लड़का, इसकी लड़की। करं, केर परसर्ग

में लिंग प्रभाव का कारण संभवतः इसलिए है कि उसका संबंध भूत-कालिक कृदन्त विशेषण 'कृत' से है और विशेषणों पर लिंग प्रभाव अनिवार्य है। यों तो कृदन्त विशेषण पर लिंग-प्रभाव का भ्रान्त निर्वाह आधुनिक युग के आरंभ में इंशा अल्ला खाँ में भी मिलता है जैसे 'आतियाँ जातियाँ', तथापि परिनिष्ठित हिंदी में यह प्रवृत्ति नहीं मिलती।

§ ५२ वचन

यद्यपि भारोपीय और भारतीय ईरानी भाषा की भाँति प्रा० भा० आ० में तीन वचन थे, तथापि म० भा० आ० की प्रारंभिक अवस्था में ही द्विवचन लुप्त हो चुका था अशोक के अभिलेखों में बहुवचनान्त संज्ञा के पूर्व 'द्वि' का प्रयोग करके द्विवचन की अभिव्यक्ति की गई है; जैसे दुवे मोरा (गिरनार १४)[१४२]। यही दशा पालि और प्राकृतों में भी दिखाई पड़ती है। अपभ्रंश में भी द्विवचनत्व के बोध के लिए 'द्वि' शब्द का प्रयोग किया जाता था। जैसे निम्नलिखित संज्ञायें बहुवचन हैं।

१. *थियइँ* वेवि गनजोत्तिय गत्तइँ : भ० क० ८५।४

२. *अवराह दोण्णि* अज्जवि खमिसु : क० च० २।१८।३

हिंदी आदि आ० भा० आ० में भी यही बात दिखाई पड़ती है।

१. पुर पूरब दिसि गे दोउ भाई। (रा० मा०)

२. दुइ बरदान भूप सन थाती। (रा० मा०)

आदरार्थे बहुवचन (Honorific plural) का प्रयोग अपभ्रंश की ही विशेषता नहीं है क्योंकि वह तो प्रा० भा० आ० में भी मिलता है और आगे चलकर आ० भा० आ० में भी मिलता है।

§ ५३. अपभ्रंश काल तक आते-आते प्राचीन (प्रा० भा० आ० > म० भा० आ०) बहुवचन प्रत्यय लुप्त हो चुके थे; जैसे :— प्रा० भा० आ० पुत्र :—पुत्रा. > म० भा० आ० पुत्तो, पुत्ते, पुत्ता >

---

[१४२] तगारे, हिस्टा० ग्रै० अप० पृष्ठ १०६ § ७७

परवर्ती म० भा० आ० या अप० पुत्तु, पुत्ति, पुत्त > आ० भा० आ० पूत्, × पूति, पूत। अस्तु हिंदी आदि आ० भा० आ० में बहुवचन प्रकट करने के लिए नए उपाय खोजे जाने लगे, परन्तु आरम्भिक दिनों में एकवचन और बहुवचन रूपों में कोई अन्तर नहीं था; केवल प्रसंग से ही उनकी भेदकता स्पष्ट हो जाती थी।

'वर्ण रत्नाकर'[१४३] की आरम्भिक मैथिली में विशेषणों तथा भूत कृदन्तों को बहुवचन बनाने के लिए—*आह* प्रत्यय का प्रयोग होता था; जैसे अनेक बालबोल से अनुआह, से कहसनाह, तरुणाह, नोनुआह, वलिआह, शूराह...तकाउत्तीर्णाह (पृष्ठ १६-२०)।

यह—*आह* अपभ्रंश की षष्ठी एकव० प्रत्यय (=अस्य प्रा० भा० आ०) प्रतीत होती है जिसका विस्तार बहुवचन के लिए भी हुआ है। (डा० चैटर्जी) परन्तु इसे पुं० अकारान्त के संस्कृत बहुव० विसर्ग पूर्वक आकारान्त से भी संबद्ध कर सकते हैं। हिंदी में इस प्रकार के प्रयोग नहीं मिलते। परन्तु षष्ठी एकवचन प्रत्यय का प्रयोग बहुवचन के लिए अनहोनी बात नहीं। बँगला में—*एरा* लगाकर बहुवचन बनाया जाता है जो षष्ठी एक वचन—*एर < केर* (अप०) से संबद्ध है। भोजपुरिया में *हमनीका, तोहनीका* इस प्रकार के उदाहरण हैं। फिर भी आधुनिक मैथिली में—आह प्रत्यय का प्रयोग केवल आदरार्थ बहुवचन के लिए ही सीमित रह गया है (डा० चाटुर्ज्या)।

पुरानी हिंदी में किसी कारक के बहुवचन के लिए बिना भेद के—न, -ह, न्हि प्रत्यय का प्रयोग होता था। आधुनिक हिंदी में—ए, एँ, ओं, इयाँ रूप बहुवचन के लिए मिलते हैं जिनमें से द्वितीय और चतुर्थ स्त्रीलिंग शब्दों के लिए आते हैं और शेष पुल्लिंग के लिए। पंडितों ने इन आधुनिक प्रत्ययों को प्राचीन-प्राचीन बहुवचनीय प्रत्ययों

---

[१४३] चैटर्जी, वर्णरत्नाकर, अंग्रेजी भूमिका पृष्ठ ४७

का ही विकास कहा है। बहुवचन के लिए —न, न्ह,—न्हि का प्रयोग 'वर्णरत्नाकर' और कीर्तिलता के ही समय से मिलता है। —'न्हि' को डा० चाटुर्ज्या ने तृतीया बहुवचन प्रत्यय के रूप में समझा है और उसे तृतीया एकव० अप० —*हि* < प्रा० भा० आ० *भिः* तथा षष्ठी बहुव० प्रत्यय — *ण* < *आनाम्* (प्रा० भा० आ०) का संयुक्त रूप माना है। कभी-कभी — न्हि का प्रयोग बहुवचन *अंग* (oblique) के लिए हुआ है जिसके आगे षष्ठी — क भी जोड़ा जाता था।

१. उल्का *मुखन्हिक* उद्योत। *खद्योतन्हिक* तरंग। *युवतिन्ह क* उत्कंठा। (वर्णरत्नाकर)

हिंदी

१. उन *बानन्ह* अस को जो न मारा। (जायसी)

उक्त-'न्हि' के हिंदी में अनेक रूप मिलते हैं—'न्ह' भी उन्हींमें से एक है। वस्तुतः यह तृतीया का रूप है। 'न्ह' को 'न', 'नु', 'नि' वाले बहुवचन रूपों से भिन्न समझना चाहिए क्योंकि उसका प्रयोग 'कर्मणि' और इनका 'कर्तरि' होता है। यह विचारणीय है कि कई स्थलों पर जहाँ—'नि' होना चाहिए रत्नाकरजी ने वहाँ (बिहारी सतसई में)—'नु' कर दिया है। जैसे 'हंगनि' के लिए 'हंगनु'। बहुवचन प्रत्यय—'न' की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से बताई जाती है।

१. कर्ता कर्म बहुवचन—आनि से। जैसे फलन < फलानि।

२. समूह वाचक 'जन' या 'गण' से। जैसे कबिन < कवि जन।

३. षष्ठी बहुवचन—आनां से है।

अंतिम मत अधिक संगत प्रतीत होता है।

§ ५४. कारक-विभक्ति

विभक्तियों की संख्या में ह्रास के लक्षण पालि और प्राकृत काल से ही दिखाई पड़ने हैं। परंतु अपभ्रंश में ह्रास बहुत आगे बढ़ गया। यहाँ आकर कर्ता-कर्म और संबोधन के रूप एक से हो गए। चतुर्थी (संप्रदान) और षष्ठी (संबंध) का मिश्रण तो पालिकाल से ही

हो गया था (और कभी-कभी प्रा० भा० आ० में भी)[१४४] अपभ्रंश काल में लगभग १००० ईस्वी के बाद पंचमी भी इस समूह में आ मिली। इसके सिवा तृतीया और सप्तमी के रूपों में भी एकरूपता आ चली थी और थोड़े से वैकल्पिक रूपों के बावजूद भी अपभ्रंश-काल समाप्त होते-होते तृतीया सप्तमी का एकीकरण पूरा हो चुका था। स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों में तो तृतीया-सप्तमी तथा चतुर्थी षष्ठी-पंचमी समूह के रूपों में भी साम्य दिखाई पड़ता है। परंतु कुल मिलाकर इन दोनों समूहों में अंत तक भेद बना रहा। इस प्रकार अपभ्रंश-काल में कारकों के तीन मुख्य समूह दिखाई पड़ते हैं—

(क) प्रथमा द्वितीया और सम्बोधन।

(ख) तृतीया और सप्तमी।

(ग) चतुर्थी-षष्ठी और पचमी।

हिंदी आदि आ० भा० आ० में ये तीन समूह क्रमशः टूटकर केवल दो विभक्ति-रूपों में शेष रह गए—

१ सामान्य कारक (Direct case)

२. विकारी कारक (Oblique case)

इस परिवर्तन और विकास का इतिहास निम्नलिखित है।

§ ५१. *प्रथमा-द्वितीया-सबोधन समूह*

अपभ्रंश एक वचन में पुत्तु, पुत्त, पुत्तो, पुत्तउ और पुत्तउं कुल पाँच रूप होते हैं। कुछ अन्य वैकल्पिक रूप—एकारान्त,-आकारान्त,-ह, हो, हों कारान्त।

सामान्य कारक में—एकारान्त रूप पूर्वी अपभ्रंश की विशेषता है। सरह और कण्ह में सुभए, परिपुण्णए, भंगे, साहावे, परमत्थये आदि रूप मिलते हैं। इसे मागधी का—ए प्रभाव कहा जा सकता है। तगारे

---

[१४४]. स्पेयर, वैदिक संस्कृत सिंटैक्स §§ ४१, ७१-२ (ब्यूल्स ब्लाक द्वारा एफ० एल० एम० § ८१ में उद्धृत)

का अनुमान है कि संभव है इसका संबंध इसी कारक में अयुक्-ऑक (> — अय > — ए) प्रत्यय से हो। इस प्रकार मकरन्दए < मकरन्दक (कयह), होमे < होमक, अव्यासे < अभ्यासक (सरह) की व्याख्या की जा सकती है। डा० तगारे की पूर्वी अप० में मागधी—ए का बना रहना भाषावैज्ञानिक दृष्टि से खटकता है क्योंकि म्भा० आ० में ऐसे विभक्तिक रूपों में ह्रास की ओर ही अधिक प्रवृत्ति रही है। परंतु हमारी समझ से इसमें खटकने की कोई बात नहीं, क्योंकि बँगला और पुरानी अवधी (जो पूर्वी भाषा समूह की ही एक शाखा है) प्रथमा में—ए के सुरक्षित रहने के उदाहरण काफी मिलते हैं।

१. मानुषे कि ना करे (बँगला)
२. मुए तहाँ (जायसी)
३. राजै कहा बहुत दिन लाएं जायसी पृष्ठ ६६

सर्वनाम में भी जे, से रूप संभवतः इसी-एकार का प्रभाव है। भोजपुरिया में संबोधन में भी—एकारान्त का प्रयोग मिलता है। जैसे चल ऽ लोगे। चलऽसबे (सभे)।

§ ५६. हेम० ८।४।३३० के उदाहरण के अनुसार प्रथमा एकवचन में—आकारान्त रूप भी मिलते हैं। जैसे ढोल्ला सामला (अहह); परंतु यह रूप पूर्वी और पश्चिमी दोनों अपभ्रंशों में विरल है। पंडितों ने इसका संबंध—अक से जोड़ना चाहा है। पूर्वी हिंदी में इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं—

१. भारि वियाधा लीन्ह। (जायसी)

तुलसी ने भी अनेक स्थलों पर छंदानुरोध से ऐसा किया है। क्या इसे खड़ी बोली—आकारान्त प्रवृत्ति का बीज नहीं कह सकते ?

§ ५७. पूर्वी अप० में सामान्यकारक में—इकारान्त जो रूप मिलते हैं उन्हें शहीदुल्ला ने—इश्रुति का परिणाम कहा है। पर हिंदी में इस प्रकार की श्रुति के उदाहरण नहीं मिलते।

§ ५८ अपभ्रंश सामान्यकारक एकवचन का अपना विशिष्ट रूप है—उकारान्त। यही अधिकता से मिलता भी है। प्रायः इसे प्राकृतों के प्रथमा एकवचन—ओकारान्त का ह्रस्वीकरण माना जाता है। जो ध्वनि सबंधी दुर्बलता के कारण कालान्तर में स्वभावत 'उ' हो गया। परतु यह—उकारान्त रूप अपभ्रंशकाल से भी पुराना है। भारत नाट्यशास्त्र के १७ वें अध्याय में भी मोरु (मयूर) शब्द मिलता है। इसके सिवा सस्कृत के बौद्ध ग्रंथ 'सद्धम पुण्डरीक' में भी इस तरह के अनेक शब्द हैं। आगे चलकर यह प्रवृत्ति हिंदी की ब्रज और अवधी दोनों साहित्यिक बोलियों में सुरक्षित रही।

१. नाम *पाहरू* दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। (तुलसी)
२. *पितु आयसु* सब धरमक टीका। (तुलसी)
३. सुमिरौं आदि एक *करतारू*। (जायसी)
४ स्यामु हरित दुति होइ। (बिहारी)

स्व० आचार्य केशव प्रसाद मिश्र के अनुसार यह प्रवृत्ति आज भी हिंदी बोलियों में व्यक्तिवाचक सज्ञाओं में सुरक्षित है जैसे रामू, नन्हकू आदि।[१४५]

§ ५६. प्रथमा एकव की—अकारान्त प्रवृत्ति आज खड़ी बोली में सुरक्षित है और खड़ी हिंदी में केवल यही रूप प्रचलित है। जैसे उसमें 'प्रमु' न होकर 'प्रेम' ही होगा।

§ ६० *बहुवचन*—अप० सामान्यकारक बहुवचन के रूप एक वचन से विशेष भिन्न नहीं हैं। प्रायः दोनों में—अ आ कारान्त रूप उभयनिष्ठ हैं। आकारा त रूप बहुवचन म बहुत विरल हैं। हरिवश पुराण की भाषा का विश्लेषण करने पर अल्सडोर्फ ने इसकी सत्ता बिल्कुल इनकार कर दी। कुमारपाल चरित, कुमारपाल प्रतिबोध,

[१४५] इडियन एटिक्वेरी, जिल्द ५६, सन् १६३० ईस्वी कीथ ऑन अपभ्रंश' पृष्ठ ३

जिनदत्त चरित, सुपासणाह चरित आदि जो १२वीं शताब्दी के अपभ्रंश ग्रंथ हैं उनमें यह रूप नहीं मिलता। केवल १००० ईस्वी के पश्चिमी अपभ्रंश-ग्रंथ पाहुड़ दोहा और सावयधम्म दोहा में इसके कुछ रूप मिलते हैं। हिंदी में भी इस रूप का प्रायः अभाव है। यदि स्वार्थिक प्रत्यय में—आ लगा दें तो—डा <टकः अत वाले रूप भी पश्चिमी अपभ्रंश की विशेषता है। जैसे दिअहडा, कुक्खडा, कल्यडा (कल्याः) आदि 'पाहुड़ दोहा' के रूप हैं। हिंदी—पिय सन कहहु सँदेसड़ा, हे भौंरा ह काग ! (जायसी)

मुखड़ा और बछड़ा मूलतः बहुवचन हैं फिर भी उनका प्रयोग एकवचन में होता है।

§ ६१ तगारे ने सामान्यकारक बहुवचन के शेष रूपों की देश-कालिक सूची इस प्रकार दी है[१४६]—

(१) बहुवचन के लिए एकवचन का प्रयोग :

प० अप०—परमात्मप्रकाश (६००-१००० ईस्वी)

पू० अप०—कण्ह, सरह दोहाकोश (७००-१२०० ईस्वी)

(२) नपु०—अकारान्त प्रातिपदिक के साथ पुं० का प्रयोग :

पू० अप०—७००-१२०० ई०

प० अप०—१००० ई०

द० अप०—११०० ई०

(३) पुं०—अकारान्त प्रातिपदिक के साथ नपु० रूप का प्रयोग .

प० द० अप० – १००० ईस्वी

द० अप०—११०० ई० में लुप्त (?)

न पु० — अकारान्त का बहुवचन रूप हिंदी में पु० रूपों के लिए कभी प्रयुक्त नहीं होता। अपभ्रंश मे चोरइँ (चौरा:), गामइँ (ग्रामा:),

[१४६] हि० ग्रै० अप० पृष्ठ १३७

हारइँ (हारात्), दोसइँ (दोषान्) रूप भले ही मिलें पर हिंदी में प्रायः सामान्यकारक एकवचन और बहुवचन के रूप एक रहे। उपर्युक्त विभाजन में से प्रथम प्रवृत्ति को ही अपभ्रंश की मुख्य प्रवृत्ति समझना चाहिए क्योंकि आ० भा० आ० ने उसे ही ग्रहण किया।

§ ६२. *तृतीया-सप्तमी समूह*

एक वचन—पुत्तिँ, पुत्ति, पुत्ते, पुत्तेँ, पुत्तहि, पुत्तेँहि, पुत्तेँहिँ, पुत्तिण, पुत्तेण।

इँ, इ, ए, एँ, अहि, एँहि, एहिँ, इण, एण।

इनमें से—इण और—एण रूप प्राकृत के हैं। यों तो तुलसी ने भी 'कहहु सुखेन यथारुचि जेही' जैसा प्रयोग कर दिया, परंतु इसे हिंदी का अपना रूप नहीं कह सकते। अतः यह विचारणीय नहीं है।

§ ६३. वस्तुतः अपभ्रंश के अपने रूप—इँ और—एँ हैं। बिना देश और काल भेद के संपूर्ण अपभ्रंश साहित्य में इनका बाहुल्य है। ज्यूल्स ब्लाक ने[१४७] इन्हें संस्कृत—एन से व्युत्पन्न माना है और ग्रियर्सन ने[१४८]म० भा० आ० के अधिकरण एकवचन—अहिँ से। टर्नर[१४९] ने गुजराती के—ए को संस्कृत—अकेन 7 अप० अएं 7 प्रा० प० राज० अइँ से माना है और साथ ही यह भी कहा है कि—एण (अप० ए) और—आणाम् रूपों से संभवतः—ण—अनुस्वार को ध्वनित करता है परंतु अक्षर विन्यास उच्चारण के पीछे रह जाता है। शायद इसीसे परवर्ती पश्चिमी अपभ्रंश ग्रंथों जैसे कुमारपाल प्रतिबोध और महापुराण में तृ० एकव०—एण के अधिकांश रूपों की—ण ध्वनि की अधिकता पर प्रकाश पड़े।

---

[१४७] एफ० एल० एम०—§१९३

[१४८] क्रिटिकल रिव्यू अव० मि० ज्यूल्स ब्लाक, ला लाँग मराठी, रा० ए० सो० जर्नल १९२१ पृष्ठ २६

[१४९] रा० ए० सो० जर्नल १९२१, पृष्ठ ५२५—६ § ६५ (२)

टर्नर ने अपने बाद वाले लेख 'The Phonetic Weakness of Terminational Elements in Indo-Aryan'[१५०] में पुनः संस्कृत—एण और अप०—एं के संबंध पर जोर दिया। ब्लॉक ने भी ग्रियर्सन की आलोचना के रहते संस्कृत फलानि 7प्रा० अप० फलाइँ के साम्य पर सं०—एण और अप०—एं के संबंध को दुहराया।

प्रश्न यह है कि क्या सचमुच—एन के—न—में ध्वनि संबंधी दुर्बलता काम कर रही है ? और क्या भा० आ० के समूचे क्षेत्र में कहीं अन्य स्थल पर—न—की यह दुर्बलता प्रकट होती है ? तगारे का कहना है कि पर्यवेक्षण से ऐसी दुर्बलता का उदाहरण और कहीं नहीं मिलता।[१५१] वे ग्रियर्सन के मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि करण और अधिकरण दोनों कारक एक में विलीन हो गए और अधिकरण के शब्द-रूपों ने करण के रूपों की जगह ले ली। जैसा कि जैन महाराष्ट्री में भी दिखाई पड़ता है। ग्रियर्सन के साथ वे भी मानते हैं कि करण एकवचन—एँ, ए, इँ, इ आदि का संबंध अधिकरण एकवचन—अहिँ या—अहि से है जो संस्कृत—अस्मिन् का विकार है।

तगारे का कहना है कि संस्कृत तृतीया बहुवचन—एभिः तथा सप्त० बहुवचन—अस्मिन् दोनों के विकार क्रमशः—एहि और—अहिँ परस्पर विनिमेय तथा सम्मिश्रित होकर अपभ्रंश मे प्रकट हुए। अपभ्रंश में—तृतीया-सप्त० के एकवचन और बहुवचन संबंधी जितने रूप मिलते हैं सभी इन्हीं दोनों वर्गों से किसी न किसी प्रकार संबद्ध हैं—हिँ,—हि,—इ,—ए,—अहँ,—आहँ,—इँ,—इ आदि सभी।

§ ६४. हिंदी के प्राचीन साहित्य में अपभ्रंश के इस तृतीय-सप्त०

---

१५० रा० ए० सो० जर्नल १६२७ ईस्वी पृष्ठ २२७—३६

१५१ हि० ग्रै० अप० पृष्ठ ११८—११६ § ८१

समूह के कुछ न कुछ अवशेष अवश्य मिल जाते हैं, परंतु खड़ी बोली में इनका सर्वथा लोप हो गया और नवीन परसर्गों की सृष्टि हुई।

१ जिहि *सरि* मारी काल्हि, तिहि *सरि* अजहूँ मारि = शर से (कबीर ग्र० पृष्ठ ६)

२. गुरु *मुषि* बिना न भाजसी ये दून्यो बड़ रोग । = मुख से (गोरख बानी पृष्ठ ७४)

३. *प्रेमइ* बध्यउ प्रो रहइ । = प्रेम से (ढोला० २७५)
४ *जाणे* डसी *भुयगि* = भुजग से (ढोला० २३६)
५. *लीलहि* हते कबंध । = लीला से (तुलसी)
६. सोइ न समर तुम्हहिं *रघुपतिहीं* । = रघुपति से (तुलसी)
७. *मुखहि* निसान बजावहि भेरी । = मुख से (तुलसी)
८. *वज्रहि तिनकहि* मारि उड़ाई । = वज्र से जायसी
९. ज्यों *बिबहि* प्रतिबिंब समानां = बिंब में कबीर

§६५ —हि अथवा —हिँ अपभ्रंश में मुख्यतः तृतीया सप्तमी विभक्ति थी, परंतु आगे चलकर हिंदी में इसका विकास द्वितीया के भी अर्थ में हो गया।

इनहिँ कुदृष्टि बिलोकै जोइ । *ताहि* बधे कछु पाप न होई । (तुलसी)

§ ६६. *चतुर्थी-षष्ठी- पंचमी समूह* ·

यह कारक-समूह अपभ्रंश में सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसे अपभ्रंश का 'विकारी कारक' कह सकते हैं क्यों कि आ० भा० आ० के सभी विकारी कारक इसी से व्युत्पन्न बताए जाते हैं। यद्यपि तृ० सप्त० ने भी आ० भा० आ० के विकारी रूपों के निर्माण में कुछ योग दिया तथापि प्रधानता षष्ठी समूह की ही रही। सम्प्रदान के लिए षष्ठी का प्रयोग उतना ही पुराना है जितने ब्राह्मण ग्रंथ। प्राकृतकाल में तो दोनों का एकीकरण हो गया। पश्चिमी अपभ्रंश में पंचमी और षष्ठी का विलयन पूर्वी की अपेक्षा पीछे हुआ। कण्ह और सरह के दोहों में ही पहले इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं।

अतः षष्ठी-एक० के विविध रूपों में से—स्स,—स्सु,—(आ) सु को प्राकृत प्रभाव समझना चाहिए। हिंदी सर्वनामों में इनके अवशेष मिल जाते हैं जैसे:—तासु,—जासु आदि। परंतु अप० का अपना रूप—ह,—हों है और यही विचारणीय भी है। इस—ह का संबंध संस्कृत—स्य से है। प०, पू०, द० सभी अपभ्रंशों में इस—ह रूप का प्रचलन सिद्ध करता है कि यह म० आ० आ० काल से ही बोलचाल की भाषा में प्रचलित रहा होगा। साहित्यिक प्राकृतों में सबसे पहले मागधी ने इसे प्रकट किया। इसे भारतीय ईरानी भाषा का—ह < प्रा० भा० आ०—स नहीं समझना चाहिए क्योंकि प्रत्येक संस्कृत—स—का अपभ्रंश में—ह नहीं होता।

अब प्रश्न यह है कि क्या अपभ्रंश—ह मागधी—ह का ही ग्रहण है। डा० तगारे के अनुसार यह—हँ का अननुनासिक रूप है जिसकी उत्पत्ति सार्वनामिक है। ज्यूल्स ब्लॉक ने इसे प्राकृत मह, तुह के मान पर निर्मित माना है।[१५२]

पंचमी बहुवचन—हुं का जिसे प्राकृत वैयाकरणों ने अपभ्रंश की अपनी विशेषता मानी है, अपभ्रंश—कवियों ने बहुत कम प्रयोग किया है। पिशेल ने —हुं को प्रा० भा० आ० के पंचमी द्विवचन—भ्याम् से व्युत्पन्न माना है। परंतु—याम् > उँ रूपान्तर कठिन मालूम पड़ता है। ब्लॉक का विचार है कि जिस प्रकार षष्ठी एकवचन—ह और बहुवचन—हँ उसी मान पर पंचमी एकवचन—हु और बहुवचन—हुँ। जो हो, अपभ्रंश में इनका प्रयोग कम मिलता है। केवल—ह वाले रूप का प्राधान्य है।

परम्परा-पालन के नाम पर हिंदी में भी इस प्रकार के रूप कई शताब्दियों तक चलते रहे।

---

[१५२] लॉ, इंडो आर्यन पृष्ठ १४१

१. *तनह* न तावइ ताप। (ढोला० २६)
२. आदू *कुलह* अभग्ग। (पृ० रासो, पद्मावती समय)
३. बोलहु सुआ पियारे *नाहौं* । (जायसी)
४ अपर *सुतहिँ* अरिमर्दन नामा। (तुलसी)
५. *घरहँ* जमाई लौं घट्यो। (बिहारी-रत्नाकर दो० १७१)

§ ६७. खड़ी बोली में—ओं या—यों वाले जो विकारी रूप मिलते हैं उनकी व्युत्पत्ति अपभ्रंश के—'हं' से ही बताई जाती है।—हं का—अं और फिर—ओं होना असंभव नहीं है। पर—ए और—एं विकारी रूपों का संबंध इससे किस प्रकार जोड़ा जाता है यह समझ में नहीं आता। बहुत संभव है कि—ए,-एं वाले विकारी रूप अपभ्रंश तृ-सप्त० समूह के अवशेष हों क्योंकि ध्वन्यात्मक दृष्टि से ये उसीके निकट हैं। खड़ी हिंदी में कुल इतने ही विकारी रूप होते हैं—

लड़को, लड़कियों, साधुओं, लड़के, लड़कियें, (गायें)।

विभक्ति-लोप

§ ६८. सि० हेम० ८।४।३४४-४५ के अनुसार प्रथमा, द्वितीया तथा षष्ठी एकवचन बहुवचन की विभक्तियों का लोप हो जाता है। हेमचन्द्र द्वारा दिए हुए उदाहरण इस प्रकार हैं—

१. प्रथमा और द्वितीया

(क) जिवँ जिवँ *बंकिम* लो अणह णिरु *सामलि* सिक्खेइ।
तिवँ तिवँ बम्महु निअय *सर* खर पत्थरि तिक्खेइ ॥

(ख) एइ ति *घोडा* एह थलि...

२. षष्ठी

अइमत्तहं चत्तङ्कुसहं *गय* कुम्भइं दारन्तु।

प्रथमा और द्वितीया में लुप्त विभक्तिक पदों का मिलना बड़ी सामान्य बात है। श्यामल 7 सामला 7 सामलि ध्वनि-विकार का सहज परिणाम हो सकता है। (स्वराणां स्वरः प्रनोऽपभ्रंशे-हेम० ८।४।३२६)। इस तरह के और भी—आकारान्त स्त्रीलिंग शब्द ह्रस्वान्त हो गए हैं। सारिय ∠ सारिका; मुद्ध ∠ मुग्धा; जीह ∠ जिह्वा, धण ∠ धन्या, सिल ∠ शिला आदि। परन्तु ज्ञात होता है कि यहाँ संस्कृत के आकारान्त स्त्रीलिंग को ईकारान्त के मान पर कवि ने—इकारान्त कर दिया है। फिर भी यह विभक्ति लोप का उदाहरण माना जा सकता है।

'बंकिम' का पद विचार थोड़ा सा विवाद ग्रस्त है। स्वर्गीय गुलेरी जी ने 'बंकिम' के 'को लो अणहं' का विशेषण माना है [१५३] और इसका अर्थ 'बाँके लोचनों से' किया है। परन्तु इस तरह इसका अर्थ नहीं खुलता। गुलेरीजी के अर्थ पर तीन आपत्तियाँ हो सकती हैं—

---

[१५३] पुरानी हिंदी, पृष्ठ १५६

१. हेम० ने प्रस्तुत दोहा प्रथमा और द्वि० के लोप के उदाहरण स्वरूप उपस्थित किया है। अस्तु 'बंकिमहं लो अणहं' अर्थ करने पर हेम० का अभिप्राय खण्डित होगा।

२. 'लोअणहं' को तृतीया विभक्ति में किस प्रकार माना जा सकता है? —हं तो षष्ठी बहुवचन की विभक्ति है।

३. बंकिम को 'लो अणहं' का विशेषण मान लेने पर भी यह बतलाने को शेष रह जाता है कि 'सिक्खेइ' क्रिया का कर्म क्या है? पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'णिरू' को 'लूर' (बोली) = शऊर के अर्थ में सुझाकर उसी को कर्म माना है। गुलेरीजी ने 'णिरु' का अर्थ अटकल से 'कटाक्ष' करके प्रश्न का चिह्न लगा दिया है। परंतु दोनों ही मत भ्रान्त प्रतीत होते हैं।

डा० पी० एल० वैद्य ने उक्त पद का अर्थ 'लोचनयोः वक्रिमाण' किया है[१५४] जो अधिक संगत प्रतीत होता है और हेमचन्द्र के अभिप्राय के अनुकूल भी। परन्तु बंकिमा < वक्रिमा भी तो हो सकता है, फिर 'वक्रिमाण' की कल्पना की क्या आवश्यकता? बंकिमा > बंकिम उसी प्रकार हो जायेगा जैसे श्यामला > सामलि > सामल। जो हो अपभ्रंश में प्रथमा द्वितीया विभक्तियों के लोप के अन्य उदाहरण भी मिलते हैं।

१. लेवि महव्वय सिक्कु लहहिं (हेम० ८।४।४४०)

२. जे गया पहिअ (हेम० ४।३७६)

३. सीहु निरक्खय गय हणइ (हेम० ४।४१७)

§६१. विशेष विचारणीय है षष्ठी विभक्ति का लोप। षष्ठी के लोप में प्रायः तत्पुरुष समास बनी रहती है और तगारे ने उपर्युक्त उदाहरण में 'गय कुम्भहँ' को तत्पुरुष समास ही माना है।[१५५] परन्तु, यदि

---

[१५४] हेम० प्राकृत व्याकरण, बम्बई संस्करण, पृष्ठ ६७६

[१५५] हि० ग्रै० अप० पृष्ठ १२१ §८२

उन्होंने उक्त पंक्ति के अन्य पदों के साथ रखकर प्रस्तुत पद का विचार किया होता तो शायद ऐसी भ्रान्ति न होती। यदि 'गय कुम्भइँ' तत्पुरुष समास होता तो 'अइमत्तहं चत्तङ्कुसहं' के साथ 'गय-कुम्भहं' रूप होता न कि 'गय-कुम्भइँ'। निश्चय ही यहाँ 'गयहँ' रूप न होकर षष्ठी विभक्ति—हं का लोप है और हेम० ने ठीक ही लक्ष्य किया है।

हेमचन्द्र के उदाहरणों में अन्यत्र भी षष्ठी लोप के प्रमाण हैं—

१. एवं वढ़ ×चिन्तन्ताहं पच्छइ होइ विहाणु। (हेम० ८।४।३६२) यहाँ 'वढहं' = मूर्खाणां होना चाहिए था।

हेम० ने अन्य विभक्तियों के लोप को लक्ष्य नहीं किया है, परन्तु खोजने से उनके भी लुप्तविभक्तिक रूप मिल सकते हैं। जैसे सप्त०-लोप का उदाहरण।

१. मड्डुजि घर×सिद्धात्था वन्देइ। (हेम० ८।४।४२३)
घर = घरे < गृहे।

§ ७०. विभक्ति लोप की यह प्रवृत्ति अपभ्रंश के शब्द हिंदी आदि आ० भा० आ० में भी मिलती रही। परसर्गों का अप्रयोग तथा विभक्तियों का लोप आ० भा० आ० के वाक्य विन्यास की प्रमुख विशेषता हो गई है।

द्वितीया—

१. खल बधि तुरत फिरे रघुवीरा। (तुलसी)
२. उनो कर्म कियो मातुल बधि (सूर)
३. नासा मोरि नचाइ दृग (बिहारी)

तृतीया :

१. चोरी प्रेम पिआरिओ अपने दोष अशोक (कीर्तिलता)
२. कौतुक देखत सैल बन। (तुलसी)
३. जंघ छिपा कदली होइ बारी। (जायसी)
४. जे बूड़े सब अंग। (बिहारी)

५. सुधा-हेत मन-घट दरकनि सुठि राजिहौं। (घनानंद)
६. आखो देखा; कानों सुना; हाथो लिया। (आधुनिक···)

चतुर्थी

कौन काज ठाढे रहे बन म। (सूर)

षष्ठी

१. राम कृपा बिनु सुलभ न सोई। (तुलसी)
२. नहीं बराबर (आधु०)

सप्तमी

१. जेहि घर गोव्यद नाहिं। (कबीर)
२. बड़े भाग उर आवइ जासू। (तुलसी)
३. जुरत चतुर चितु प्रीति। (बिहारी)
४. सुषमा अभूत छाय रही प्रति भौन भौन। (द्विजदेव)
५. बैठ शिला की शीतल छाँह। (जयशंकर प्रसाद)

परसर्ग*

§ ७१. परसर्ग किसी भाषा की व्यवहित अथवा अयोगात्मक अवस्था के सूचक हैं। पुराने कारक रूपों का ह्रास तथा परसर्गों का विकास भाषा में साथ-साथ होता है। प्रा० भा० आ० विभक्ति प्रधान भाषा थी, परंतु उसमें भी कहीं-कहीं विभक्तियों के साथ परसर्गों का प्रयोग मिलता है। जैसे—

तस्य समीपे, तस्य निकटे, तस्य पार्श्वे, गोतमस्य अन्तिके, निर्वाण सन्तिके, पर्वतस्योपरि, परन्तु प्रा० भा० आ० में परसर्गों का प्रयोग इतना कम है कि उसे आ० भा० आ० के परसर्ग-बहुल प्रयोग के साथ संबद्ध करना कठिन है। उन परसर्गों से केवल इतना ही पता चलता है कि इनका प्रयोग वैकल्पिक था और कभी-कभी आवश्यक हो उठता था। प्रारंभिक प्राकृतों ने भी इस दिशा मे कोई नवीनता नहीं दिखलाई। अपभ्रंशकाल में पहली बार इस क्षेत्र में साहस से काम लिया गया। परसर्ग-प्रयोग के दो कारण थे :—

१. विभक्तियों का अत्यधिक घिसकर केवल सामान्य और विकारी दो कारकों में शेष रह जाना।

२. विभक्ति लोप से वाक्य विन्यास-गत अस्पष्टता।

---

* परसर्ग (Post-position) एक प्रकार का पदमात्र है जोकि किसी शब्द के बाद विभक्ति के अर्थ मे प्रयुक्त होता है और उस शब्द के साथ ही अर्थ प्रकट करता है। रूप की दृष्टि से स्वतंत्र शब्द होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से वह पूर्व शब्द के अधीन होता है। यह विभक्ति से इस अर्थ में भिन्न है कि शब्द के रूप परिवर्तन के साथ इसमें परिवर्तन नहीं होता। यह केवल द्योतक शब्द होता है।

आरंभिक प्रयोग में प्रत्येक परसर्ग स्वतंत्र वाचक शब्द का जो कालान्तर में मौखिक परंपरा के बीच घिस गया। लिखित साहित्य में किसी परसर्ग के विकास के सभी सोपान नहीं मिलते। इनके निर्माण के विषय में ज्यूल्स ब्लॉक ने लिखा है कि सामान्य शब्दों की अपेक्षा इनमें ध्वनि विकार भी बहुत शीघ्रता से होता है। इनमें अत्यधिक ध्वनि परिवर्तन होने का मुख्य कारण यह है कि सहायक शब्द के रूप में प्रयुक्त होने के कारण मुखसुख के लिए लोग इनका लघु से लघु रूप प्रयोग करना चाहते हैं। इस प्रकार मुख्य शब्द के बाद झटके से प्रयुक्त होने के कारण यह क्रमशः मुख्य शब्द का ही एक 'अक्षर' (Syllable) बन जाता है।[१५९] आ० भा० आ० में हिंदी की प्रवृत्ति लघ्वंत उच्चारण की ओर है, इसलिए अंतिम स्वर और व्यंजन उच्चारण में त्यक्त हो जाता है। इस प्रकार 'राम क' जैसे शब्द बन गए। बलाघात के परिणाम स्वरूप मैथिली में यही 'क' विभक्ति की तरह उच्चरित होता है जैसे 'रामक' परंतु हिंदी की शेष बोलियों में यह परसर्ग है जैसे 'राम क'। झटके से उच्चरित होने के कारण एक दिन वह अवस्था आ गई कि लोग उन्हें विभक्ति-चिह्न की तरह शब्द का अभिन्न अंग समझने लग गए। आज भी पंडितों में इस बात को लेकर विवाद है कि ने, को, से, पर जैसे परसर्गों को शब्द से सटाकर लिखा जाय या अलग।

§ ७२. जब परसर्ग रूप में प्रयुक्त शब्द वाचक से केवल द्योतक रह जाते हैं तो उनकी अर्थशक्ति भी क्षीण हो जाती है। इस अर्थ-ह्रास से भाषा में दो घटनाएँ होती हैं :—

१. परसर्ग-व्यत्यय अर्थात् एक ही परसर्ग का अनेक कारकों में प्रयोग।

---

१५९ लांग मराठे § १९७

२. एक परसर्ग के साथ उसी तौल के दूसरे सहायक शब्द का व्यवहार

इस प्रकार एक ही कारक मे अनेक परसर्गों का प्रयोग।

ये दोनों घटनायें परसर्ग की व्युत्पत्ति खोजने में बाधक होती हैं। हिंदी में परसर्गों का इतिहास देखने से पता चलता है कि उनकी संख्या में वृद्धि होती जा रही है।

§७३ परसर्गों के प्रयोग में एक और विलक्षण प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। संज्ञा की अपेक्षा सर्वनामों में उनका प्रयोग पहले प्रारंभ हुआ और साथ ही अधिक भी। प्रा० भा० आ० के कतिपय उदाहरणों मे तस्य और तत् के बाद ही उपरि, पार्श्व, सन्तिक आदि परसर्गों का प्रयोग विशेष मिलता है। अपभ्रंश में भी यही प्रवृत्ति रही। हेमचन्द्र व्याकरण के अपभ्रंश दोहों मे जितने स्थानों पर परसर्गों का प्रयोग हुआ है उसका तीन चौथाई सर्वनामों के ही साथ है। डा० बाबूराम सक्सेना ने जायसी कृत 'पद्मावत' और तुलसी कृत 'रामचरितमानस' की आरंभिक तीन-तीन सा पंक्तियों के परसर्गयुक्त संज्ञा और सर्वनामों की गणना करके निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला है।[१५७]

जायसी :—परसर्ग युक्त संज्ञा २६% और परसर्ग युक्त सर्वनाम ३४%
तुलसी :— ,, ,, २४% ,, ,, ४४%

डा० सक्सेना ने गणना करके एक और निष्कर्ष निकाला है कि सपरसर्ग—हि विभक्तिक संज्ञा उन दोनों कवियों की आरंभिक तीन सौ पंक्तियों मे एक भी नहीं है जबकि सपरसर्ग—हि विभक्तिक सर्वनाम जायसी में १६ तथा तुलसी में ७ हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जो कारक संज्ञा के लिए (परसर्गहीन रूप मे भी) महत्त्वपूर्ण हैं वे सर्वनाम के लिए अपना महत्त्व खो चुके थे। यही दशा ब्रज आदि अन्य बोलियों की भी है। इसका कारण स्पष्ट है। अत्यधिक व्यवहार में

[१५७] इवल्यूशन ऑव अवधी § २६६

आने के कारण सर्वनाम संज्ञा की अपेक्षा जल्दी घिसते हैं, अर्थ क्षीण होते हैं और उन्हें सहायक द्योतक शब्दों की आवश्यकता पड़ जाती है।

§७४. यदि यह निरीक्षण किया जाय कि परसर्गों में भी किस कारक के परसर्ग का प्रयोग सबसे पहले और अधिक आरंभ हुआ तो अनेक मनोरंजक बातें ज्ञात होंगी।

(१) संबंध कारक के परसर्ग केर, कर, का, क आदि का प्रयोग हेम०, कीर्तिलता, तुलसी आदि सबमें अधिक और पहले शुरू हुआ। शायद सामासिक कठिनाई को दूर करने के लिए हुआ। इसके सिवा षष्ठी पहले से ही बड़ी व्यापक विभक्ति रही है।

(२) अपभ्रंश में कर्म-परसर्ग का विकास नहीं हो सका था। कीर्तिलता में भी यह नहीं मिलता। जायसी और तुलसी में प्रायः कर्म पद निर्विभक्तिक हैं; कहीं-कहीं 'कहँ' या 'काँ' मिल जाता है।

(३) करण-परसर्ग सों, सओं, सहुँ का प्रयोग कर्म परसर्ग की अपेक्षा अपभ्रंशकाल से ही अधिक मिलता है परन्तु—'ने' का प्रयोग अपभ्रंश में नहीं मिलता। कीर्तिलता में इसका बीज संज्ञा के साथ नहीं बल्कि सर्वनाम के बीच मिलता है जैसे जेन्हें, जेने आदि।

(४) चतुर्थी-परसर्ग अपभ्रंशकाल से ही अधिक प्रयुक्त होते रहे क्योंकि इसका लोप आरंभिक प्राकृतकाल से ही हो चुका था। कीर्तिलता ने भी उस परंपरा की रक्षा की।

(५) पंचमी-परसर्ग ने काफी काया बदली और अब तो खड़ी हिंदी में उसके लिए तृतीया-परसर्ग ही काम देता है। इसके प्रयोग कम मिलता है।

(६) षष्टी के बाद जिस परसर्ग का सबसे अधिक प्रयोग मिलता है वह है सप्तमी का। माझ, उप्परि आदि का प्रयोग अपभ्रंशकाल से ही अधिक संख्या में होने लगा था। इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि जिस कारक का विभक्ति-चिह्न सबसे पहले दुर्बल हुआ उसमें परसर्ग का प्रयोग उतना ही पहले हुआ। इस दिशा में षष्ठी प्रथम, सप्तमी द्वितीय और चतुर्थी तृतीय है।

परसर्गों का इतिहास

§ ७५. *तृतीया और पंचमी* :—

होन्तउ, होन्त, होन्ति ∠ √भू

(क) तावसु पुव्व जम्मि हउ *होन्तओ* ।
कोसिउ णामें नयरि वसन्तओ । (भविसयत्त कहा ८८ ८)

(ख) अह *होन्तु* (कि) न सचविउ । (सनत्कुमार चरिउ)

(ग) तहाँ *होन्तउ* आगदो । (हेम० ८।४।३५५)

(घ) तुज्झ *होन्तउ* आगदो । (हेम० ४।३७२)

(ङ) तुम्हहं *होन्तुउ* आगदो । (हेम० ४।३७३)

उदाहरण 'क' १००० ईस्वी का है और 'ख' १२०० ईस्वी के आस पास का। पहले में 'होन्तउ' वर्तमान कृदन्त है जिसका *अर्थ* 'होते हुए' और दूसरे में 'होन्तु' क्रिया है जिसका अर्थ 'था'। हेमचन्द्र के उदाहरणों में होन्तउ पंचमी परसर्ग है। डा० तगारे के प्रमाण पर हम कह सकते हैं कि भवि० कहा में 'होन्तउ' का प्रयोग कहीं भी परसर्गवत् नहीं हुआ है। इधर हेम० ने उसके परसर्गवत् प्रयोग का उदाहरण कोई दोहा उद्धृत न करके केवल बोलचाल का वाक्य रखा है। इनसे यह अनुमान किया जा सकता है कि इसका परसर्गवत् प्रयोग परवर्ती है। 'होन्तउ' के कृदन्त प्रयोग में भी परसर्ग का अर्थ निहित है।

तहाँ होन्तउ आगदो = (१) वहाँ *होते हुए* आया।
वहाँ *से* आया।

ड० तगारे ने 'होन्तउ' का परसर्गवत् प्रयोग पश्चिमी देशों तक ही सीमित कर दिया है जब कि इसका प्रयोग पूर्वी भाषाओं में भी मिलता है। जायसी और तुलसी में इसके अनेक उदाहरण हैं।

१. जल *हुँत* निकसि मुवै नहिं काछू। (जायसी)

२. सास ससुर सन मोरि *हुँति* विनय करब करजोरी (तुलसी)

यही हुँति 7होइ (पूर्वकालिक क्रिया) के रूप में परसर्गवत् प्रयुक्त हुआ है।

वैरि जहाँ होइ लंका ताका। (जायसी)

उसी √भू का दूसरा पूर्व कालिक ज रूप भै, भए ∠ भूत्वा भी होता है और उसका भी परसर्गवत प्रयोग उक्त कविद्वय ने किया है।

१. ऊपर *भए* सो पातुर नाचहिं। (जायसी)

२. भरत आई आगे *भए* लीन्हे। (तुलसी)

बँगला में 'हइते' या ह'ते, नेपाली में 'भान्दा' और मराठी में 'हउनि' इसीके रूप हैं।

इसी 'हुँत' परसर्ग का तृतीया और चतुर्थी में भी प्रयोग हुआ है।

१. उन्ह *हुँत* देखै पाएउँ दरस गोसाईं केर। = उनके द्वारा (जायसी)

२. तुम *हुँत* मंडप गयउँ परदेसी=तम्हारे कारण, लिए (जायसी)

§ ७६ *थिउ* :

हि अम्र-*त्थिउ* जइ नीसरइ, जाणउ मुंज स रोसु। (हेम० ८।४।४३६)

'त्थिउ' के स्थान पर 'ठ्ठिउ' पाठ भी। अर्थ 'स्थित'। इसका संबंध पूर्वकालिक क्रिया 'स्थित्वा' और भूत कृदन्त 'स्थित' दोनों से हो सकता है। हिंदी में इसीसे संबद्ध 'थैं', 'तैं' और 'ते' रूप मिलते हैं।

१. पाऊँ *थैं* पंगुल भया (कबीर ग्रं० पृष्ठ २)

२. कहाँ *थैं* आया (कबीर ग्रं० पृष्ठ २)

३. नाद ही *थैं* पाइए (गोरख बानी)

४. राम *ते* अधिक राम कर दासा। (तुलसी)

५. एक एक *तइं* रूप बखानी। (जायसी)

हिंदी 'ते' को कुछ लोग संस्कृत—'तः' से संबद्ध करते हैं जैसे 'काशीतः' काशीते परंतु 'थ' का अमहाप्राणकरण असंभव नहीं है। डा० बाबूराम सक्सेना ने इसे √तन—ततेन से व्युत्पन्न बताया है।

§ ७७ *सहुँ*

जउ पवसन्ते सहुँ न गयऊ (हेम० ८।४।४१९)

इसका संबंध संस्कृत 'सह' से जोड़ा जाता है। कुछ लोग 'सम' से भी जोड़ते हैं। हिंदी सों, सन, स्यों और से इसी तौल के शब्द हैं। शुक्लजी इनको प्राकृत पंचमी परसर्ग 'सुंतो' से व्युत्पन्न मानते हैं[१५८] और उसीका एक सोपान 'सेंती' बतलाते हैं।

१. तोहिं पोर लौं प्रेम की पाका *सेंती* खेल। (कबीर)

२. काल *सँति* कै जूझ न छाजा। (जायसी)

३. 'सूरदास' प्रभु तुम्हरे मिलन को सरत देहु अब *सेंती*। (सूर)

क्या इसे सें + तें दुहरा परसर्ग नहीं मान सकते? 'सों' का प्रयोग 'सेंती' की अपेक्षा आधुनिक मालूम होता है—

१. मना रे माधव *सों* करू प्रीति (सूर)

२. मो मो *सन* कहि जात न कैसे (तुलसी)

§ ७८. *ने*<*एण*

कर्त्ता के साथ लगते हुए भी यह कर्मणि प्रयोग है और मूलतः तृतीया कारक का द्योतक है। पश्चिमी हिंदी में ही इस प्रकार के प्रयोग विशेष मिलते हैं। पूर्वी हिंदी में कर्तरि प्रयोग के कारण यह नहीं चलता। कातिलता मे '*जेहे* सरण न परिहरिअ' जैसे प्रयोगों को अपवाद अथवा पश्चिमी अपभ्रंश का प्रभाव समझना चाहिए।

§ ७९. *चतुर्थी*

रेसि, *केहि* :—*तउ केहि अज्जहि रेसि* (हेम० ८।४।४२५)

'रेसि' की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। 'केहिं' का संबंध √कृ से हो सकता है। क्या हिंदी 'कहँ' इससे संबद्ध कहा जा सकता है?

तिन्ह *कहँ* सुखद हास रस एहू। (तुलसी)

[१५८] जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृष्ठ २००

इन दोनों के अतिरिक्त अपभ्रंश चतुर्थी में और कोई परसर्ग नहीं मिलता।

§ ८० षष्ठी

अप० केरअ, केर, केरा <सं० √कृ <कार्य।

डा० तगारे ने इसका इतिहास इस प्रकार दिया है—

पश्चिमी अप० [६०० १२०० ईस्वी] > आ० भा० आ० (विभक्ति परसर्ग दोनों रूपों में)

दक्षिणी अप० [१००० ईस्वी] > आ० भा० आ० (मराठी)—लोप 'चा' ?

पूर्वी अप० [१००० ईस्वी] > आ० भा० आ० (बँगला—विभक्ति रूप।

सुनीति बाबू का विचार है कि मैथिली—'क' विभक्ति है परसर्ग नहीं।

अवधी में 'केर', 'कर' 'क'; ब्रज में 'कै', कौ तथा खड़ी हिंदी में 'का'।

हिंदी में *'रामकर'* जैसे नाम भी उस परसर्ग के प्रमाण हैं।

राम *को* रूप निहारति जानकी
कंचन के नग *की* परछाईं। (तुलसी)

§ ८१. तण < सं० तन

अपभ्रंश में इसका प्रयोग 'तृतीया', चतुर्थी और षष्ठी तीनों कारकों में हुआ है।

तृतीया १. कोहि *तणेण*, तेहिं *तणेण* (हेम० ८।४।४२५)
२. महुँ *तणइ* (= मदीयेन) (परमात्मप्रकाश २।१८६)
चतुर्थी १. बहुतणहो *तणेण* (हेम० ८।४।३६६)
२. सिद्धतणहो *तणेण* (पाहुड दोहा ८८)
षष्ठी १. अह भग्गा अम्हहँ *तणा* (हेम० ८।४। ३७९)

२. इमु कुलु तुह तणउं (हेम० ४।३६१)
३. तसु तणइँ (सावयधम्म दोहा २०५)
४. घठ उज्झहँ इन्दियतणउ (पाहुड़ दोहा २१४)
५. गय दिट्ठि तासु तहे तणइ देहि (भवि० कहा ८।४)
६. अन्तर रोगइ तणइ (सनत्कुमार चरिउ ७७५।६)

उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'तण' का षष्ठी प्रयोग अधिक है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि मूलतः यह षष्ठी परसर्ग है और षष्ठी की परपरागत व्यापकता के अनुसार वह अन्य परसर्गों के लिए भी लागू हो जाता है। हिंदी का 'तन' और 'त्यो' परसर्ग जो 'ओर' के अर्थ में आता है, इसी तण से ही सबंद्ध जान पड़ता ह। तन = तई भो प्रयोग मिलता है।

१. मोहि तन लाइ दीन्ह जस होरी। (= तईं) —जायसी
२. मोहि तन दीन्हसि जय और बरता। (= लिए) —जायसी
३. पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी। (= ओर) तुलसी
४. बन तन को निकसत लसत हँसत हँसत इत आइ। बिहारी
५. सब ही त्यौं समुहाति छिनु, चलति सबनु दै पीठि। बिहारी

§८२. सप्तमी

(क) मज्झि, मज्झे < स० मध्य

अपभ्रंश :—१. चम्पय कुसुम हो मज्झि (हेम० ८।४।४४४)
२. जीवहिं मज्झे गइ (हेम० ८।४।४०६)

हिंदी में पहले यह मॉझ, मॅझारी, माह तथा महँ रूप में था, परन्तु धीरे-धीरे घिसकर यह मे' हो गया और खड़ी हिंदी म अब इसीका प्रयोग होता है।

१. मन महँ तरक करै कपि लागा। (तुलसी)
२. सोवत सपने मे ज्यों सम्पति त्यों दिखाइ बौरावै (सूर)

(ख) उप्परि, वरि < सं० उपरि।

अप० —१. रह-वरि चडि अउ (हेम० ८।४।३३१)

२ सायरु उप्परि (हेम० ४।३३४)

हिंदी में धीरे-धीरे यह पर, पै के रूप में रह गया।

१. जैसे उड़ि जहाज को पछी फिरि जहाज पै आवै (सूर)

इस प्रकार अपभ्रंश के कतिपय परसर्ग हिंदी परसर्गों का इतिहास जानने में बड़ी सहायता करते हैं।

संख्यावाचक विशेषण

§ ८३. संख्यावाचक विशेषणों के प्राकृत और आ० भा० आ० रूपों की अद्भुत समानता देखकर यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि इनके निर्माण में अपभ्रंश का क्या और कितना हाथ है ? सुनीति बाबू का अनुमान है कि ये विशेषण अन्य हिंदी शब्दों के समान प्रायः प्राकृतों से होकर संस्कृत से आए नहीं प्रतीत होते; बल्कि ऐसा मालूम होता है कि समस्त आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के संख्यावाचक विशेषण पालि अथवा मध्यकालीन भा० आ० के सदृश किसी अन्य सर्व-प्रचलित भाषा से संबन्ध रखते हैं। केवल किन्हीं-किन्हीं रूपों में प्रादेशिक प्राकृत या अपभ्रंश की छाप है (जैसे गुजराती बे, मराठी दोन, बँगला दुइ) [१५९]

इस संबन्ध में अपभ्रंश का योग इतना ही हो सकता है कि प्राकृतों के बाद उसने उन रूपों को सुरक्षित रखा और आ० भा० आ० के लिए पृष्ठ भूमि तैयार की।

हिंदी सख्यावाचक विशेषणों का सबसे प्राचीन ऐतिहासिक विवेचन बीम्स ने (थं० ग्रै० भाग २ § २६-२८) मे किया है। डा० चाटुर्ज्या ने इस विषय पर कुछ नई सामाग्री तथा अनेक नए उदाहरण दिए हैं (बं० लै० भाग २, अध्याय ३)। अपभ्रंश में संख्यावाचक विशेषणों का ऐतिहासिक विवेचन डा० तगारे ने (हि० ग्रै० अप०, पृष्ठ १६७ २०४ §१०५-११७) किया है। डा० तगारे के विवेचन से स्पष्ट है कि हिंदी सख्यावाचक विशेषणों के पूर्णांक, अपूर्ण, क्रममूलक, आवृत्तिपरक तथा समुदायवाचक सभी रूपों का स्थिरीकरण अपभ्रंशकाल में अथवा

---

[१५९] बं० लै० § ५११

उससे पहले ही समास हो चुका था। इन रूपों के निर्माण में प्रायः व्यंजनलोप, सावर्ण्य और क्षतिपूरक दीर्घीकरण जैसे मुख्य ध्वनिधर्मों का हाथ रहा है। यहाँ उनका विस्तृत विवेचन करना व्यर्थ समझकर केवल उन रूपों का उल्लेख किया जा रहा है जो प्राकृत से भिन्न और अपभ्रंश के अपने हैं।

§ ८४. सर्वप्रथम संख्यावाचक विशेषणों में से उनकी सूची जिनके प्राकृत या अपभ्रंश रूप डा० धीरेन्द्र वर्मा को प्राप्त नहीं हो सके हैं (हिं० भा० इ० पृष्ठ २७५-२७६)। ये रूप डा० तगारे के आधार पर दिए जा रहे हैं।

चौंतीस ∠ प्रा० चोत्तीसम्, छाछठ ∠ प० अप० छावट्ठि ∠ प्रा० छाचट्ठिम्

पचहत्तर ∠ प्रा० पंचहत्तरि, पएणत्तरि; चौरासी ∠ प० द० अप० चौरासी

छानबे, छियानबे ∠ प० अप० छएणवइ, छएणौदि ∠ प्रा० छएडइ

निन्यानवे ∠ द० अप० णवणौयइँ।

शेष इकतीस, छत्तीस, उंतालीस, इक्यावन, उनसठ, इकसठ से पैंसठ तक, इकहत्तर से चौहत्तर, छिहत्तर से उनासी तक, इक्यासी से तिरासी तक, पचासी से नवासी तक, इक्यानबे से पंचानबे तथा अट्ठानबे के समकक्ष अपभ्रंश या प्राकृत रूप अभी तक अप्राप्य हैं। यदि 'महापुराण' की पुष्पिकाओं को लेखक की ही कृति मान लें (जैसे डा० तगारे ने सुझाव रखा है) तो १ से १०२ तक की संख्याओं के अपभ्रंश रूप प्राप्त हो जायेंगे। डा० तगारे ने (हि० ग्रै० अप० पृष्ठ २०४) उनमें से ८१ से १०२ तक की संख्याओं के रूप दिए हैं। परंतु जब तक उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है उन्हें यहाँ उद्धृत करना ठीक नहीं।

§ ८५. अपूर्ण संख्यावाचक शब्दों में अपभ्रंश प्राकृतों का प्रायः अनुगामी है। क्रम वाचक रूपों में कुछ रूप प्राकृत से अवश्य भिन्न हैं; जैसे

प० द० अप० पढम 7 पहिल, पहिला। द० प० अप० विअ, बिय, बीयज; प० अप० दुइय, दुइज्ज अप० में - 'सर' नामक कोई प्रत्यय नहीं जो खड़ी हिंदी का 'दूसरा' बन सके; केवल दूजा बन सकता है। इसी प्रकार प० अप० तिज्जौ 7 पू० हि० तीजा।

सर्वनाम

§ ८६. भा० आ० में सर्वनाम एक मनोरंजक व्याकरणिक श्रेणी है क्योंकि उनमें ध्वन्यात्मक विकीर्णता (disintegration) विशेष मिलती है जैसा कि आ० भा० आ० के सर्वनामों के विविध रूपों से स्पष्ट है। पद विन्यास की दृष्टि से सर्वनाम संज्ञावर्ग से ही संबद्ध हैं और एकीकरण तथा ध्वन्यात्मक ह्रास की प्राग् अपभ्रंश प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश में इसकी साक्षी हैं। अप० में सर्वनाम संबंधी रूपों की विविधता आ० भा० आ० के सर्वनामों को अधिकता के लिए ठोस आधार प्रदान करती है।

§ ८७. *पुरुष वाचक :*

विभिन्न प्रकार के सर्वनामों में उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष के सर्वनामों के रूपों में विविधता सबसे अधिक है।

उत्तम पुरुष :—वैयाकरणों द्वारा निर्देशित निम्नलिखित रूप साहित्य में नहीं मिलते।

प्र० एक०	हमुं	द्वि० बहु०	मो, अम्हेहिं
प्र० बहु०	अम्हेहिं	तृ० सप्त०	— अहं (?)

निम्नलिखित अपभ्रंश रूप मूलतः प्राकृत के हैं (हि० ग्रै० अप० खाता ११६६, पिशेल ग्रै० ४१५)

	एक०	बहु०
प्र०	अहयं, हं	अम्हे
द्वि०	मं, ममं	
तृ०	मए, मइ, मे	अम्हेहि

च० ष० पं० मम, मे, मह, मज्झ, मज्झं, अम्ह, अम्हाण, अम्हाणं प० अप० में पूर्वी अप० की अपेक्षा प्राकृत रूप की बहुलता है।

उत्तम पुरुष एकवचन की प्रकृति अह-और म-तथा बहुवचन की अम्ह—। साहित्यिक अप० एकवचन हउँ। इसे प्रा० भा० आ० 'अहक' से व्युत्पन्न कहा जाता है। पुरानी हिंदी में 'हौं'

१. तौ हौ छंडौ देह। (रासो १।३३१।२)

२. जीवित विवाह न हौं करौं (तुलसी)

३. ना हौ देखौं और कूं (कबीर)

आधुनिक हिंदी में यह रूप नहीं मिलता।

§ ८८. मइँ द्वि० तृ० सप्त० के विलयन का प्रमाण है। क्या सानुनासिक—इँ को सप्त० एक०—हि (—स्मिन्) का प्रभाव कहा जाय? हिंदी 'मैं', मराठी 'मी' इसीसे संबद्ध।

१. माधव मैं ऐसा अपराधी (कबीर)

२. मै अपनी दिशि कीन्ह निहोरा।

हिंदी 'मैं' तृतीया एक वचन का ही रूप है, फिर भी हिंदी में उसके बाद एक और परसर्ग तृतीया का ही ने <एन जोड़ दिया जाता है।

अप० मज्झु <मह्यम् (ह्योर्भः और स्वर विपर्यय से)

'मुझ' अन्य कारकों के लिए विकारी रूपों का काम करता है। जैसे मुझसे, मुझको……

१. यह डर नाहीं मुझ। (कबीर)

२. मेरा मुझमें कुछ नहीं। (कबीर)

हिंदी बहुवचन हम <अप० अम्ह (वर्ण विपर्यय से)

अन्य रूप सामान्य तथा औपम्य पर निर्मित हैं। अतः विचारणीय नहीं।

§ ८९. *मध्यम पुरुष* :—अनेक रूप प्राकृत वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट होते हुए भी नहीं मिलते। अतः उन पर विचार करना व्यर्थ है। कुछ प्राकृत प्रभाव होने के कारण अविचारणीय हैं। अपभ्रंश का अपना रूप प्रथमा का 'तुहुँ' या 'तुहु' है। वैदिक तुवम्, सं० त्वम्, पालि तुवं, प्राकृत तुमं में से किसी में 'ह' ध्वनि नहीं है फिर अपभ्रंश में

कैसे आ गई ! अनुमानतः यह अस्म> अह के वजन पर ×तुष्म> तुह बना लिया गया है । इसका संबंध 'तू', तुम, तैं आदि किसी से नहीं है । इसी प्रकार इसका 'पइं' रूप भी विलक्षण है और उससे हिंदी का कोई मध्यम पुरुष रूप नहीं बनता । एक बात 'अर्थ विचार' से संबंध रखने वाली यह है कि संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि में 'तू' 'तुम' का अर्थगत भेद नहीं किया गया है, पर हिंदी में कर लिया गया है । अपभ्रंश का 'तुध्र' भी विलक्षण प्रयोग है । हिंदी में इसका कोई अवशेष नहीं । मध्यम पुरुष 'तुज्झ' उत्तम पुरुष के 'मुज्झ' के मान पर बनाया गया लगता है, हिंदी 'तुझ' का संबंध इसीसे है । परंतु टकसाली हिंदी में 'तुझे' और 'तुझको' के स्थान पर 'तुम्हें' और 'तुमको' प्रयोग ही शिष्ट समझे जाते हैं ।

§ ९०. उत्तम और मध्यम पुरुष सर्वनाम के रूपों की तुलना से दो भेद स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं—

१. उत्तम पुरुष के रूपो ने मध्यम पुरुष के रूपों को प्रभावित किया ।

२. उत्तम पुरुष के रूपो में वचन-भेद जितना स्पष्ट है उतना मध्यम पुरुष के रूपों में नहीं ।

आज भी हिंदी में उत्तम पुरुष मैं—हम में वचन भेद है, परंतु मध्यम पुरुष 'तुम' दोनों वचनों मे प्रयुक्त होता है ।

विशेषणात्मक सर्वनाम

§ ६१. सर्वनामों का दूसरा समूह वह है जिसमें अन्य पुरुष, दूरवर्ती संकेतवाचक (निश्चयवाचक), नित्य संबंधी, निकटवर्ती निश्चयवाचक, संबंधवाचक, प्रश्नवाचक तथा निजवाचक सर्वनाम हैं। कार्य और प्रयोग की दृष्टि से इन्हें विशेषणात्मक कहा गया है। प्राकृत की तरह अपभ्रंश में भी इनकी प्रवृत्ति क्रमशः प्रकृति और प्रत्ययों के सरली-करण की ओर है। इस प्रकार प्रा० भा० आ० अदस् (हेम० ८।४। ३६४ द्वारा निर्देशित अपवादों को छोड़कर) और इदम् के लिए प्राकृत का प्रातिपदिक इम—(पुं० स्त्री०) और अत्त (< प्रा० भा० आ० आत्मन्) जैसे रूप अपभ्रंश में नहीं मिलते। अदस् के विरले रूप जैसे प्र० द्वि० बहु व० ओइ के कुछ विद्वान भारतीय ईरानी *अवे < अव से सबद्ध करते हैं।

प्रायः इन सर्वनामों के रूप भी उसी प्रकार चलते हैं जिस प्रकार उनकी विशेष्य-परक संज्ञाओं के। इसीलिए सर्वनामों में भी लिंग-वचन संबंधी परस्पर विनिमय विलयन तथा मिश्रण दिखाई पड़ता है। संभवतः यही कारण था कि प्राकृत वैयाकरणों ने इनका विस्तृत रूप-विभाजन नहीं किया है। प्राप्त अपभ्रंश साहित्य में भी इनके सभी रूप नहीं मिलते। संभव है कि यह कवियों की अपनी सीमाएँ रही हों। हिंदी में आते-आते इन सर्वनामों के लिंग और कारक सूचक भेदकरूप लुप्त हो चुके थे और परसर्ग ही उनमें भेद करने लगे थे। कुछ में से तो वचन-भेद भी लुप्त हो रहा था।

१. *अन्य पुरुष एवं दूरवर्ती निश्चयवाचक* के लिए अपभ्रंश में 'त' और 'स' मूलक रूप चलते रहे। प्राचीन हिंदी में इन्हींसे बने हुए ताकर, तापर, ताकहँ आदि रूपों के समानान्तर वै, वे, उस, उन्ह

(अदस् के रूप) भी चलते रहे और खड़ी हिंदी में इसी नई प्रवृत्ति की परंपरा चली; पुरानी दब गई।

२. *निकटवर्ती निश्चयवाचक*—अपभ्रंश काल में इसके लिए एतद् और इदम् के क्रमशः एय—और आय—प्रकृतियों का मिश्रण हो चुका था। इस मिश्रण में 'आय—' मूलक रूप लुप्त हो गए। हिंदी में 'एय—' मूलक रूप ही प्रचलित हुए। एह > यह; एते > एये > ये आदि। हिंदी के विकारी रूप 'इस' को एष > एस से संबंद्ध किया जा सकता है।

३. *संबंध वाचक*—अप० जे, जा < प्रा० भा० आ० यः हिंदी में ज्यों का त्यों गृहीत हो गया। पूर्वी हिंदी में 'जे' की प्रधानता रही तो पश्चिमी में 'जो' की।

४. *प्रश्नवाचक*—अपभ्रंश में 'किम्' की तीन प्रकृतियाँ हैं क— कि, कवण। डा० तगारे ने इनका तुलनात्मक अध्ययन करके निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला है (हि० ग्रै० अप० § १२७)

(क) पू० अप० में कि-प्रकृति बहुत प्रचलित थी। कवण लुप्त थी। 'कवण' का प्रयोग सबसे पहले ६०० ईस्वी में पश्चिमी अप० में हुआ था।

(ख) बहुवचन रूप 'काहँ' एक वचन के लिए अपभ्रंश काल के आरंभ से ही प्रयुक्त होता रहा।

(ग) अशोक के अभिलेखों वाले रूप भी इन प्रदेशों की अपभ्रंश में पाए जाते थे। हिंदी बोली का 'काहे' या 'काँहे' को 'काहँ' से संबद्ध किया जा सकता है।

५. *अनिश्चयवाचक*—इसकी भी प्रकृति प्रश्नवाचक की 'क—' ही है। उसके आगे वि < अपि जोड़कर बनाते थे। अप० में को,-वि' और हिंदी में 'कोई'। पुराने कवियों ने 'कोउ' और 'कोऊ' का भी प्रयोग किया है जिसे 'स्वराणां स्वराः' से सिद्ध किया जा सकता है।

६. *निजवाचक*—प्रा० भा० आ० आत्मन् के दो अप० रूप अत्त और अप्प। पहला पुराना दूसरा नया। हिंदी में 'अप्प' निर्मित रूप ही प्रचलित हुए। इससे बना हुआ 'आप' मध्यम पुरुष के लिए आदरार्थ प्रयुक्त होता है।

७. *अन्य सर्वनाम*—(क) प्राचीन हिंदी आन < अप० अण्ण, अण्णु < सं० अन्य।

(ख) सब < अप० सव्व < सं० सर्व

(ग) और < अप० अवर < सं अपर

सर्वनामात्मक विशेषण

§९२. प्रश्नवाचक, संकेतवाचक, संबंधवाचक, प्रश्नवाचक आदि विशेषणात्मक सर्वनाम कुछ प्रत्ययों के योग से विशेषणों का निर्माण करते हैं।

वे प्रत्यय ५ हैं : आर, एरी < कार, कारी < कार्य।

इस, रिस; एह, तिय, त्तिल, त्तुल; वड्ड। बनने वाले शब्द तुम्हारा, हमार; एरिस, एइस; जेह, तेह; एत्तिय, एत्तिल, एत्तुल, एवड्ड, तेवड्ड।

हिंदी में इन्होंने तुम्हारा, ऐसा, इतना आदि शब्दों का रूपनिर्माण किया है।

क्रिया-पद

§ ६३. अपभ्रंश क्रियापद म० भा० आ० के उस काल की सूचना देते हैं जब नाम की तरह 'आख्यात' भी आधा संहिति तथा आधा व्यवहिति की दशा में था और क्रमशः व्यवहिति की ओर अग्रसर हो रहा था। यहाँ भी अपभ्रंश ने प्राकृतों की अपेक्षा ध्वन्यात्मक और रूपात्मक सरलीकरण का परिचय दिया। इसके लिए अपभ्रंश ने दो प्रकार के साधन अपनाए।

(क) गण-भेद दूर करना तथा गण-परिवर्तन को चरमावस्था पर पहुँचाना। यों तो गण परिवर्तन के उदाहरण वैदिक काल से ही मिलने लगते हैं; जैसे :

अदादि गण√हन् का रूप (भ्वादि) *हनति* : वृत्रं हनतीति वृत्रहा।
जुहोत्यादि गण√दा का अदादि जैसा रूप *दाति* : दाति प्रियाणि चिद्वसु।

इसी प्रकार 'शेते' के स्थान पर 'शयते', भिनत्ति के स्थान पर 'भेदति', 'म्रियते' के स्थान पर 'मरते', 'जयति' के स्थान पर जयते आदि अनेक वैदिक रूप मिलते हैं। लौकिक संस्कृत, पालि और प्राकृत में भी यह परंपरा चालू रही। वस्तुतः 'गण-व्यवस्था' कोई कड़ा नियम नहीं; बल्कि धातुओं का सुविधाजनक वर्गीकरण है। इसलिए एक गण दूसरे से सभी लकारों में भिन्न नहीं होता। अपभ्रंश ने इस अव्यवस्था को और भी आगे बढ़ाया। यदि भ्वादि√हस्-हसति > हसइ का उसमें 'हसेइ' और√चल् का 'चलेइ' चुरादि गणवत् रूप मिलता है; तो दूसरी ओर चुरादि गण के√कथ्-कथयति > ×कहयइ का 'कहइ' और√चिन्त् का 'चिन्तइ' भ्वादि गणवत् रूप मिलता है। तात्पर्य यह है कि अपभ्रंश में संस्कृत वैयाकरणों द्वारा बाँधी गई गण-मर्यादा विच्छिन्न हो

गई और प्रायः 'भ्वादि' गण के समान ही रूप चलते रहे। आत्मनेपद और परस्मैपद का भी भेद न रहा।

(ख) दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है काल रचना के संबंध में 'तिङन्त' रूपों के स्थान पर प्रायः 'कृदन्त' रूपों का व्यवहार। अपभ्रंश में प्रायः सहायक क्रियायें तिङन्त थीं। शेष कालों में वर्तमान (निश्चयार्थ) और भविष्यत् में संस्कृत तिङन्त रूपों के तद्भव प्रचलित रहे। परंतु अन्यत्र 'कृदन्त' रूपों का प्रचलन हुआ। इससे धातु रूपावली संबंधी दुरूहता दूर हो गई। इस क्रिया के द्वारा अपभ्रंश ने हिंदी क्रियापदों के निर्माण में सर्वाधिक योग दिया।

§६४. *धातु* : संस्कृत में अधिकांशतः धातु हलन्त थे। उनके बाद विकरण* की सहायता से रूपावली का निर्माण होता था। अपभ्रंश-काल मे विकरण-युक्त धातु रूप से ही धातु का काम लिया जाने लगा। अपभ्रंश में 'चल्' नामक धातु न था बल्कि उसका रूप 'चल' (√चल् + विकरण 'अ') था। हिंदी मे भी इसी प्रकार के धातु हैं। परंतु डा० धीरेन्द्र वर्मा ने भ्रम से 'चल्' को ही हिंदी धातु माना है।[१६०] इसके सिवा अपभ्रंश ने अनेक देशी धातुओं की प्रतिष्ठा की। (हेम० ८।४। ३९५) हिंदी तक आते-आते ऐसे धातु अनेक हो गए—यहाँ तक कि उनकी व्युत्पत्ति जानने में भी कठिनाई होने लगी।

तिङन्त-तद्भव

§६५. *सहायक क्रिया* : खड़ी हिंदी में 'है', 'और' 'था' जैसी क्रियायें सहायक कही जाती हैं। इनके रूप बहुत कुछ अपभ्रंश काल में ही स्थिर हो गए थे। अपभ्रंश में 'था' के मान का तो कोई शब्द नहीं

---

* आख्यात और प्रत्यय के मध्य में आने वाले प्रत्यय अर्थात् मध्य प्रत्यय (Infix) को *विकरण* कहते हैं।

[१६०] हिं० भा० इ० पृष्ठ २६० §३०१

मिलता परंतु वर्तमानकालिक सहायक क्रिया के अनेक रूप मिलते हैं। जैसे 'अहइ' और 'अच्छ'।

जं अच्छइ तं माणिअइ होसइ करतु म अच्छि। (हेम० ८।४।३८८)

अच्छ > आछे, छे, रूप विशेषतः बँगला और मैथिली में मिलते हैं। परंतु पुरानी हिंदी में भी कहीं-कहीं इसका प्रयोग मिल जाता है।

(१) कँवल न *आछै* आपनि बारी। (जायसी)

(२) का निचिंत रे मानुष आपन चीते *आछु*। (जायसी)

(३) कह कबीर किछु *आछिलो* न जहिया। (कबीर)

अंतिम उदाहरण में 'आछ' के साथ 'ल' प्रत्यय जोड़कर भूत-कालिक रूप निर्माण करना ध्यान देने योग्य है। यह ठेठ पूर्वी प्रवृत्ति है। 'आछ' का संबंध सं० 'अस्ति' से है। अस्ति > ×अत्सि > अच्छि।

§ ६६. हिंदी में अस्ति > ×असति > ×अहति > अहइ > अहै तथा अंत में > है वाले रूप सामान्य वर्तमान में विशेष प्रचलित हुए।

१. यहि घाट ते थोरिक दूर *अहै*। (तुलसी)

२. भाट *अहै* ईसर कै कला। (जायसी)

कभी कभी इसी 'अहै' के दूसरे रूप 'अहा' का प्रयोग 'था' के अर्थ मे भी हुआ है।

१. परबत एक *अहा* नहँ डूँगा। (जायसी)

§ ६७. पु० हिंदी मे 'था' के लिए हुतो, हुती, हे-ही, ते-ती आदि क्रियापदों का प्रयोग होता था जिनका समकक्ष रूप अपभ्रंश में नहीं मिलता, परंतु √भू √होइ आदि रूपों को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि वे रूप भी संभव थे।

√भू > अभूत > अहूत > हूत (आदि लोप से);

हूत > हुत > (स्यादौ दीर्घह्रस्वौ हेम० ८.४।३३०) > हुतो

हुतो < ही, ही / ती, ते = था

१. बिसवासी सनेह क्यों जोरत हे । (घनानंद)
२. पौन सो जागति आगि सुनी हा । (घनानंद)
३ मैं हा जान्यो लोयननु जुरत बाढ़िहै जोति । (बिहारी)

§ ६८. *वर्तमान निश्चयार्थ*—अपभ्रंश में इस काल के रूप प्राय. संस्कृत भ्वादि गण के लट् लकार के रूपों के तद्भव हैं। यों तो प्राकृत-प्रभावित रूप भी कई मिलते हैं तथापि अपभ्रंश के अपने रूप भी हैं।

	एक०	बहु०
उ० पु०	करउँ	करहुँ
म० पु०	करहि	करहुँ
अ० पु०	करइ, करेइ	करहिं

मध्यम पुरुष एक. के 'करसि' रूप को प्राकृत-प्रभाव समझना चाहिए; जैसे :

रे मन *करसि* कि आलड़ी (हेम०)

अवधी और ब्रज में थोड़े से ध्वनि परिवर्तन के साथ यही रूप मिलते हैं। ब्रज में स्वर-संकोच के कारण करइ=करै और उसीके औपम्य पर करहिं =करैं; करउँ=करौं रूप हो जाते हैं, परंतु अवधी में प्रायः अपभ्रंश का सा ही ध्वनि-भेद वर्तमान मिलता है।

मिटइ न मलिन स्वभाव अभंगू। (तुलसी)

इस प्रकार प्राकृत वाला प्राचीन रूप भी मिलता है; जैसे

जौ *चाहसि* उजियार । (तुलसी)

§ ६६. वर्तमान काल का यह तिङन्त आख्यात कभी-कभी अवधी में क्रियार्थक संज्ञा का भी काम देता है जैसे आवइ कों, आवइ के।

१. *जानइ* कँह बल बुद्धि बिसेखा। = जानने के लिए (तुलसी)

ब्रज मे इस तरह के प्रयोग नहीं मिलते।

§ १००. खड़ी हिंदी म वर्तमान तिङन्त-तद्भव का प्रयोग वर्तमान निश्चयार्थ में न करके वर्तमान संभावनार्थ म किया जाता है। यह प्रयोग भी अपभ्रंश की ही परंपरा में आता है।

अप०—१. जइ उट्ठमइ तो कुदइ अह इज्जइ तो छारु
(हेम० ८।४।३६५)

२. माणि पणट्ठइ जइ··· (हेम० ८।४।)

खड़ी हिंदी—यदि मेरा वश चले तो मैं उसे राजा बना दूँ।

§ १०१ *भविष्य निश्चयार्थ*—अपभ्रंश में प्राकृत-प्रभावों को हटाने के बाद अपने रूप निम्नलिखित प्रकार हैं :—

(१)—स प्रकार : जैसे करिसु करेसहुँ; करसहि, करीसि; करेसइ सरिसइ।

(२)—ह प्रकार : जैसे करीहिँ, करहु; करहि, करिहहि, करिहइ।

पहले प्रकार के रूपों का प्रभाव गुजराती पर पड़ा और दूसरे प्रकार के रूपों का प्रभाव ब्रज, अवधी, मारवाड़ी, बुंदेली आदि पर पड़ा। ब्रज का रूप करिहै, करिहौ तथा अवधी का करिहइ, करिहहि, करिहउँ आदि।

ब्रज: १. *परिहै* मनो रूप अबै धरि च्वै। (घनानंद)

२. उधौ तिहारी सीख भीख करि *लैहैं* हम। (रत्नाकर)

अवधी: १. *छमिहहिँ* सज्जन मोर ढिठाई। (तुलसी)

२. हँसिहहु सुनि हमारि चढ़ताई। (तुलसी)

§१०२. परतु खड़ी बोली हिंदी म न तो 'स' वाले रूप चलते हैं और न 'ह' वाले बल्कि 'ग' वाले रूप चलते हैं। हिंदी भविष्यत् काल म—गा,-गे,-गी, गें आदि कहाँ से आये इस विषय में विद्वानों म बहुत मतभेद है। '— गा' वाले भविष्यत् रूप सीधे खड़ी बोली में ही नहीं आ टपके; बल्कि ये ब्रज और अवधी में भी प्रयुक्त हो चुके थे। जैसे,

१. *पावहुगे* फल आपन कीन्हा। (तुलसी)

२. बाहु-पीर महावीर तेरे मारे ही *मरैगा*। (तुलसी)

३. हौ तो मुगलानी हिन्दुवानी ह्वै *रहूँगी मैं* (ताज)

अनेक पंडितों ने 'गा' 'गे' 'गी' मे लिंग प्रभाव देखकर इस 'था', थी' की भाँति √गम् के भूत कृदन्त रूप से संबद्ध किया है। परतु

'भूतकाल' के रूप से 'भविष्यत्' के रूप की व्युत्पत्ति करना असंगत लगता है। इसलिए स्व० आचार्य केशव प्रसाद मिश्र इसे *अनद्यतन् भविष्यत्* के कृदन्त रूप 'ज्ज' से संबद्ध करते थे। इसकी पुष्टि वररुचि ७।२० वर्तमान भविष्यदद्यतनयो ज्ज ज्जा वा' और हेम० ८।३।१७७ 'वर्तमान भविष्यन्त्योश्च ज्ज ज्जा वा।' से भी होती है। हेम० ८।४।३७० में 'होज्ज' का प्रयोग सम्भाव्य भविष्यत् के अर्थ मे हुआ है। 'ज' और 'ग' का परस्पर-विनिमेय होना असंभव नहीं है जैसे भाजना और भागना।

तुम्ह पुरु छाया जइ *होज्ज* कहवि ता तेहिं पत्तेहि। हेम० ८।४।३७० √कृ—कार्य >कज्ज के मान पर √भू से होज्ज और फिर होगा बनना कठिन नहीं है। यह भी एक सुझाव है।

§१०३. *आज्ञा और विधि* :—अपभ्रंश मे आज्ञा के लिए-इ,-उ, और-ए का आदेश है (हेम० ८।४।३८७ *हि-स्वयोरि दुदेत्*)। इस प्रकार 'सुमरि', 'विलम्बु' और 'करे' रूप बनाते हैं। इनका संबंध विभिन्न गणों के संस्कृत 'लोट् लकार' के रूप से है। हिंदी में अनादरार्थे 'कर' अर्थात् अकारान्त अन्यथा ओकारान्त रूप का प्रयोग होता है जैसे 'करो'। आकारान्त धातुओं में शुद्ध धातु रूप ही आज्ञा का काम करता है जैसे 'जा', 'खा', 'ला' आदि। परंतु यह अनादरार्थे ही प्रयोग होता है।

जैसे *जा* पानी पी। पुस्तक *ला*। खाना *खा*।

अपभ्रंश में विधि का रूप—'ज्ज' परक होता है जैसे किज्जउँ, करिज्जउ, करिज्जतु, आदि। इन्हें भी संस्कृत के तिङन्त विधि लिङ्—'भवेय' जैसे रूपों से सबद्ध समझना चाहिए। हिंदी मे क्षतिपूरक दीर्घीकरण के द्वारा कीजिय, कीजइ, कीजै, करीजै, कीजिए (खड़ी बोली) आदि रूप हो जाते हैं।

१. रामचन्द्र कहँ तिलक *करीजै*।	(तु०)
२. *कीजै* नाथ हृदय महँ डेरा।	(तु०)
३. चलिय *करिय* बिसरामु।	(तु०)

कृदन्त-तद्भव

§ १०४. *वर्तमान निश्चयार्थ :* अपभ्रंश में कालों का निर्माण प्रायः कृदन्तज क्रिया रूपों तथा √ भू और √ कृ के तिङन्त-तद्भव रूपों की सहायता से होने लगा था। हिंदी में ऐसे ही रूपों की अधिकता हुई। कृदन्त रूप मूलतः विशेषण हैं इसलिए उनमें लिंग और वचन का सन्निवेश स्वाभाविक है। यही कारण है कि अन्य आ० भा० आ० के विपरीत हिंदी क्रियापदों में लिंग-विधान भी दिखायी पड़ता है।

√चल् का वर्तमान कृदन्त रूप चलन्त : > चलत (अकारण अननुनासिकीकरण से) जैसे; वह चलता है = चलता हुआ वह है।

कभी कभी उसके साथ सहायक क्रिया 'है' या 'थी' नहीं होती। जैसे,

१. सोउ *प्रगटत* जिमि मोल रतन ते।

२. सुमिरत सारद *आवति* धाई।

३. सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय *होती*।

मालूम होता है कि इसी वर्तमान कृदन्त के रूप से—'त' का लोप होने से—'अ' शेष रह गया और शायद उसीने अवधी में वर्तमान कृदन्त के अर्थ में केवल धातुओं का प्रयोग होता है; जैसे

१. आपु सरिस सबहीं *चह* कीन्हा। (तुलसी)

२. जेहिकर मन *रम* जाहि सन। (तुलसी)

३. श्रुति पुरान मुनि *गाव*। (तुलसी)

४. जारेहु सहज न *परिहर* सोई। (तुलसी)

§१०५. *भूत निश्चयार्थ*—संस्कृत में भूत कृदन्त कर्म वाच्य में प्रयुक्त होता है परंतु हिंदी में वह कर्तृ कर्म वाच्य का उद्‌भूत सम्मिश्रण बन गया। यदि भूत कृदन्त विशेषण-विशिष्ट वाक्यों में क्रिया सकर्मक है तो क्रिया का लिंग कर्मानुसारी होता है और यदि अकर्मक है तो कर्ता-

नुसारी होता है। दूसरे शब्दों में भूत कृदन्त विशेषण विशिष्ट वाक्यों में क्रिया कभी कर्ता का विशेषण होती है और कभी कर्म का। इसीलिए उसका रूप भी विशेष्यनिघ्न होता है। यह परंपरा अपभ्रंश से ही चली आ रही है :—

१. जेमहु *दिएणा दि अहडा दइएँ* पवसन्तेण। (हेम० ८।४।३३३)
२. महँ भणिय तुहुँ ... (हेम० ८।४।३३०)
३. महँ तुहुँ वारिया... (हेम० ८।४।३३०)

जिस प्रकार अप० में कर्ता तृतीया विभक्ति में है उसी प्रकार पश्चिमी हिंदी में भी होता है; जैसे 'मैंने तुम्हें वारा'; मैंने दीन्हा। परंतु पूर्वी हिंदी में भूत कृदन्त के साथ भी कर्ता तृतीया में नहीं रहता। वहाँ 'ने' का प्रयोग नहीं मिलता।

१. *सबै* मुसुहुले डेरा *दीन्ह*।

अब प्रश्न यह है कि खड़ी बोली में यह भूत कृदन्त रूप—आकारान्त क्यों हो जाता है ? हॉर्नले ने इसके लिए—क स्वार्थिक प्रत्यय की कल्पना की है। परंतु यदि इसे खड़ी हिंदी की—आकारान्त प्रवृत्ति मानकर व्याख्या करे तो अधिक उचित होगा।

पुरानी हिंदी में प्रायः—अकारान्त रूप का ही प्रयोग किया जाता था; जैसे—

१. *जान* आदि कवि नाम प्रतापू। (तुलसी)
२. छुवतहि टूट पिनाक पुराना। (तुलसी)
३. *कह* प्रभु जाहु जो बिना बोलाए। (तुलसी)

§ १०६. *भविष्य निश्चयार्थः* संस्कृत प्रत्यय —तव्यत् जो अपभ्रंश में — एव्व रूप में सुरक्षित थी हिंदी (विशेषतः पूर्वी) में आकर — अब हो गई। एक ओर यह क्रियार्थक संज्ञा का काम देती थी; जैसे

१. *हँसब ठढाई फुलाउब* गालू। (तुलसी)
२. *कहब* मोर मुनिनाथ निबाहा। (तुलसी)

और दूसरी ओर भविष्यत् के लिए भी प्रयुक्त होता रहा; जैसे :—

१. हमहुं कहब अब ठकुर सोहाती। (तुलसी)

२. भरत कि भूँजब राज भल (तुलसी)

३. कबहि देखिबे नयन भरि (तुलसी)

खड़ी बोली में तव्यत् > अब का प्रयोग तो नहीं मिलता परंतु क्रियार्थक संज्ञा-प्रत्यय —अन का प्रयोग भविष्यत् के लिए होता है; जैसे : वहाँ चले जाना ?

§ १०७. *पूर्व कालिक* अपभ्रंश में पूर्वकालिक के लिए – इ, एवि, — अवि, — इवि, — इउ — एप्पि, — एप्पिणु, — एविणु आदि प्रत्यय प्रचलित थे। ये किसी न किसी प्रकार संस्कृत प्रत्ययों के ही ध्वनि विकार थे। हिंदी में —इ प्रत्यय वाले रूपों का ही विशेष चलन रहा। जैसे,

१. *धाइ उठाइ* लाइ उर लीन्हे। (तुलसी)

कभी कभी यह — य हो जाता था। जैसे—

१. तब जनक *पाय* वसिष्ठ-आयसु... (तुलसी)

हिंदी खड़ी बोली में ध्वन्यात्मक क्षीणता के कारण — इ बदलकर —अकारान्त हो गया और कटि 7 कर लगाकर दुहरे पूर्व-कालिक की सृष्टि की गई। जैसे चलकर ∠ चलि करि।

§ १०८ *प्रेरणार्थक क्रिया :* डा० तगारे ने अप० के प्रेरणार्थक क्रियापदों के विषय मे निम्नलिखित नियम बतलाये हैं—

१. अव का आगम; जैसे—दावइ, बोल्लावइ, तोसावइ आदि

२. धातु के मूल स्वर का 'गुण' और मूल— अ की वृद्धि जैसे मारइ, पाडइ, जेमावइ।

३. द्विगुण प्रेरणार्थक रूप; जैसे— काराविय, खावाविय, हरावेइ, देवाविय परंतु यह ध्यान देने की बात है कि हिंदी में केवल स्वर के गुण-वृद्धि से प्रेरणार्थक क्रिया नहीं बनती। उस रीति से अकर्मक क्रियायें अधिक से अधिक सकर्मक बन पाती हैं। जैसे मरइ (अकर्मक),

मारइ (सकर्मक)। मरता है, मारता है। वस्तुतः हिंदी प्रेरणार्थक क्रिया — आव,-वाके आगम से बनती है। जैसे—

वह मारता है — वह *मरवाता* है।
वह लिखता है — वह *लिखवाता* है।

§ १०६. *वाच्य परिवर्तन :*

संस्कृत की भाँति अपभ्रंश में भी प्रायः वाच्य परिवर्तन से क्रिया के अर्थ में परिवर्तन नहीं होता। तेन कृतम् और स० अकरोत् में कोई अर्थान्तर नहीं है परंतु हिंदी मे वाच्य परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन भी हो जाता है। कर्तृवाच्य से कर्म वाच्य में बदलते ही कर्ता अशक्त हो जाता है और उसकी विवशता ध्वनित हो उठती है। जैसे, 'वह पढ़ता है' में कर्ता वह की शक्ति प्रकट होती है परंतु 'उससे पढ़ा जाता है' कहते ही कर्ता की विवशता प्रकट होती है। वस्तुतः हिंदी मे सच्चा कर्मवाच्य भूत काल में ही होता है, वर्तमान में नहीं।

§ ११०. संयुक्त क्रिया :—

'संयुक्त क्रिया' को 'संयुक्त काल' से भिन्न समझना चाहिए। 'संयुक्त काल' में केवल दो ही क्रिया मे प्रयुक्त हो सकती हैं जब कि संयुक्त क्रियाओं में दो से अधिक क्रियाओं का संयोग हो सकता है। सयुक्त क्रिया वह है जिसमे एकाधिक सिद्धावस्थापन्न (कृदन्त) क्रियाओं का प्रयोग तथा योग हो भले ही उनके किसी अवयव का प्रयोग साध्यावस्थापन्न क्रिया के रूप में हो। उदाहरण स्वरूप 'वह जाता है।' संयुक्त काल है और 'वह जा सकता है' संयुक्त क्रिया।

यों तो संयुक्त क्रियाओ का प्रयोग वैदिककाल से ही होता आ रहा है तथापि समास शैली की ओर विशेष प्रवृत्ति के कारण संस्कृत में संयुक्त क्रियाओ का यथोचित विकास न हो सका। संयुक्त क्रियायें भाषा की व्यास प्रवृत्ति अथवा व्यवहिति-अवस्था की सूचक हैं। अपभ्रंशकाल से भाषा व्यवहिति-अवस्था की ओर तेजी से बढ़ने

लगी। इसलिए अपभ्रंश की संयुक्त क्रियाओं ने हिंदी के लिए रास्ता तैयार किया।

१. अब्भा लग्गा डुंगरहिं पाहिउ रडन्तउ (हेम० ८। ४। ४४५)
जाइ।

२. जहि पुणु सुमरणु जाउं गउ तहो नेहहो कइं नाउं।
(हेम० ८। ४। ४२६)

३. मरु कन्तहो समरङ्गणइ गयघड भज्जिउ जन्ति।
(हेम० ८। ४। ३६१)

४. लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घर एन्तु।
(हेम० ८। ४। ३५१)

इसी प्रकार हेम० में ही 'नक्कइ सवरवि' 'भुज्जहि न जाइ' आदि और भी क्रियायें मिलती हैं। प्रायः सिद्धावस्थापन्न क्रियायें या तो पूर्वकालिक होती हैं या भूत और वर्तमान कृदन्त। परन्तु संयुज्यमान अवयवों के स्वतंत्र अर्थ भासित नहीं होते बल्कि समस्त संयोग एक समन्वित अर्थ का अभिधान करता है।

हिंदी सयुक्त क्रियाओं का अर्थ और रूप गठन की दृष्टि से पं० रमापति शुक्ल एम० ए० ने (ना० प्र० पत्रिका) में अच्छा विचार किया है; अतः उसकी उद्धरणी अनावश्यक है। हिंदी ने संयुक्त क्रियाओं में इतनी स्वच्छंदता दिखलाई है कि आश्चर्य होता है। प्रायः साध्यावस्थापन्न और सिद्धावस्थापन्न क्रियाओं में परस्पर विरोधी क्रियायें भी आ बैठती हैं जैसे मुझे पुस्तक ले दो; वह गिर गया आदि। गठन की दृष्टि से कभी-कभी सिद्धावस्थापन्न और साध्यावस्थापन्न क्रिया के बीच अनेक अन्य पद आ जाते हैं:— 'आ ही तो रहा हूँ।' इसके बीच अपभ्रंश के उपर्युक्त उदाहरणों में भी मिलेंगे।

क्रियाविशेषण

§ १११. अपभ्रंश क्रियाविशेषण प्रायः संस्कृत क्रियाविशेषणों के ध्वनिविकार हैं जैसे अज्जु <अद्य। अस्तु, इस क्षेत्र में हिंदी क्रिया विशेषण अपभ्रंश के इसी अर्थ में ऋणी हैं कि अनेक क्रिया विशेषण ढले-ढलाए अपभ्रंश से प्राप्त हो गए। परंतु खड़ी हिंदी में तत्सम क्रिया-विशेषणों की प्रवृत्ति अधिक है, इसलिए अपभ्रंश क्रियाविशेषण यहाँ कम प्रयुक्त दिखाई पड़ते हैं। यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण क्रियाविशेषणों पर विचार किया जा रहा है।

१. अनु : (वान्यथोनुः हेम० ८ ४।४१५)

इसका प्रयोग हिंदी में गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस में केवल एक स्थल पर किया है—देहु उतरु अनु करहु कि नाहीं। (अयोध्या कांड)

अनु यहाँ संयोजक अव्यय है।

२. *ए7* लौं; संभवतः यह वैदिक 'न' इवार्थे से संबद्ध है

दुर्योधन लौं देखियत तजत प्रान इहि बार (बिहारी १५)

३. *जि7* सं० एव

प्रायः 'जि' का ग्रहण गुजराती में मिलता है। गुलेरी जी ने कई जगह पुरानी हिंदी में भ्रम से इसका अर्थ 'जी' किया है।

४. *जहिया, तहिया* <सं० यदा

पूर्वी भाषाओं मे आज भी इनका प्रयोग होता है परंतु पछाँह और प्रतिमित के लिए यह अपरिचित है।

इस प्रकार और भी अपभ्रंश क्रियाविशेषण हैं। (दे० हि० ग्रै० अप० पृष्ठ ३२६-३४)

वाक्य-विन्यास

§ ११२. किसी भाषा की इकाई वाक्य है। वैयाकरणों ने 'वाक्य स्फोट' को अत्यधिक महत्त्व दिया है क्योंकि वे भी उसे भाषा की चरम अवयुति मानते थे। इसलिए नाम और आख्यात पदों मे अलग-अलग अपभ्रंश का हिंदी के रूप-निर्माण में योग देख चुकने के बाद यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण वाक्यगठन संबंधी योग का अध्ययन किया जाय। संस्कृत वाक्य विन्यास से अपभ्रंश वाक्य-विन्यास को पृथक् करने वाली जो सबसे बड़ी विशेषता है वह है पदक्रम या पदस्थान। संस्कृत में कर्ता, कर्म, क्रिया को चाहे जहाँ और जिस क्रम में रखें अर्थ में अंतर न आएगा। चाहे 'रामः पुस्तकं पठति' कहें चाहे 'पठति पुस्तकं रामः' चाहे 'पुस्तकं रामः पठति' सबका अर्थ एक ही होगा। परंतु अपभ्रंश में विभक्ति-लोप के कारण यह संभव न था। इसलिए अपभ्रंश में पदों को स्वच्छंद भाव से वाक्य के भीतर विचरण करने का अवसर नहीं दिया गया। हिंदी मे भी यही विशेषता आई।

(१) साँप मूस खाता है।

(२) मूस साँप खाता है।

उपर्युक्त दोनों वाक्यों में कर्ता और कर्म के स्थान परिवर्तन से ही अर्थ में एकदम परिवर्तन हो गया। इसी प्रकार परसर्गों के आगमन ने अपभ्रंश में अनेक पदों के स्थान और संबंध स्थिर कर दिए। 'बप्प केर' को कोई 'केर बप्प' लिखकर अभिप्रेत अर्थ की व्यंजना नहीं कर सकता। इसी प्रकार क्रियापदों के स्थान परिवर्तन से वाक्यगत अर्थ में कहीं का कहीं बल पड़ जाने की संभावना बनी रहती है।

१. मैं तो गया था।

२ तो मैं गया था।

३. गया तो था मैं ।

एक ही वाक्य को ऊपर तीन प्रकार से लिखा गया है; केवल पदों का स्थान परिवर्तन कर दिया गया है । स्पष्ट है कि तीसरे वाक्य में जो शक्ति है वह पहले में नहीं है । दूसरा वाक्य सबसे निर्बल है और आश्वस्त भाव से केवल तथ्य-कथन प्रतीत होता है । तात्पर्य यह कि वाक्य में पदों का स्थान तथा क्रम हिंदी आदि आ० भा० आ० में बहुत महत्त्वपूर्ण है । इसे भी एक प्रकार का पदमात्र (morpheme) समझना चाहिए । इसका प्रारंभ अपभ्रंश काल में ही हो गया था ।

§ ११३. अपभ्रंश वाक्य-विन्यास में दूसरी महत्त्वपूर्ण वस्तु है विभक्तियों और परसर्गों का व्यत्यय अथवा परस्पर विनिमय । यों तो षष्ठी विभक्ति की व्यापकता वैदिककाल से ही प्रसिद्ध है, परंतु अपभ्रंश और हिंदी में उसने अत्यधिक व्यापकता दिखलाई ।

१. वेस *विसिट्ठह* वारियइ । (द्वितीया के अर्थ में)
२. कत जु *सीहहो* उवमिअइ । (तृतीया के अर्थ में)
३. *तहि* पराई कवण घण । (चतुर्थी के अर्थ में)
४. तहि नीहरिय *घरस्स* । (पंचमी के अर्थ में)
५. *सेसहो* दिएणी मुद्द । (सप्तमी के अर्थ में)

षष्ठी की यह व्यापकता हिंदी में भी दिखाई पड़ती है ।

१. *मेरे* रहते ऐसा नहीं हो सकता । (प्रथमा-कर्तृवाचक)
२. शरीर *का* तराना व्यर्थ है (कर्म०)
३. गेरूआ वस्त्र के पहनने से मुक्ति नहीं मिलती । (कर्म०)
४. आंख *का* अधा, विपत्ति *का* मारा, दूध *का* जला । (तृतीया)
५. ब्राह्मण *का* दिया व्यर्थ नहीं जाता । (चतुर्थी)
६. कुछ *का* कुछ हो गया । (पचमी)
७. बात *का* चूका आदमी, डाल *का* चूका बंदर । (पचमी)
८. जन्म *का* दरिद्र । पेड़ *का* गिरा फल । (पचमी)
९. पेड़ का चढ़ना कठिन है । (सप्तमी)

§ ११४. संस्कृत में 'कहना' क्रिया के साथ द्वितीया का प्रयोग होता है, परंतु हिंदी में इसके विपरीत 'तृतीया' का। जैसे मैं तुमसे कहता हूँ। 'मैं तुमको कहता हूँ।' यह हिंदी की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। अपभ्रंशकाल से ही इस दिशा में संकेत मिल जाता है।

१. सुणिवि नंदु वुत्तंतु इहु सयडालरस कहेइ। (कुमारपाल प्रतिबोध) यद्यपि यहाँ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग है तथापि उससे—'से' का संबंध स्थापित किया जा सकता है। उसका स्पष्ट अर्थ है—'शकटाल से कहता है।'

§ ११५. अवधी और ब्रज के प्राचीन साहित्य में सप्तमी परसर्ग पै < पर < उपरि का प्रयोग प्रायः तृतीया में मिलता है।

१. आठ पहर का दाझणा *मो पै* सहा न जाय। (कबीर)

बिहारी में भी इस प्रकार के उदाहरण हैं।

'पर' का प्रयोग चतुर्थी के लिए आज भी मिलता है—

कापर करौं सिंगार पुरुष मोर आन्हर। =किसके लिए

विभक्ति और परसर्ग का यह व्यत्यय किसी अपभ्रंश उत्स की ओर संकेत करता है।

§ ११५. अपभ्रंश में कभी-कभी दुहरी विभक्तियों का प्रयोग मिलता है। ज्ञात होता है कि एक विभक्ति को अशक्त अथवा अपूर्ण समझकर बल देने के लिए दूसरी विभक्ति उसी मान की बैठाई जाती थी। जैसे—

नलगिरि *हत्थिहिंमि* ठितइं। (कुमारपाल प्रतिबोध)

आज भी 'पेड़ पर का' 'घर में से' आदि दुहरी विभक्ति के प्रयोग मिलते हैं।

§ ११६. अपभ्रंश में संस्कृत *'भावलक्षण'* प्रयोग की परंपरा अक्षुण्ण रही। इससे सामान्य वाक्य-गठन में वक्रता आ गई। प्रायः दो वाक्यांशों को एक करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। जैसे :—

१. *माणि पणट्ठइ* जइ न तणु तो देसडा चइज्ज । =मान नष्ट होने पर

२. आसादि घण *गज्जीइँ* चिक्खिलि हो से ऽ वारि । =गर्जने पर

३. दोणिणवि अवसर *निवडिआइं* तिण सम गणइ विसिट्ठ ॥ =आ पड़ने पर

§ ११७. इस प्रकार अपभ्रंश वाक्य-विन्यास की और भी अनेक विशेषताएँ ऐसी हैं जिन्होंने हिंदी वाक्य-विन्यास को प्रभावित किया है। संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग तथा उनके बीच व्यवधान डालने की प्रवृत्ति भी अपभ्रंश में दिखाई पड़ती है

जैसे जइ भग्गा घरु एन्तु।

उक्त वाक्य में '*भग्गा एन्तु*' संयुक्त क्रिया के संयुज्यमान अवयवों के बीच 'घरु' ने आकर व्यवधान डाल दिया है। इस तरह का प्रयोग कालिदास ने भी किया है 'संपातया प्रथम मास'—'पातयामास' के बीच 'प्रथम' का व्यवधान। हिंदी में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

शब्द-कोश

§ ११८. अपभ्रंश शब्दकोश ने हिंदी शब्द-कोश में अनेक तद्भव और कुछ देशज शब्दों का योग-दान किया है। अभी तक अपभ्रंश का कोई प्रामाणिक कोश तैयार नहीं किया जा सका है इसलिए यह बता सकना कठिन है कि हिंदी के कितने शब्द अपभ्रंश की देन हैं। प्रायः अपभ्रंश के जितने काव्य ग्रंथ संपादित हुए हैं उन सबके अंत में विद्वान संपादकों ने लम्बी शब्द सूची दी है, परंतु अभी तक सबका एकत्रीकरण नहीं हो सका है। प्रस्तुत निबंध की सीमा में उन सभी शब्दों की तालिका का आ सकना असंभव है। अस्तु यहाँ हेमचन्द्र व्याकरण में उद्धृत अपभ्रंश दोहों में आए हुए उन कतिपय शब्दों पर विचार किया जा रहा है जो हिंदी साहित्य अथवा बोली में गृहीत हैं। इससे संख्या और प्रतिशत तो नहीं मालूम हो सकता पर दिशा का संकेत मिल सकता है।

१. उड्डवईस २. लोअड़ी ７ लुगरी या लुग्गा (तुलनीय—रोटी लूगा-तुलसी)

३. तिम्मइ—तितुव्वाण—भींजना *तीतना* (बोली)

४. जुअं जुअ ∠ फ़ारसी जुदा जुदा।

५. नवखी—नोखी, अनोखी

६. उज्जुअ ∠ ऋजुक (तुलनीय—उजबक जिसे कुछ लोग'उज़-बेग' जाति से संबद्ध करते हैं परंतु—क स्वार्थिक प्रत्यय भी हो सकता है।

७. झुम्पड़ा—झोंपड़ी। ८. विच्चि—बीच ∠ वर्त्मनि

९. वेग्गला—बेगाना ! १०. तक्केइ—ताकना

११. झङ्खु—झंखना, झींकना १२. विसाहिउ—बेसाहना (खरीदना)

१३. चूडुल्लउ—चूड़ी।   १४. छइल्ल—छैल, छैला∠ छविल

१६. निचट्ट = निचाट, गाढ़ १६. छन्द—छछन (देशी)

§ ११६. उपर्युक्त शब्दों में से कुछ तो बिल्कुल देशज प्रतीत होते हैं और कुछ फ़ारसी अथवा पहलवी से संबद्ध हैं। इन थोड़े से शब्दों के आधार पर अपभ्रंश के शब्द-कोश पर निर्णय देना साहस का काम होगा। परंतु एक बात निश्चित है कि अपभ्रंश ने तत्सम शब्दों का कम से कम ग्रहण किया और तद्भव शब्दों को भी ऐसी परंपरा से ग्रहण किया जो उन्हें देशज का रूप दे चुकी थी। प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रंश शब्द-समूह हिंदी के अधिक निकट है; केवल रूपमात्रों के थोड़े से परिवर्तन से अपभ्रंश-कविता हिंदी की हो जाती है।

परिशिष्ट (एक)

अपभ्रंश साहित्य का इतिहास

[१]

अब प्रायः सभी पंडित मानने लगे हैं कि हिंदी, बँगला, मराठी, गुजराती आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य का उद्‌गम तथा विकास अपभ्रंश की ही पीठिका पर हुआ है। परंतु अभी तक इन स्रोतों की छान-बीन नहीं हो सकी है। इसका एक कारण तो यह है कि अभी तक अपभ्रंश का अध्ययन भाषावैज्ञानिक तथा व्याकरणिक दृष्टि से ही विशेष होता रहा है। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि इस अपरिचित भाषा का दुर्ग-भेदन किए बिना साहित्य का रसास्वादन कठिन था। परंतु अपभ्रंश के साहित्यिक इतिहास का न होना भी इस मार्ग में बाधक रहा है। यत्र-तत्र अपभ्रंश ग्रंथों की भूमिकाओं अथवा जैन भाण्डारों के प्रकाशित पुस्तक-सूचियों में अनेक अपभ्रंश काव्यों का परिचय प्राप्त है, परंतु अपभ्रंश का धारावाहिक इतिहास अभी तक नहीं लिखा गया। अब तो इसका साहित्य प्रभूत मात्रा में प्राप्त हो गया। अब वह दरिद्रता न रही जो सन् १९०२ में पिशेल के सामने थी।[१] इन पचास वर्षों में जैन भाण्डारों से सैकड़ों अपभ्रंश पुस्तकें खोज निकाली गईं और उनमें से अधिकांश योग्य हाथों द्वारा संपादित होकर सामने आ भी गईं। याकोबी, दलाल, गुणे, शास्त्री, अल्सडोर्फ, वैद्य, मुनि जिनविजय, हीरालाल जैन, नाथूराम प्रेमी, ए० एन० उपाध्ये, शहीदुल्ला आदि के

[१] Materialien Zur Kenntnis des Apabhramsa जिसमें हेमचन्द्र सरस्वती कंठाभरण, विक्रमोर्वशीय के अप० छंदों का उद्धरण तथा अनुवाद था।

अथक परिश्रम से अपभ्रंश साहित्य की समृद्धि सूचक अनेक काव्य प्राप्त हुए हैं।

यद्यपि अभी अनेक पुस्तकें अप्रकाशित तथा अप्राप्त हैं तथापि अपभ्रंश साहित्य का प्रतिनिधित्व करने वाली पुस्तकें हमारे सामने कम नहीं हैं और इनके आधार पर उसका इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है। इतिहास-लेखन में कठिनाई है तो तिथि-क्रम तथा रचनाओं के पौर्वापर्य-निश्चय की। संभव है चार-पाँच शताब्दियों के इस वृहद् साहित्य में काल-विभाजन का भी कोई आधार न मिले, परंतु इससे कोई हानि न होगी।

अपभ्रंश साहित्य का अधिकांश काव्य है। रचनायें ८वीं शताब्दी ईस्वी से लेकर पन्द्रहवा सोलहवीं तक की प्राप्त होती हैं, परंतु अपभ्रंश काव्य का वैभव काल दसवीं से बारहवीं—तीन शताब्दियों तक ही था। पारवर्ती रचनाओं की भाषा निर्जीव तथा विषय पिष्ट-पेषण पूर्ण है। उनमें काव्य कम, कोरा इतिवृत्त अधिक है। अपभ्रंश साहित्य पूर्व में बंगाल से लेकर पश्चिम में गुजरात और सिंध तक तथा दक्षिण में मान्यखेट से लेकर उत्तर में कन्नौज तक लिखा और पढ़ा जाता था। यह देश भेद भाषा में ही नहीं बल्कि विषय में भी दिखाई पड़ता है। इतने विस्तृत भूभाग के साहित्य का विविध भाव-युक्त होना स्वाभाविक ही था।

राजनीतिक दृष्टि से यह युग हर्षोत्तर विकेन्द्रित सामंतों के पारस्परिक कलह का है जिसके अंतिम चरण में इस्लाम का भी आक्रमण हो गया। सामंतों में क्षत्रिय राजाओं के अतिरिक्त गुर्जर, आभीर, प्रतिहार, पाल, सेन आदि शासकों की प्रबलता थी। सामाजिक दृष्टि से यह भारत के सामंती युग का ह्रास-काल था जिसमे सामाजिक संगठन मात्रिक परिवर्तन के लिए आकुल था। स्मार्त वर्ण व्यवस्था कहीं शिथिल हो रही थी और कहीं जटिल। निचले स्तर का जातियाँ संगठित होकर बौद्ध सिद्धों तथा जैन मुनियों के धार्मिक आन्दोलन में योग दे रही थीं।

ब्राह्मण और श्रमण संघर्ष सामाजिक आन्दोलन को प्रतिबिंबित कर रहा था। सारा जीवन बँधे तालाब की तरह रुद्ध-प्रवाह था। मध्यवर्गीय विद्वानों में मौलिक उद्भावना की अपेक्षा पूर्व तथा उत्तर पक्ष समर्थन की प्रवृत्ति बढ रही थी। प्रमेय दूर था, प्रमाण चर्चा अधिक थी। दार्शनिक दुरूहता नव्य न्याय के वाद विवादों में मुखर हो रही थी। समस्त चिंतन तर्क जाल में उलझा था। संस्कृत काव्य हृदय के सहज उच्छ्वास को छोड़कर पांडित्य प्रदर्शन तथा श्रमसाध्य आलंकारिक चेष्टाओं में लीन था। लक्षण ग्रंथों का बाहुल्य था। रस के मान शब्द शक्तियों से आक्रान्त थे। प्रकृति चित्रण नाम परिगणन तथा औपम्यविधान से बोझिल था। मानव-अनुभूतियों की अर्थभूमि सकुचित होकर शृंगारिक लालाओं से पंकिल हो चली थी। राज दरबारों के वैभव की बासा पुनरावृत्ति से वस्तु वर्णन धूमिल हो रहा था। व्यक्ति वैशिष्ट्य का चित्रण रूढ़ होकर नायक नायिकाओं के बँधे 'टाइपों' में सिमट चला था। मुक्तक काव्य कृत्रिम और अलंकृत थे। प्रबंध काव्य आकार में विपुल होते हुए भी जीवन-हीन था। संस्कृत काव्य के इसी ह्रासोन्मुखी परिपार्श्व में अपभ्रंश काव्य पल्लवित हुआ। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि इसकी भूमि दूसरी थी। संस्कृत काव्य मृत दरबारों की संस्कृति की उपज था तो अपभ्रंश विकासोन्मुख राजाओं का आश्रय लेकर विस्तृत जन-जीवन की भूमि से रस ले रहा था। अपभ्रंशकाव्य के इतिहास को समझने के लिए उसके समानान्तर बहने वाला संस्कृत काव्य की मरणोन्मुखी धारा को ध्यान में रखना जरूरी है। भाव की नवीनता ही नई भाषा का रूप लेती है। अपभ्रंश भाषा यदि नई थी तो इसको आकार देने वाली चेतना तथा भावना भी नई थी। संस्कृत के प्रबंध और मुक्तक काव्यों के मुकाबले तत्कालीन अपभ्रंश प्रबंधों और मुक्तकों का ओजस्विता सरसता तथा जीवंतता का यही रहस्य है। अपभ्रंश दसवीं से बारहवीं शताब्दी की नवीन युग चेतना का वाहन बनकर ऊपर उठी और यह शक्ति संस्कृत में न थी।

अपभ्रंश काव्य की यह धारा बहुमुखी थी। सबसे पहले पूर्वी

अपभ्रंश का सिद्ध साहित्य। सिद्ध चौरासी कहे गए हैं परंतु सबकी रचनायें अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी हैं। उनमें से केवल कुछ का संग्रह प्रकाशित हो सका है।[1] सिद्धों में सरह [सरोरुह वज्र] और काण्ह [कृष्ण पाद आचार्य] के दोहे तथा पद अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें प्राय: सरह काण्ह से पूर्ववर्ती माने जाते हैं।

परंतु डा० शहीदुल्ला ने[2] काण्ह का समय ७०० ई० के आसपास माना है और इसी आधार पर डा० तगारे ने काण्ह को सरह से पूर्ववर्ती समझकर भाषा विचार किया है।[3]

काण्ह जालंधर नाथ के शिष्य के रूप में विख्यात हैं तथा इनके नाम के अनेक रूपान्तर मिलते हैं यथा-काण्हपा, कान्हूपा, कानपा, कानफा आदि। श्री राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बती परंपरा के आधार पर इन्हें कर्णाटक देशीय ब्राह्मण माना है[4] और डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने जुलाहा जाति में उत्पन्न उड़िया भाषी।[5] डा० शहीदुल्ला ने इन्हें समतट (पूर्वी बंगाल) का निवासी बतलाया है और म० म० हरप्रसाद शास्त्री भी इन्हें बंगाली मानते थे।[6] राहुल जी ने इनकी

[1] ज० डि० ले० (कलकत्ता यूनिवर्सिटी जिल्द २८)
बौद्ध गान ओ दोहा—म० म० हरप्रसाद शास्त्री, बं० सं० १३२३
डा० शहीदुल्ला का संस्करण।

[2] Les Chants Mystiques—भूमिका (डा० तगारे द्वारा उद्धृत)

[3] हि० ग्रै० अप० : भूमिका पृष्ठ २०

[4] गंगा पुरातत्वांक पृष्ठ २५४ और हिं० का० धा० पृष्ठ १४६ १४७

[5] साधन माला द्वितीय भाग, प्रस्तावना पृष्ठ ५३ (डा० ह० प्र० द्विवेदी द्वारा नाथ संप्रदाय में उद्धृत)

[6] बौ० गा० दो० पृष्ठ २४

भाषा के आधार पर इन्हें मगही (बिहारी) कहा है। पंडितों की यह खींचतान नई नहीं है। प्रतिभाशाली को सभी अपने पास का कहना चाहते हैं। इन्होंने बहुत लिखा है। स्व० हरप्रसाद शास्त्री को इनकी लिखी ५७ पुस्तकें प्राप्त हुई थीं जिनमें बारह संकीर्तन पद भी हैं। राहुल जी ने कान्हपाद गीतिका, महा ढुंढन मूल, वसंत तिलक, असंबद्ध-दृष्टि, वज्र गीति और दोहाकोष इन छः ग्रंथों को मगही में लिखित कहा है। दोहाकोष के नाम पर बत्तीस दोहे शास्त्री जी ने संस्कृत सटीक संपादित किया था जिनके कुछ पाठों पर डा० गुणे को कुछ आपत्ति थी।[1] खेद है कि डा० गुणे यह महत्त्वपूर्ण कार्य करने से पूर्व ही दिवंगत हो गए।

काण्ह के दोहे तथा पद पूर्वी अपभ्रंश में हैं। इनकी भाषा पर मागधी प्राकृत का प्रभाव है। विशेषतः स-श, व-ब, न-ण संबंधी। भाषा पश्चिमी अपभ्रंश के कुछ ग्रंथों की तरह गढ़ी हुई नहीं लगती। प्राप्त पाठों को देखने से प्रतीत होता है कि इन्हें अपनी बात कहने की चिंता अधिक थी, छंदों के सजाव-सिंगार की कम या बहुत कम। इसीलिए जहाँ एक ओर अलंकृति खोजने वाले निराश होंगे वहाँ दूसरी ओर गुरु-लघु का विचार करने वाले छंदः शास्त्री भी झल्ला उठेंगे। कहीं-कहीं सांकेतिक, तथा साम्प्रदायिक पारिभाषिक पदावली और प्रतीकों के कारण भाषा दुरूह प्रतीत होती है। कवित्व और विद्या दोनों दृष्टियों से काण्ह चौरासी सिद्धों में सर्वश्रेष्ठ गिने जाते हैं।

सरह अथवा सरोरुह पाद भी चौरासी सिद्धों में से एक हैं। राहुल जी ने इन्हें भी मगध देशीय कहा है और मगध में भी नालंदा वासी। इनकी रचनाओं की सूची उन्होंने एक दर्जन से ऊपर दी है, परंतु सभी अपभ्रंश की प्रतीत नहीं होती। इन्होंने भी पद और दोहे दोनों लिखे। संख्या में इनके दोहे काण्ह से अधिक मिलते हैं।

काव्य विषय सरह और काण्ह दोनों का लगभग एक सा है।

[1] भ० क० भूमिका पृष्ठ ४६ पाद टिप्पणी।

अधिकांश उपदेशात्मक सूक्तियाँ हैं। गुरु माहात्म्य, रूढ़ि-खण्डन, जाति-भेद पर प्रहार, पौस्तक ज्ञान का उपहास, वेद-प्रामाण्य की असारता, स्वसंवेद्य ज्ञान का बखान, सहज रस का गुण गान और शून्य संचरण का संकेत यही सब उनकी कविता मे प्रायः वर्णित हैं। इनके यहाँ डाकिनी, डोमिन, ब्राह्मण, पत्नी आदि का प्रयोग गुह्य साधना के प्रतीक स्वरूप हुआ है। जहाँ यह गुह्य चर्चा और शब्दों का ऐकांतिक प्रयोग नहीं हुआ है वहाँ सूक्तियाँ बहुत ही हृदयहारी हैं। कहने में एक शक्ति है, प्रहार में निर्भीकता है, भाषा में अनगढ़ सौन्दर्य है।

इसी प्रकार का एक तान्त्रिक अपभ्रंश ग्रन्थ डाकार्णव[1] भी है जिसका रचना काल तेरहवीं शती है।

इन रचनाओं के कुछ आगे-पीछे पश्चिमी भारत में जैन मुनि भी कुछ इसी प्रकार का धार्मिक साहित्य प्रस्तुत कर रहे थे। इन रचनाओं जोइन्दु (योगीन्दु) का परमात्मप्रकाश तथा योगसार[2] सबसे प्राचीन है। डा० उपाध्ये ने योगीन्दु को ईसा की छठी शताब्दी का बतलाया है और अधिक से अधिक १०वीं शती तक इनका समय खींचा जा सकता है। परमात्मप्रकाश जैनमत के अध्यात्मक तत्त्वज्ञान का ग्रंथ है। इसमें दो अधिकार हैं पहले अधिकार में १२३ तथा दूसरे मे २१४ दोहे हैं। प्रारंभ के सात दोहों मे पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है फिर तीन दोहों मे ग्रंथ की उत्थानिका है फिर पाँच मे बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा का स्वरूप बतलाया गया है। इसके बाद दस दोहों मे विकल परमात्मा का स्वरूप आता है। पाँच क्षेपकों सहित चौबीस दोहो मे सकल परमात्मा का वर्णन है। ९ दोहों मे जीव के स्व-शरीर प्रमाण की

---

[1] कलकत्ता संस्कृत सीरीज़ सं० १०; सं० डा० नागेन्द्रनारायण चौधरी १९३५ ईस्वी०

[2] रामचन्द्र जैन शास्त्र माला—१०; सं० डा० आदिनाथ ने० उपाध्ये १९३७ ईस्वी

चर्चा है। फिर द्रव्य, गुण, पर्याय, कर्म, निश्चय-सम्यग्दृष्टि, मिथ्यात्व आदि वर्णित हैं। दूसरे अधिकार में क्रमशः मोक्ष का स्वरूप, मोक्ष का फल, निश्चय और व्यवहार मोक्ष मार्ग, अभेद रत्नत्रय, समभाव, पाप-पुण्य की समानता, शुद्धोपयोग तथा परम समाधि की चर्चा है। योगसार का भी विषय लगभग ऐसा ही है। उसमें भी लगभग १०८ दोहे हैं। दोनों पुस्तकों मे प्रायः दोहा छंद ही है; परमात्मप्रकाश मे एक अपभ्रंश चतुष्पादिका तथा प्राकृत की कुछ गाथायें और संस्कृत की एक स्रग्धरा और एक मालिनी है। योगसार में भी एक चौपाई तथा एक सोरठा है। इन रचनाओं मे पुनरावृत्ति तथा अननुक्रम कहीं-कहीं खटकता है। शुष्क ज्ञान चर्चा को रोचक बनाने के लिए लोक प्रचलित उपमाओं का सहारा लिया गया है। डा० उपाध्ये का अनुमान है कि योगीन्दु कुंदकुंद और पूज्यपाद नामक दो जैन आचार्यों के ऋणी हैं। जो हो योगीन्दु की रचना से स्पष्ट है कि उन्होने जैन ग्रंथों के अध्ययन की अपेक्षा अनुभव सात्विक साधना को काव्य रूप दिया है। परमात्मप्रकाश और योगसार का महत्त्व उनकी धार्मिक सहिष्णुता में है। उन्होंने जैनेतर बौद्ध, शैव, मीमांसक, वेदांती आदि मतों के प्रति भी सहानुभूति प्रकट की है और कहा है कि परमात्मा की रूपरेखा तो एक निश्चित है परंतु उसे एक निश्चित नाम से पुकारने पर जोर देना नहीं चाहिए। वे अपने परमात्मा को जिन, ब्रह्म, शान्त, शिव, बुद्ध आदि अनेक संज्ञायें देते हैं। इसके सिवा, उन्होंने अपना काम चलाने के लिए अनेक जगह जैनेतर शब्दावली का प्रयोग किया है। सरह और काण्ह के रचनागठन से योगीन्दु मे यही अंतर है कि वे छंदों मे अपना नाम भी रखते हैं परंतु ये नहीं। योगीन्दु की भाषा प्राचीन पश्चिमी अपभ्रंश है जिसके अनेक शब्द संस्कृत से गढ़े हुए प्रतीत होते हैं। न 7 ण तथा मनमाना व्यंजनों को लोप करके उसके स्थान पर 'अ' या 'य' रख दिया गया है जिससे प्रायः मतिभ्रम होता है। छंदबद्ध दुरुस्त-दुरुस्त है। सरह और काण्ह की अपेक्षा यहाँ समास अधिक मिलते हैं। हेमचन्द्र ने अपने

व्याकरण में इसके तीन दोहे थोड़े से परिवर्तन के साथ उद्धृत किए हैं।

ऐसी रचनाओं में सावयधम्म दोहा[1] तथा पाहुड़ दोहा[2] का नाम आता है। 'सावयधम्म दोहा' नाम प्रो० हीरालाल जैन ने कुछ ऊहापोह के बाद स्वयं दिया है। इसके रचयिता के विषय में भी मत वैभिन्न्य है। प्रो० हीरालाल देवसेन को इसका रचयिता कहते हैं तथा अन्य अनुश्रुतियों में से कुछ जोइन्दु का नाम लेती हैं और कुछ लक्ष्मीचन्द्र या लक्ष्मीधर का। इसका रचना काल ९३३ ईस्वी माना गया है। रचना स्थान धार (मालव)। इस ग्रंथ में मुख्यतः श्रावकों के आचार वर्णित हैं। इसकी भाषा अत्यंत सरल और साधारण है। पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग नहीं है। संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों का बहिष्कार है। उपदेश को स्पष्ट और प्रभावशाली बनाने के लिए प्रायः दैनिक जीवन के उदाहरणों से उपमायें ली गई हैं। बीच-बीच में अनेक ललित सूक्तियाँ झलक मारती हैं।

पाहुड़ दोहा के रचयिता मुनि रामसिंह कहे जाते हैं जो राजपूताना के रहने वाले थे। इनका रचनाकाल १०वीं शती माना जाता है। दोहों की संख्या लगभग सवा दो सौ है। प्रो० हीरालाल ने इसके नाम का तात्पर्य भूमिका में समझाया है और यह भी स्पष्ट किया है कि इसका वास्तविक नाम 'दोहा पाहुड़' होना चाहिए। परमात्मप्रकाश की तरह यह भी तत्त्वज्ञानपरक ग्रंथ है। इसके भी कुछ दोहे हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में उद्धृत किये हैं। पाहुड़ दोहा तत्त्वज्ञान का ग्रंथ होते हुए भी परमात्मप्रकाश की तरह जटिल भाषा में नहीं है। इसमें भी अनेक सुंदर सूक्तियाँ मिलती हैं।

अपभ्रंश के इन सूक्ति-बहुल धर्माचार-प्रचारक नीरस काव्यग्रंथों के बीच वीर और शृंगार की ललित रचनायें भी फुटकल रूप में मिलती

[1] सं० हीरालाल जैन, अमरावती सन् १९३२ ईस्वी

[2] वही, सन् १९३३ ईस्वी

हैं जिनका स्रोत जैनेतर प्रतीत होता है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे किसी दूसरे धार्मिक सम्प्रदाय से संबद्ध हैं। वे रचनायें तत्कालीन लोक गीत प्रतीत होती हैं जो सामान्य जन के ऐहिक जीवन के रससिक्त क्षणों को प्रतिबिंबित करती हैं। ये रचानायें मात्रा में बहुत थोड़ी हैं। इनमें से कुछ हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के चतुर्थ पाद में संकलित हैं, कुछ सोमप्रभ के कुमारपाल प्रतिबोध[1] में और कुछ प्रबंध चिंतामणि मे मुंज के दोहे। अद्दहमाण का 'संदेश रासक'[2] इस प्रकार की स्वतंत्र रचना है।

हेमचन्द्र के उद्धरणों में लगभग सवा सौ पद्य इस प्रकार के हैं जो वीर, शृंगार तथा मार्मिक अन्योक्ति के द्वारा ऐहिक जीवन की सरसता प्रकट करते हैं और किसी भी साहित्य के लिए गौरव की वस्तु हो सकते हैं। यदि अपभ्रंश का और कोई साहित्य न मिलता तब भी हेमचन्द्र के उद्धरणों मे संकलित ये दोहे अपभ्रंश के मुक्तक काव्य का मानदण्ड ऊँचा रखते। जैन मुनियों की आचार प्रधान सूक्तियों में उत्साह दर्प से भरे हुए उस काव्य को देखकर साफ मालूम पड़ता है कि वह आभीर, गोप, गुर्जर जैसी किसी युद्ध प्रिय जाति का हृदयोद्गार है। पूरे अपभ्रंश साहित्य में तलवार की चमक, हाथियों से लड़ने का साहस और हँसते-हँसते मैदान में जूझने की क्रीड़ा वहीं मिलती है। वहाँ पुरुषों का पौरुष तो है ही, वीर रमणियों का भी पौरुष प्रकट होता है। अपने प्रिय के साहस का बखान करती हुई ललनाओं की दर्पोक्ति शृंगारसिक्त वीर रस की अद्भुत सृष्टि करती है। एक नारी अपनी सखी से अभिमान के साथ कहती ह कि हमारा कांत सौ-सौ युद्धों

---

[1] अपभ्रंश अंश का संपादन लुडविग अल्सडोर्फ ने हेमवर्ग से सन् १९२८ ई० मे किया।

[2] सिंघी जैन ग्रंथ माला—सं० मुनि जिनविजय और वियाणी १९४२ ई०

में अतिमत्त निरंकुश गजों के गंडस्थलों को विदीर्ण करने वाला बखाना जाता है। जहाँ तीर-तीर को काट डालते हैं और तलवारों से तलवार खण्ड-खण्ड हो जाती है वैसे भीषण संग्राम में वीरों के घटा के बीच कंत मार्ग प्रकाशित करता है।' अपने छज्जे से अथवा शिविर से युद्ध का दृश्य देखती हुई वह फिर कहती है कि यदि वह भागती हुई सेना शत्रु-दल की है तब तो वह मेरे प्रिय का पराक्रम है और यदि वह हमारी है तब निश्चय ही मेरे प्रिय के मारे जाने पर ही यह संभव है।' और वहाँ प्रिय की मृत्यु पर नायिका की आँखों में आँसू नहीं आते बल्कि दर्पभरे ये वाक्य निकलते हैं: भला हुआ कि मेरा कंत मारा गया। यदि वह भागकर घर आता तो मैं अपनी सखियों के बीच कौन सा मुँह दिखाती। युद्ध के मैदान में शशिलेखा की भाँति चमकती हुई तलवार नायिका के हृदय में उल्लास-उत्पन्न करती है भय नहीं। इसीलिए वहाँ कन्यायें ऐसे पति की याचना करती हैं जो इस जन्म में और उस जन्म में भी निरंकुश मत्तगजों का हँसते-हँसते पीछा करे। नायिका अपने पति को सिंह से भी श्रेष्ठ समझती है क्योंकि सिंह अरक्षित गजों का बध करता है जब कि उसका कांत सेनानियों द्वारा सुरक्षित गजों का।

अपने कांत की युद्धवीरता तथा दानवीरता दोनों को साथ व्याज स्तुति करते हुए वह कहती है—

> महु कन्तहो वे दोसडा हेल्लि म झंखहि आलु।
> देन्तहो हउ पर उव्वरिअ, जुज्झंतहो करवालु॥

स्त्री युद्ध-काल में घर बैठी नहीं रहती बल्कि प्रिय के साथ-साथ मैदान में जाती है और समय-समय पर प्रोत्साहित करती रहती है —। एक बार वह कहती है:

> : प्रिय एम्वहि करे सेल्हु करि, छड्डहि तुहुँ करवालु।
> जं कावालिय बप्पुडा, लेहिं अभग्गु कवालु॥

यह तलवार की धार पर युद्ध में ही सुखी रहता है और युद्ध के अभाव में अन्य देश के लिए प्रस्थान करना चाहता है—प्रिया कहती है—

खग्ग-विसाहिउ जहिं लहहु, पिय तहि देसहि जाहुँ
रणदुब्भिक्खें भग्गइ, विणु जुज्झें न वलाहुं ॥

यह ओज, दर्प और शौर्य समूचे संस्कृत साहित्य में भी कम मिलता है।

वीर और पौरुष पूर्ण हृदय ही प्यार करना जानता है और स्वस्थ शृंगार रस की झलक वहीं मिलती है। यही कारण है कि इस वीर जाति का शृंगार भी वैसा ही सरल और स्वस्थ है। न तो यहाँ संस्कृत साहित्य के मुक्तकों की विलासमयी आभिजात्य क्रीड़ायें हैं और न रीतिकालीन हिंदी साहित्य की नायिका भेद वाली लुका-छिपी। गाँव के सीधे सादे जीवन में गार्हस्थ्य प्रेम के विविध रूपों को यहाँ सहज भाव से अनलंकृत रूप में रख दिया गया है। न वचन-चातुरी है और घर की चारदीवारी के भीतर घातों की चितना न अवसर की ताक।

संयोग-सुख सोलह आने संयोग है और वियोग-दुख सोलह आने वियोग। प्रगाढ़ आलिंगन की परिकल्पना करती हुई नायिका कहती है कि यदि किसी प्रकार प्रिय को पा जाती तो वह कौतुक करती जो आज तक नहीं किया। जिस प्रकार पानी मिट्टी के नए बर्तन के कण कण में भिद जाता है उसी प्रकार मैं प्रिय के सर्वांग में प्रवेश कर जाऊँगी। परन्तु मिलन के समय वही मुग्धा प्रिय का मुख कमल देखती हुई ही सारी रात बिता देती है। दर्शन-सुख में ही वह इतनी आत्म विभोर हो जाती है कि स्पर्श, चुम्बन, आलिंगन आदि का ध्यान ही नहीं रहता। पीछे उसके चले जाने के बाद वह पछताती है कि न तो अधर से अधर ही मिला और न अंग से अंग ही। प्रवासी प्रिय को देर करते देख वह दिवास्वप्नों में डूब जाती है कि प्रिय आयेगा, मैं रूठूँगी और वह मनायेगा लेकिन सपना भी कभी सच हुआ है! उल्टे, मिलन के समय प्रिय ही रूठ जाता है और इस दीर्घ मान पर नायिका कभी तो यह समझती है

कि रात नींद में ही चली जायेगी और सबेरा हो जायेगा; तो कभी कहती है कि जीवन चंचल है, मरण निश्चित है तब भी तुम क्यों रूठते हो। रूठने में दिन ब्रह्मा के सौ वर्षों के समान हो जाता है।

जिसने सयोग सुख के घनत्व का अनुभव किया है वही विरह वेदना को भी समझ सकता है। काव्य में प्रायः विरह वर्णन का आधिक्य मिलता है। विरह में प्रेम शारीरिक सुखोपभोग से ऊपर उठकर भाव प्रधान हो जाता है और उसी अवस्था में प्रेम की विविध दशाओं की अभिव्यक्ति सम्भव होती है। नायिका को तो न यो नींद न त्यों। प्रिय संगम में नींद आई ही नहीं तो वियोग में नींद कहाँ? बेचारी दोनों प्रकार से नष्ट हुई। उधर प्रिय ने प्रवास की जो अवधि दी थी वह भी बढ़कर इतनी लंबी हो गई कि उसे गिनते गिनते बेचारी की अगुलियाँ नखों से जर्जर हो गईं, परंतु प्रिय नहीं आया। धीरे धीरे प्रिय का स्मरण भी विस्मरण हो जाता है क्योंकि वह जब भूलता ही नहीं तो याद क्या किया जाय। उसके लिए अब यदि कोई सहारा है तो अपने ही दोनों हाथ जिन्हें चूम चूम कर वह जीवन धारण करती है क्योंकि उन्हें हाथों से उसने प्राण प्रिय को हाथ-प्रतिबिम्बित मूंजो वाला जल पिलाया था। वह प्रिय के पास संदेश भेजना चाहती है परंतु संदेश भेजने में लज्जित है—

जइ पवसंते सहुँ न गय, न मुअ विओए तस्सु।
लज्जिज्जइ संदेसड़ा देन्तेहि सुहयजणस्सु॥

आखिर वह अपने हृदय को कोसती है कि तुमने पहले ही कहा था कि प्रिय-वियोग के समय फट जाऊँगा परंतु तू भारी ढक्कर सार निकला। फिर भी वह अपने हृदय से कहती है—

हियडा फुट्टि तडत्ति करि, कालक्खेवें काइँ।
देक्खउँ हय-विहि कहिँ ठवइ पइँ विणु दुक्खु सयाइँ॥

उधर प्रवासी पथिक को भी चिंता है। अनुराग तुल्य है, एकपक्षीय नहीं। वह बादल से कहता है—

लोणु विलिज्जइ पाणिएण अरि खलमेह म गज्जु ।
बालिउ गलइ सुझुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्जु ॥

गोरी के शरीर पर विरह के कारण छहों ऋतुओं ने अपना प्रभाव एक ही समय फैला दिया है—'एक आँख मे सावन है तो दूसरी में भादों, सॉथरी में माधव है तो कपोलों में शरद्। अंगों की ऊष्णता मे ग्रीष्म दिखाया पड़ता है तो सुवासिका के तिलवन में अगहन और शीतभ्रष्ट कमल से मुह पर शिशिर ऋतु का साम्राज्य है ।

मनोभावो के सूक्ष्म अंकन के अतिरिक्त रूप वर्णन की बारीक रेखायें भी हैं। आश्चर्य है कि उस मुग्धा के स्तनों का अंतर इतना सूक्ष्म है कि उनके मार्ग में मन तक नहीं समाता ।

कटरि थणंतरु मुद्धडहे जें मणु विच्चि न माइ ।

अन्योक्तियो मे कृषक जीवन के उपादानो के माध्यम से गहरी मार्मिकता उत्पन्न की गई है ।

धवलु विसूरइ सामिअहो गरुआ भरु पिक्खेवि ।
हउँ कि न जुत्तउ दुहुँ दिसिहिं खण्डइँ दोण्णि करेवि ॥

सोमप्रभ का समय ११९५ ईस्वी के आसपास है। वे अनिहलवाड़ा (गुजरात) के जैन साधु थे। *कुमारपाल प्रतिबोध* मे उन्होंने नीति-परक कुछ सूक्तियों के अतिरिक्त मंत्रि पुत्र स्थूलिभद्र तथा कोशा वेश्या के प्रेम संबंधों का विस्तृत वर्णन किया है और उसी बहाने नारी सौन्दर्य का चित्रण, विरह वर्णन और बसंत आदि ऋतुओं का चित्रण किया है। सोमप्रभ की भाषा संस्कृत की सामासिक पदावली का अपभ्रंश कृत रूपांतर लगती है। उसमें वह प्रांजल प्रवाह नहीं है जो हेमचन्द्र व्याकरण मे उद्धृत दोहों की भाषा मे मिलता है। सोमप्रभ मे अलंकरण भी बहुत है ।

जसु अहर हरिय-सोहग्ग-सारु ।
नं विद्रुम सेवइ जलहि खारु ॥

जसु दंत पंत्ति सुंदेरु इंदु।
नहु मीश्रोमहँ तुवि लहइ कंदु॥
असणागुलि पल्लव नह पसूण।
जसु सरल-भुयउ लयाउ नूण॥
घण-पीण-तुंग-थण-भार-सत्तु।
जसु मज्झु तणुत्तणु नं पवत्तु॥

प्रबंध चिंतामणि में मुंजराज-प्रबंध तथा अन्य प्रबंधों में जो अपभ्रंश दोहे मिलते हैं उनके रचयिता का पूरा पता नहीं है। उन दोहों की रचना भी ग्यारहवीं शताब्दी से पहले ही हो गई होगी। 'मुंज' नामधारी दोहों की संख्या काफी है और कुछ पंडितों का अनुमान है कि स्वयं मुंज ने ही उनकी रचना की थी परंतु बिना किसी आधार के यह कहना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। राहुल जी ने उसे अज्ञात कवि कहा है। सभव है ये दोहे किसी बड़े चरित काव्य के अंश हों जो अब अप्राप्य हो गया है और मौखिक परंपरा में उसके कुछ अंश सुरक्षित रह गए हैं। जो हो, मुंज का चरित इतना साहसिक तथा काव्यमय था कि उसको छंदोबद्ध रूप में सहज भाव से रखना भी एक उच्चकोटि का प्रयत्न होता। किस प्रकार वह अपने अमात्य रुद्रादित्य मेहता के मना करने पर भी तैलप पर चढ़ गया और कैद हुआ; किस प्रकार तैलपराज की अधेड़ बहिन मृणालवती, उस पर रीझ उठी परंतु जब मुंज ने भागने की तैयारी की तो मृणालवती ने इस भय से सारा भेद अपने भाई को बतला दिया कि मुंज मुझे अधेड़ समझकर छोड़ देगा। फलतः भागने की चेष्टा करते समय मुंज का पकड़ा जाना और फटे हाल सारे शहर में भिक्षाटन के लिए उसका घुमाया जाना तथा अंत में हाथी के पाँव तले कुचलवा कर मरवा दिया जाना आदि घटनायें अपने आप में एक रोमांचक उपन्यास का विषय हैं। श्री कन्हैयालाल मुंशी ने इस युग में उन्हीं सूत्रों को जुटाकर 'पृथ्वीवल्लभ' नाम का उपन्यास लिखा भी। इस सरस आख्यान से लिपटे हुई सामान्य उक्तियाँ भी मार्मिक हो उठी हैं।

इसी प्रकार रा'नवघण तथा राणा संबंधी दोहे भी काफी मार्मिक हैं। किस प्रकार सिद्धराज जयसिंह खेगार के रा'नवघण पर चढ़ाई कर उसका वध करता है तथा उसकी प्रिया 'राणा' को अपनी बनाना चहता है और राणा उसे धिक्कारती है! श्री कन्हैयालाल मुंशी ने इस आख्यान को भी 'गुजरात के नाथ' नामक उपन्यास में बाँधा है।

इन फुटकल ऐहिक पद्यों में सबसे अधिक सरस है *अद्दहमाण* का संदेस रास। पंडितों ने इस अपभ्रंश नाम को अब्दुर्रहमान कहा है परंतु अपभ्रंश काव्य परंपरा में एक मुसलमान का मिलना थोड़ा सा आश्चर्य जनक ही लगता है। फिर भी जब तक वास्तविक नाम का पता नहीं चलता हम उसे अब्दुर्रहमान ही मानेंगे। राहुल जी ने इन्हें मुल्तान का निवासी कहा है और समय लगभग १०१० ई०। * संदेश रासक एक मुक्तक रचना है जिसमें पद्यों का क्रम कुछ इस प्रकार है कि प्रबंधत्व का आभास मिल जाता है परंतु इसमें कथा कुछ भी नहीं है। पूरी पुस्तक लगभग सवा दोसौ पद्यों की छोटी सी कृति है जिसमें एक विरहिणी प्रोषितपतिका का विरह निवेदन है। विरह निवेदन के बीच कवि ने षट ऋतु वर्णन भी किया है और विभिन्न ऋतुओं की प्रकृति के बीच विरहिणी के भावों का उत्कर्ष दिखलाया है।

भाषा इतनी सरल, प्रांजल तथा टकसाली अपभ्रंश है कि पूरे अपभ्रंश काव्य में कम कवियों की भाषा इसके सामने ठहरेगी। दोहा के अतिरिक्त पज्झटिका, अड़िल्ल, छप्पय आदि छंदों का भी प्रयोग किया गया है। रचना के कुछ नमूने इस प्रकार हैं :—

(१) पिअ-विरह-विओए संगम सोए, दिवस रयणि झूरंत मणे।
णिरु अंगु सुसंतह बाह फुसंतह, अप्पह णिंदय किंपि भणे॥

---

* श्री अगरचंद नाहटा ने अब्दुर्रहमान का समय सं० १४०० वि० के आस पास माना है : विकास

तसु सुयण निवेसिय भाइण पेसिय, मोह वसण बोलंत खणे।
मह साइम वक्खरू हरि गउ तक्करु, जाउ सरणि कसु पहिय भणे॥

... ...

(२) *ग्रीष्म वर्णन*

विसम झाल झलकंत जलंतिय तिव्वयर।
महियलि वण-तिण-दहण तवंतिय तरणिकर॥
जम-जीहइ णं चचलु णहयलु लहलहइ।
तडतड यड घर तिडइ ण तेयह भरु सहइ॥

(३) *वर्षा वर्णन*

हरियाउलु धग्वलउ कयंबिण महमहिउ।
कियउ भंगु अगंगि अणंगिण मह अहिउ॥
झंपवि तम बद्दलिण दहह दिसि द्धायउ अंबरु।
उन्नवियउ घुरहुरइ घोरु घण-किसणाडंबरु॥
णहह मग्गि णहवल्लिय तरल तडयडिवि तडक्कइ।
दद्दुर-रडणु रउद्दु सद्दु कुवि सहवि ण सक्कइ॥

(४) *शरद् वर्णन*

धवलिय धवल मंच संकासिहि।
सोहइ सरह तार संकासिहि॥
णिम्मलणीर सरिहि पवहतिहिं।
तड रेहंति विहंगम—पंतिहिं॥

(५) *हेमंत वर्णन*

डुइय अणायर सीअल भुवणिहि पहिय जल।
ऊसारिय सत्थरहु सयल कंदुट्ट दल॥

(६) *शिशिर वर्णन*

उट्टिउ झखड गयणि खरफरसु पवणिहय।
तिणि सुडिय झडि करि ओरस तहि रूय गय॥

छाय-फुल्ल-फल-रहिय असेविय सउणियण।
तिमिरंतागिय दिसाय तुहिण धूइण भणिय॥
मग्ग भग्ग पंथियह ण पविसिहि हिमडरिण।
उज्जाणहँ ढंखर छुअ सोसिअ कुसुमवण॥
मत्त मुक्क संठिविउ'वि वहुगंधक्करिसु।
पिज्जइ अद्धावट्टउ रसियहि इक्खु-रसु॥

(७) *वसंत वर्णन*

गयउ सिसिरु वणतिण दहंतु।
महुमास मणोहरु इत्थु पत्तु॥
गिरि मलय-समीरणु णिरु सरंतु।
मयणग्गि-विऊयह विप्फुरंतु॥
वहु-विविह-राइ घण मणहरेहिँ।
मिय सावग्त-पुप्फंवरेहि॥
महमहिउ अगि वहु गंध मोउ।
ण तरणि पमुक्कउ सिसिर मोउ॥

उपर्युक्त वर्णनों मे अद्दहमाण के सूक्ष्म प्रकृति-पर्यवेक्षण मूलक वस्तु वर्णन का आभास मिल सकता है। बाह्य प्रकृति की भाँति अन्तः प्रकृति की अनेक भाव-भूमियों का दिग्दर्शन कराने मे भी कवि-कौशल का परिचय दिया है।

इन मुक्तक रचनाओं के अतिरिक्त अपभ्रंश साहित्य का भाण्डार अनेक *प्रबंध काव्यों* से भरा हुआ है। प्रबंध काव्यों के भी कई प्रकार हैं। कुछ तो चरित हैं, कुछ कथा तथा कुछ पुराण। ऊपर से देखने पर इनके गठन मे कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि ये शब्द अपभ्रंश काव्य मे पारिभाषिक रूप से प्रयुक्त होते थे। स्वयं संस्कृत साहित्य में भी यह भेद दिखाई पड़ता है। बाण की कादंबरी कथा तथा हर्ष चरित में अंतर है। एक का आधार अनैतिहासिक

आख्यान है तो दूसरे का आधार प्रधानतः इतिहास है और अन्य आख्यान गौण रूप से जोड़ दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त कथा आद्योपांत धारावाहिक रूप से चलती है जब कि चरित के कथानक का विभाजन विभिन्न उच्छ्वासों में किया गया है। अपभ्रंश में कथा और चरित का यह दूसरा भेद स्वीकृत नहीं दिखाई पड़ता। 'भविसयत्त कहा' भी संधियों में विभाजित है और 'पउम चरिउ' भी विविध सर्गों में। हाँ, पुराणों की शैली वही है जो संस्कृत के पुराणों की है अर्थात् एक महापुरुष की अपेक्षा अनेक महापुरुषों की जीवन गाथा को छंदोबद्ध रूप देना।

अपभ्रंश के ये प्रबंध काव्य निम्नलिखित हैं।

१. पउम चरिउ या रामायण—स्वयंभू[1]	[७६० ईस्वी]
२. जसहर चरिउ[2]—पुष्पदंत	९५६-७२ ईस्वी]
३. णायकुमार चरिउ[3]—पुष्पदंत	[९४६-६२ ईस्वी]
४. करकण्डु चरिउ[4]—कनकामर	[९७५-१०२५ ईस्वी]
५. सनत्कुमार चरित[5]—हरिभद्र	[११५६ ईस्वी]
६. सुपासणाह चरिउ[6] [अंशतः अपभ्रंश] लक्ष्मण गणि	[११४२ ईस्वी]
७. नेमिनाह चरिउ[7]—हरिभद्र	[११५६ ईस्वी]

[1] अंशतः प्रकाशित। भंडार का इन्स्टीट्यूट पूना में पाण्डुलिपि सुरक्षित।

[2] करंजा जैन ग्रंथ माला—सं—डा० प० ल० वैद्य, १९३१ ईस्वी

[3] देवेन्द्र जैन ग्रंथ माला—सं—हीरालाल जैन १९३३ ईस्वी

[4] करंजा जैन ग्रंथ माला—सं—हीरालाल जैन १९३४ ईस्वी

[5] सं०—याकोबी १९२१

[6] सं०—एच० टी० सेठ

[7] सं०—याकोबी

८. कुमार पाल चरित[1] [अंशतः अपभ्रंश]--हेमचन्द्र [१०८८-११७२]

९. भविसयत्त कहा[2]—धनपाल [१००० ईस्वी]

१०. महापुराण[3]—पुष्पदंत [९५९-७२ ईस्वी]

इन प्रकाशित प्रबंध काव्यों के अतिरिक्त और भी अनेक अप्रकाशित चरित काव्य हैं।

स्वयंभू की रामायण ९० संधियों का विशाल महाकव्य है जिसका विभाजन कवि ने ५ काण्डों में किया है; विद्याधर कांण्ड, अयोध्या कांड, सुंदर कांड, युद्ध कांड तथा उत्तर कांड। संभवतः यह कृति अपूर्ण रह गई या और उसका शेषांश कवि पुत्र ने पूर्ण किया। पंडितों का अनुमान है कि स्वयंभू (चतुर्मुख) ने केवल ८३ वीं संधि तक ही रचना की थी क्योंकि कथा वहीं तक पूरी हो जाती है परंतु उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू ने ७ संधियाँ और जोड़ दीं। प्राप्त प्रतियों में से एक गोपाचल (ग्वालियर) में १५६४ ई० में लिखवाकर समाप्त की गई थी और दूसरी जयपुर में प्राप्त हुई। स्वयंभू रयडा (राजश्रेष्ठा ?) धनंजय के आश्रित थे तथा उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू वंदइ (वदक) के।[4]

स्वयंभू ने इस रामायण की रचना 'आत्मसुख' के लिए की है— 'पुणु अप्पाणउं पायडीन रामायणकावें' अर्थात् फिर अपने लिए रामायण काव्य प्रकट करूँगा। यह पंक्ति हिंदी कवि गो० तुलसीदास

[1] सं०—एस० पी० पंडित

[2] गायक वाड सीरीज सं० २०, सं० पां० दा० गुणे १९२३

[3] माणिक चन्द्र दिगंबर जैन ग्रंथ माला—सं-डा० प० ल० वैद्य, १९३७, ४०४१

[4] हि० का० धा० पृ० २२-२३-पाद टिप्पणी।

के 'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा भाषा-निबंध-मति मंजुलमात नोति' की याद दिलाती है। आरंभ में कवि आत्म निवेदन करता है—

बुहयण सयंभु पइँ विण्णवइ। मइ सरिसउ अण्ण णाहि कुकई॥
वायरणु कयाइ ण जाणियउ। णउ वित्ति-सुत्त वक्खानियऊ॥
णा णिसुणिउ पंच महाय कव्वु। णउ भरहु ण लक्खणु छंदु सव्वु॥
णउ बुज्झिउ पिंगल-पच्छारु। णउ भामह-दंडिय' लंकारू॥
वेवसाय तो वि णउ परिहरमि। वरि रयडा वुत्तु कव्वु करमि॥
सामाण भास छुडु मा विहडउ। छुडु आगम-जुत्ति किंपि घडउ॥
छुडु होंति सुदासिय वयणाइँ। गामेल्ल-भास परिहरणाइँ॥
एहु सज्जण लोयहु किउ विणउ। जं अबुहु पदरिसिउ अप्पणउ॥
जं एवँवि रूसइ कोवि खलु। तहो हत्थुत्थल्लिउ लेउ छलु॥

पिसुणें कि अब्भत्थिएण, जसु कोवि ण रुच्चइ।
किं छण-इंदु मरुग्गह, ण कंपतु विमुच्चइ॥

—रामायण १।३

[हे बुधजन, स्वयंभू तुम्हारी विनय करता है कि मेरे समान कुकवि और कोई नहीं है। न तो मैं कुछ व्याकरण जानता हूँ और न वृत्ति सूत्र का व्याख्यान ही करता हूँ। न तो पाँच महाकाव्यों को सुना है और न भरत लक्ष्मण तथा सभी छंदों को। न तो पिंगल का प्रस्तार बूझता हूँ और न भामह दंडी का अलंकार। फिर भी व्यवसाय नहीं छोड़ा और रयडा के कहने से काव्य कर रहा हूँ। यदि सामान्य भाषा न गढ़ूँ और आगम युक्त कहूँ और यदि वचन सुभाषित हों तो ग्रामीण भाषा का परिहरण करना पड़ेगा। इसलिए सज्जन लोगों से क्या विनती करूँ? क्योंकि इससे मेरे अबोध का प्रदर्शन होगा। यदि इतने पर भी कोई खल रोष करे तो उसे क्या कहें? पिशुनों की क्या अभ्यर्थना करूँ जिन्हें कुछ भी नहीं रुचता।....]

फिर उन्होंने अपनी रामकथा को सरिता के रूपक से समझाया है—"वर्द्धमान के मुख रूपी पर्वत से निकली हुई यह क्रमागत राम-कथा नदी है। अक्षरों का समुदाय ही मनोहर जल समूह है। सुंदर अलंकार और छंद मत्स्यों के समूह हैं दीर्घ समास ही वक्र-प्रवाह हैं; संस्कृत तथा प्राकृत अलंकृत पुलिन है। देशी भाषा दोनों उज्ज्वल तट हैं कवि के दुष्कर सघन शब्द ही शिलातल हैं। अर्थ-बहुलता ही तरंगे हैं तथा आश्वासक (सर्ग) इसमे (सरोवर मे) प्रवेश करने के लिए तीर्थ (सीढी) हैं। यह राम कथा-सरिता इस प्रकार शोभायमान है।"

उपर्युक्त दोनों ही उद्धरण हिंदी कवि तुलसीदास के मानस के आरंभिक अंशो से बहुत हो साम्य प्रकट करते हैं। जिस प्रकार तुलसीदास जी ने कथारंभ अयोध्या के वर्णन से किया है उसी प्रकार स्वयंभू मे मगध वर्णन से कथा प्रारंभ होती है—

—पहिलउ गिरु वरणमि मगह देसु।

जहि पक्ककलमि कमलिणिगिसरणु।
अलहंत तरगि थेर व विसरणु ॥
जहि सुयपंतिउ सुपरिट्ठिआउ।
णं वणसिरि मरगयकंठिआउ ॥
जहि उच्छुवणइं पवणाहयाइं।
कंपंति व पीलणभयगयाइं ॥
जहि दक्खामडव परिवलंति।
पुणु पंथिय रस सलिलइं पियंति ॥

[प्रथम मगध देश का वर्णन करता हूँ, जहाँ पके धान के खेतों के साथ कमलिनी है जो सूर्य को न पा सकने के कारण विषाद युक्त है। जहाँ शुक पंक्तियाँ विराजमान हैं, मानों वनश्री की मरकत कंठी है; जहाँ पर पवनाहत ईख के बन हैं जो भयभीत गज के समान

काँप रहे हैं; तथा जहाँ पर द्राक्षा मंडप लहरा रहे हैं और पथिक जल के स्थान पर रस पाते हैं।]

पश्चात् राजगृह नगर का वर्णन तथा राजा श्रेणिक का भी रूपांकन है। ऋतुओं के वर्णन से पता चलता है कि कवि ने प्रकृति का सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया था। हिमालय पहाड़ और समुद्र का विराट वर्णन भी बहुत आकर्षक हुआ है। यह वर्णन प्रसंगच्युत तथा ऊपर से थोपा हुआ नहीं प्रतीत होता। एक ओर तो ये कथा- प्रवाह को स्थलोपयुक्त रोचकता प्रदान करते हैं और दूसरी ओर पात्रों के चारित्रिक विकास में योग देते हैं। राहुलजी के शब्दों में सुंदरियों के सामूहिक सौंदर्य के चित्रण में स्वयंभू अपनी सानी नहीं रखते। रनिवास के आमोद प्रमोद का चित्रण बड़ा ही सजीव हुआ है। अयोध्या के रनिवास तथा रावण के रनिवास दोनों का वैभव कूट-विलास पूर्ण वर्णन किया गया है और जलक्रीड़ा के आमोद-प्रमोद मय जीवन को भी बारीक तूलिका से उतार लिया गया है। इसके अतिरिक्त स्वयंभू ने विविध देशों की सुंदरियों के देशगत वैशिट्य के साथ उनका रूप और स्वभाव चित्रित किया है। एक ओर यदि युद्ध का भयंकर वर्णन है तो दूसरी ओर प्रेम की अनेक मनोदशाओं का भी उद्घटन किया गया है विशेषतया राम-सीता संबंध को लेकर।

करुण रस में स्वयंभू ने वाल्मीकि के पथ का सफल अनुसरण किया है और ऐसे प्रसंगों में उनकी भाषा सर्वाधिक सशक्त हो उठी है। रावण की मृत्यु पर मंदोदरी का विलाप, परिजनों का रुदन तथा लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का क्रंदन, रामवनवास पर दशरथ का विलाप, कुंभकर्ण के लिए रावण का विलाप आदि अनेक अवसरों पर स्वयंभू ने प्रसंग को मर्मस्पर्शी बना दिया है।

लक्ष्मण के लिए राम-विलाप—

हा लक्खण कुमार एक्कोयर। हा भद्दिय उविंद दामोदर!

हा माहव महुमह महुसूयण । हा हरि-कराह-विराह-णारायण ।।

.. ..

कहि तुहुँ कहि हउं कह पिअय, कहि जणेरि कहि जणणु गउ ।
हय-विहि विछोहु करेप्पिणु, कवण मणोरह पुण्ण तउ ।।

इसी प्रकार अग्नि परीक्षा के समय राम के प्रति सीता के वचन बड़े ही ओजस्वी हैं :—

सीय ण भीय सइत्तण गव्वें । वले वि पवोल्लिय मच्छर गव्वें ।
"पुरिस णिहीण होंति गुणवंति' वि । तियहें ण पत्तिज्जंति मरंति वि ।।

... .

णार-णारिहिं एवडुउ अंतरु । मरणे वि वेल्लि ण मेल्लइ तरुवर ।।
एह पइ कवण बोल्ल पारंभिय । सइ बडाय मइ अज्जु समुब्भिय ।।
तुहु पेक्खंतु अच्छु वीसत्थउ । डहउ जलणु जइ डहिवि समत्थउ ।।
किं किज्जइ अण्णइ दिव्वे, जेण विसुज्झहो महु मणहो ।
जिह कणय-लोलि डाहुत्तर, अच्छमि मज्झेउ आसणहो ।।
—रा० ८३।८-६

इन वर्णनों के अतिरिक्त स्वयंभू ने रामकथा की ब्राह्मण-परंपरा को अपने जैन दृष्टिकोण से काफी बदल दिया है और इस पक्ष पर श्री राम सिंह तोमर ने विस्तार से विचार किया है।[१] मुख्य बातें ये हैं—

(१) कर्म फल-भोग के अनुसार राम-लक्ष्मण के पूर्व जन्मों का लेखा। लक्ष्मण ने पूर्व जन्म में एक वणिक-स्त्री का अपहरण किया था और तपस्या स्वरूप तीसरे जन्म में राजवंश पाया।

(२) सीता के अतिरिक्त सात और कन्याओं से राम का विवाह तथा सोलह राजकुमारियों से लक्ष्मण का।

---

[१] जैन अपभ्रंश रामायण—विश्वभारती पत्रिका खंड ५, अंक ४ पृष्ठ ५८६—६१ अक्टूबर-दिसंबर १९४६ ई०

(३) सीता रावण-मंदोदरी की संतान। पिता के लिए अनिष्टकरी होने के कारण रावण द्वारा सीता का मंजूषा में रखकर मिथिला में फेंका जाना और जनक को प्राप्ति।

(४) कलह-प्रिय नारद का सीता-हरण के लिए रावण को उत्तेजित करना।

(५) वाराणसी के समीपवर्ती वन में सीता-हरण

(६) अपहृत सीता को मंदोदरी अपनी कन्या रूप में पहचान लेती है पर रावण को अंत तक नहीं बताती।

(७) लक्ष्मण के हाथों रावण वध।

(८) लक्ष्मण की मृत्यु रोग से और उन्हें नरकवास।

(९) राम जैन मत के नौ बलदेवों में से अंतिम तथा लक्ष्मण नौ वासुदेवों में अंतिम और रावण उतने ही प्रति-वासुदेवों में अंतिम।

इन विकृतियों के बावजूद स्वयंभू की रामायण एक सरस, प्रौढ़ तथा सशक्त काव्यकृति है।

पुष्पदंत की अनेक उपाधियों में से एक 'अभिमानमेरु' भी थी और उनके काव्य से इसकी सार्थकता सिद्ध होती है। उन्होंने 'महापुराण' अर्थात् 'तिसट्ठिमहापुरिस-गुणालंकार' जैसे वृहद् ग्रंथ के अतिरिक्त 'जसहर चरिउ' तथा 'नायकुमार चरिउ' नामक दो छोटे छोटे काव्य ग्रंथों की भी रचना की। ये कृष्णराज के समकालीन मान्यखेट-वासी थे। महापुराण में तिरसठ महापुरुषों का चरित पौराणिक शैली में वर्णित है। इन्हीं महापुरुषों में एक राम भी हैं। पुष्पदंत ने रामकथा ग्यारह संधियों (६९-७९ तक) में वर्णित की है। स्वयंभू की तुलना में यह कथा बहुत संक्षिप्त है परंतु मुख्य मुख्य बातों का समावेश हो गया है। पुष्पदंत ने कथारंभ में स्वयंभू को स्मरण किया है। उन्होंने कथा की दृष्टि से केवल महत्त्वपूर्ण पात्रों को ही अंत तक उपस्थित रखा है जैसे भरत और शत्रुघ्न। हनुमान को कामदेव का अवतार कहा गया है। विभीषण यद्यपि राम की ओर आकर मिल जाता है तथापि उसे स्वाभाविक

भ्रातृप्रेम आदि माननीय गुणों और दोषों से ऊपर उठाकर अलौकिक चित्रित नहीं किया गया है। रावण को अत्यंत पराक्रमी परंतु परस्त्री-आसक्त कहा गया है। इस प्रकार पुष्पदंत ने राम-रावण युद्ध को धार्मिक उद्देश्य से दूर हटाकर केवल अनुचित प्रेम के परिणाम-स्वरूप बतलाया है। मानव व्यापारों के अतिरिक्त कहीं कहीं पशु-प्रकृति का सुंदर चित्रण किया गया है जैसे कंचन मृग के चलने फिरने दौड़ने आदि का। वर्णन के अनुसार छंद परिवर्तन किया गया है। पज्झटिका की प्रधानता होते हुए भी दुवई, हेला, मलय मजरी आदि लयदार छंदों का भी उपयोग किया गया है।

कामदेव-अवतार हनुमान को देखकर लंका की नारियाँ किस प्रकार मोहित होती हैं उसका चित्रण—

> जोइवि कुसुमसरु णारीयणु असेसुवि खुद्धउ।
> कंपइ परिमसइ हसइ व बहुणेहणिबद्धउ॥
> कंदप्प सुरुविण णिएवि चित्तचोरं।
> कावि देइ संकंकणं चारुहारदोरं॥

[अशेष नारीजन कुसुम-शर को देखकर अत्यंत स्नेह-निबद्ध होकर कम्पित होती हैं, निश्वसित होती हैं तथा हँसती हैं। कंदर्प-स्वरूप चित्तचोर को देखकर कोई अपना कंकन देती है तो कोई सुंदर हार।]

जसहर चरिउ में यशोधर का चरित वर्णित है। चार संधियों का यह छोटा सा खंड काव्य है जिसमें जम्बू द्वीपस्थ यौधेय देश के राजपुर नगर के राजा यशोधर की लीला है। जिन-वंदना के बाद कवि कथा का प्रयोजन बतलाते हुए कहता है कि धन और नारी की जगह शिव और सौख्य की कथा कहना चाहता हूँ। ग्राम जीवन की सरलता तथा वन्य जीवन की विकटता के प्राकृतिक चित्रण के साथ कथा का आरंभ होता है। नगर में एक दिन कौलाचार्य भैरवानंद पधारते हैं जिनसे राजा उड़ने की सिद्धि माँगता है। योगी ने राजा को देवी की

पूजा का आदेश दिया जिसके लिए सभी प्रकार के प्राणि-युग्मों की बलि आवश्यक थी। एक दिन दो क्षुल्लक पकड़ कर लाये गए परंतु उनके मुख पर कुछ विशिष्ट सामुद्रिक चिह्न देखकर राजा ने बलि की अपेक्षा वृतान्त पूछा। उन्होंने पूर्वजन्मों का कथा कह सुनाई जिससे वे राजा के निकट संबंधी ज्ञात हुए। भैरवाचार्य राजा सहित जैनधर्म में दीक्षित हो गये। इस काव्य में प्रेम-घृणा, स्त्री-चरित्र की कुटिलता और उसके दुष्परिणामों का अच्छा वर्णन है। छंद-विधान प्रायः एकरस है।

णायकुमार चरित्र में कामदेव के अवतार नागकुमार का चरित गाया गया है। इसमें नौ संधियाँ हैं। आरंभ में सरस्वती वंदना, आत्म-परिचय, आश्रयदाता नरण्ण की प्रशंसा आदि के बाद दुर्जननिंद-सज्जन-प्रशंसा करके कवि कथा आरंभ करता है। मगध देशीय राजगृह नगर का अलंकृत वर्णन तथा श्रेणिक महाराज का परिचय देते हुए कवि गौतम जिन का आगमन वर्णित करता है। राजा तथा नगरवासी दर्शन करने के लिए उमड़ पड़ते हैं। धार्मिक उत्साह अद्भुत है। गौतम-मुनि श्री पंचमी व्रत की कथा कहते हैं। कथा काफी घुमावदार है। किस प्रकार कनकपुर के राजा जयधर विशालनेत्रा जैसी रानी के रहते हुए भी गिरि नगर की रानी पृथ्वीदेवी से विवाह करते हैं और पृथ्वीदेवी विशाल-नेत्रा के वैभव के प्रति ईर्ष्या भाव के कारण जिन-मंदिर में जाती है और संतान का आशीः पाती है। वह संतान एक दिन कुंए में गिर पड़ती है और नाग द्वारा पोसे जाने के कारण वह नागकुमार कहलाता है। नाग-कुमार भी अनेक रानियों से विवाह करता है और रानी लक्ष्मीमती से प्रेमाधिक्य के कारण-स्वरूप पूर्वजन्म में 'श्रुतपंचमी' व्रत का माहात्म्य जानता है। इस प्रकार वह बहुत दिनों तक सुख भोगने के बाद तपस्या करने चला जाता है और मोक्ष पाता है।

इन कथाओं से आदि अंत का धार्मिक आरोप हटा दिया जाय तो वे लोक प्रचलित सुंदर प्रेमाख्यान प्रतीत होती हैं।

पुष्पदंत बड़े ही अक्खड़ व्यक्ति थे। उन्हें राजदर्बारों का वातावरण

पसंद न था। उन्होंने झुंझलाकर एक स्थल पर लिखा है कि जिस वक्त प्रभुवर्ग की यह हालत है उस वक्त हमारे जैसों के लिये जंगल में गुमनाम मारे मारे फिरते रहना ही अच्छा है। उन्होंने सामंतों के चमर और अभिषेक जल को सज्जनता को धो बहाने वाला ठहराया है। 'चमरा निलही उड्डेउ गुणाइँ।' 'अभिषेक धोयउ- सुजनत्तननाय'।[१] उन्होंने विरह और दरिद्रता का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। अमीरों के विलास को छोड़कर तो वह काव्य-रचना जैसे कर ही नहीं सकते थे। उन्होंने राजाओं की अति कठोर किंतु संक्षिप्त आलोचना भी की है। निश्चय ही पुष्पदंत अपभ्रंश साहित्य की प्रखर मनीषा थे।

धनपाल की भविसयत्त-कहा छोटी छोटी बाइस संधियों का प्रबंध काव्य है। कथा ज्ञानपंचमी अथवा सुयपंचमी व्रत के दृष्टांत स्वरूप कही गई है। आरंभ में जिनवंदना, विनम्रता वश आत्मदीनता, दुर्जन निंदा तथा सज्जन प्रशंसा के बाद कुरु जंगल के गजपुर नगर के वर्णन से कथारंभ होता है। वहाँ के राजा धनपाल श्रेष्ठी के दो रानियाँ हैं। पहली कमलसिरि जिससे भविष्यदत्त पैदा होता है और दूसरी सरूपा जिससे बंधुदत्त। बंधुदत्त पितृ-आज्ञा से अन्य वणिक युवकों के साथ व्यापारार्थ कंचनदेश की यात्रा करता है। उसे जाते देख माता से आज्ञा लेकर भविष्यदत्त भी साथ हो लेता है।

चलते समय सरूपा बंधुदत्त से भविष्यदत्त को समुद्र में फेंकने की सलाह देती है तो कमलसिरि भविष्यदत्त को सदाचार की। नौकाओं के खुलते ही तूफान आता है और वे तिलक द्वीप पहुँच जाती हैं। वहाँ उतरने पर जब भविष्यदत्त फूल आदि लेने जाता है तो बंधुदत्त उसे छोड़कर चल देता है। अकेला भविष्यदत्त इधर उधर भटकते हुए एक वैभवशाली परंतु जनशून्य नगरी पाता है। वहाँ उसे एक सुंदरी मिलती है। एक राक्षस सहसा प्रकट होकर दोनों का विवाह करा देता है। बारह वर्ष

---

[१] राहुल सांकृत्यायनः हिं० का० धा०, अवतरणिका, पृष्ठ ५३

वहाँ रहने के बाद जब दंपति देश चलने की तैयारी करते हैं तो बंधुदत्त भी आकर मिल जाता है। चलने से पूर्व जब भविष्यदत्त जिन मंदिर में पूजा करने जाता है तो बंधुदत्त उसकी पत्नी तथा सपत्ति लेकर चंपत हो जाता है। इधर भविष्यदत्त तथा उसकी माँ सुयपंचमी व्रत करते हैं। जिन की कृपा से भविष्यदत्त गजपुर पहुँचता है। राजा को सभी बातों का पता चलता है और वह बंधुदत्त को दण्ड तथा भविष्यदत्त को उसकी पत्नी दिला देता है।

अचानक एक दिन पोयणपुर का राजा गजपुर-नरेश के पास दूत भेजकर उसकी पुत्री सुमित्रा तथा भविष्यदत्त की पत्नी को माँगता है। फलतः युद्ध ठन जाता है। भविष्यदत्त के पराक्रम से गजपुर नरेश की जीत होती है। राजा उसे अपना युवराज बनाकर अपनी पुत्री व्याह देते हैं। वर्षों बाद एक समाधिमग्न मुनि द्वारा पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनकर भविष्यदत्त सपत्नीक तपस्या के लिए निकल जाता है और सद्गति पाता है। कुछ समय पश्चात् जब वह पृथ्वी पर अपने सुहृज्जनों का समाचार लेने आता है तो सभी काल-कवलित मिलते हैं। सुयपंचमी व्रत के फल निर्देश के साथ कथा समाप्त होती है।

धार्मिक प्रसगों को अलग कर देने पर पूरी कथा सुंदर प्रेमाख्यान है जो आज भी उत्तर भारत के गाँव में प्रचलित है। इस कृति में प्रेम, शृंगार, करुणा, युद्ध, वात्सल्य, स्त्री-प्रकृति का अध्ययन, प्रकृति-वर्णन, देश और नगर वर्णनअत्यंत सरल तथा सजीव शैली में हुआ है। समय समय पर दैवी शक्तियाँ धर्म प्रवण नायक के सहायतार्थ पूतिमान होती हैं। पज्झटिका, अडिल्ल, भुजंगप्रयात्, छप्पय, उल्लाला, दुवई आदि छंदों का प्रयोग किया गया है। काव्य-कला की दृष्टि से धनपाल की यह कृति स्वयंभू और पुष्पदत के बाद का गौरवपूर्ण स्थान पाती है। धनपाल ने तिलक द्वीप में भविष्यदत्त के जिन सगुनों का वर्णन किया है वे तुलसी के मानस में वर्णित बालकांड के सगुनों से अद्भुत समानता दिखलाते हैं।

ऐसी ही और भी अनेक स्थल हैं जिनसे प्रकट होता है कि कवि को लोक-हृदय की सच्ची पहचान थी।

मुनि कनकामर का 'करकंडु चरिउ' दस संधियों का काव्य है जिसमें चंपाधीश दधिवाहन के पुत्र करकंडु का चरित वर्णित है। करकंडु का जन्म विलक्षण परिस्थितियों में होता है। जब दधिवाहन अपनी रानी मदनावती के दोहद-निमित्त हाथी से कहीं जा रहे थे हाथी मदोन्मत्त होकर भागने लगा। राजा तो रानी की सलाह से कूद पड़े परंतु रानी के मुतहे-स्थान में जाकर पुत्र प्रसव किया। एक हाथी द्वारा परीक्षण के बाद वह पुत्र दंतिपुर का राजा बनाया गया और सौराष्ट्र कुमारी से उसका विवाह हुआ। 'कर' में 'कंडु' होने के कारण ही बालक का नाम करकंडु पड़ा था। एक दिन चंपाधीश ने उसके पास अधीनता स्वीकार करने की धमकी दी परंतु करकंडु ने युद्ध का निश्चय किया। युद्ध के बीच पिता ने पुत्र को पहचाना और अपना राज भी सौंप दिया। करकंडु ने दक्षिण चोळ, चेर, पांड्य राज्यों पर अधिकार करने के लिए अभियान किया। राह में उसकी रानी मदनावती हर ली जाती है परंतु एक सुर द्वारा प्राप्त होने का आश्वासन मिलता है। करकंडु सिंहल जाता है।

वहाँ के राजा ने उसे अपनी पुत्री ब्याह दी। समुद्र-मार्ग से लौटते समय एक मत्स्य बाधा देता है जिसे राजा मार डालता है पर स्वयं राजा एक विद्याधर द्वारा हर लिया जाता है। रानी व्रतादि करने पर उसे पाती है। पश्चात् करकंडु दक्षिण के राज्यों को जीतता हुआ जब लौटता है तो मार्ग में उसे पहली रानी प्राप्त हो जाती है। एक दिन मुनि शीलगुप्त द्वारा पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनकर राजा तपस्या के लिए निकल पड़ता है। यह ग्रंथ औरों की अपेक्षा आश्चर्य-तत्व से अधिक भरा है।

इसी प्रकार अपभ्रंश के दूसरे चरित काव्य भी किसी न किसी राजा अथवा श्रेष्ठी की यात्रा, विवाह युद्ध और वैराग्य की कहानी सुनाते हैं।

अंत सबका जैनधर्मानुकूल होता है। इन प्रबंध, खंड और मुक्तक काव्यों से अपभ्रंश साहित्य का भाण्डार अत्यंत समृद्ध है। इनसे तत्कालीन समाज की आशाओं और आकांक्षाओं का पता चलता है; सामंतों और श्रेष्ठियों के कार्य कलापों का लेखा मिलता है। इसमें कोई शक नहीं कि दसवीं से बारहवीं शताब्दी के भारतीय समाज का जो चित्र अपभ्रंश-काव्य देता है वह तत्कालीन संस्कृत काव्यों में भी दुर्लभ है।

———

परिशिष्ट (दो)

अपभ्रंश का साहित्यिक योग

अपभ्रंश काव्य के इतिहास की इस पीठिका पर हिंदी साहित्य के आदिकाल में प्रचलित काव्य प्रवृत्तियों का अध्ययन बड़ी सुगमता से किया जा सकता है।

इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी का है। 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में उन्होंने ऐसा ही प्रयत्न किया है कि 'हिंदी साहित्य को संपूर्ण भारतीय साहित्य से विच्छिन्न करके न देखा जाय।' फलतः उन्होंने आधुनिक युग आरंभ होने से पहले हिंदी कविता के जो प्रधान छः अंग थे उनका आदि स्रोत अपभ्रंश से दिखलाया है। ये छः अंग थे—

(१) डिंगल कवियों की वीर गाथायें,

(२) निर्गुणिया संतों की वाणियाँ।

(३) कृष्ण भक्त या रागानुगा भक्तिमार्ग के साधकों के पद,

(४) राम भक्त या वैधी भक्तिमार्ग के उपासकों की कविताएँ

(५) सूफी साधना से पुष्ट मुसलमान कवियों के तथा ऐहिकतापरक हिंदू कवियों के रोमांस, और

(६) रीति काव्य।[1]

इन छहो धाराओं का जाति तथा देश-भेद से वर्गीकरण करते हुए उन्होंने इस प्रकार रखा है:—

"हिंदी में दो प्रकार की भिन्न भिन्न जाति की दो चीजें अपभ्रंश से विकसित हुई हैं। (१) पश्चिमी अपभ्रंश से राजस्तुति, ऐहिकतामूलक

---

[1]. हि० सा० भू०—पृष्ठ २८-२६; सन् १६४० ई०

शृंगारी काव्य, नीति विषयक फुटकल रचनायें और लोक-प्रचलित कथानक; और (२) पूर्वी अपभ्रंश से निर्गुणिया संतों की शास्त्र निरपेक्ष उग्र विचारधारा, झाड़ फटकार, अक्खड़पना, सहज शून्य की साधना, योग पद्धति और भक्ति मूलक रचनायें।

पूर्वी और पश्चिमी देशों की जातियों का यह वर्गीकरण नया नहीं है। इसे याकोबी, ल्यूमान, गार्बे, रीज डैविड्स, विंटर निरत्स आदि ने विविध नामों से पुकारा है। कभी इसे आर्य और आर्येतर का भेद कहा गया है तो कभी ब्राह्मण और श्रमण का। डा० ए० एन० उपाध्ये पूर्वी काव्य की पृष्ठभूमि स्वरूप धार्मिक चेतना को 'मगध'-टाइप कहना चाहते हैं।[1] पिछले पृष्ठों में हम दिखला चुके हैं कि पूर्वी और पश्चिमी का यह भेद मिथ्या है। यदि पूर्वी देशों में बौद्ध धर्म के अवशेष सहजिया सिद्धों की साधना परक रचनायें थीं तो पश्चिमी प्रदेशों में जैन मुनियों की। इसी प्रकार पूर्वी अपभ्रंश के रूढ़ि-विरोधी काव्य की पूर्व परंपरा दिखाने के लिए वैदिक युग से प्रमाण लेकर कहना कि पश्चिमी आर्य रूढ़ि-प्रिय तथा कर्मनिष्ठ थे जब कि पूर्वी आर्यों में उपनिषद काल के जनक, याज्ञवल्क तथा पीछे बुद्ध और महावीर कर्मकाण्ड विरोधी हुए, भी ठोस आधारों पर स्थित नहीं दिखता। पश्चिमी अपभ्रंश की ऐहिकतापरक रचनायें तो इन रूढ़ियों के विरोध की कौन कहे सर्वथा उपेक्षा कर गई। पश्चिमी भारत की आभीर, गुर्जर, राजपूत आदि जातियाँ और रूढ़ि-प्रियता ये दो विरोधी चीजें थीं। वस्तुतः रूढ़ि-विद्रोह वहीं होता है जहाँ रूढ़ि-निर्माण होता है। इनमें देश-भेद और जाति-भेद न देखकर पौर्वापर्य देखना अधिक वैज्ञानिक है। इनका आधार भौगोलिक की अपेक्षा सामाजिक अधिक है। विभिन्न सामाजिक संघटनों तथा उनके

---

[1] बृहत्कथा-कोश: भूमिका पृष्ठ १२, सिंघी जैन ग्रंथमाला १९४३ ईस्वी

ऐतिहासिक विकास के विविध चरणों के अनुसार इन प्रवृत्तियों का अभ्युदय होता है। यूरोप की उक्त मनीषा भारतीय भाषाओं तथा साहित्यों की विविधता देखकर जिन दिनों भेदक रेखायें खींच रही थी, यूरोप में नृ-विज्ञान तथा जातीयता सिद्धांत का दौर था। सारी शक्ति आर्य-अनार्य आदि जातियों के स्रोत खोजने में लगी थी। फलतः वही दृष्टि भारती-अध्ययन में भी प्रयुक्त हुई। निस्सन्देह सामाजिक संगठन में जाति (Racial) तत्त्व का बहुत बड़ा हाथ रहा है परंतु किसी भूखंड-विशेष की परंपरा दिखाते समय संस्कृतियों के अंतरालंबन तथा अंतर्घटन मूलक परिवर्तनों का ध्यान रखना चाहिए। इस दिशा में सदैव सीधी रेखा खींचना ठीक नहीं होता।

सर्वप्रथम पश्चिमी हिंदी का वीर और प्रेम काव्य। अपभ्रंश में उच्छल प्रेम के जो मुक्तक छंद हैं उनकी डिंगल परंपरा 'ढोला मारूरा दोहा'[1] में विकसित हुई। लगभग सात सौ दोहों का यह संग्रह मौखिक परंपरा से राजस्थान में बहुत दिनों तक सुरक्षित रहा और समय समय पर इसमें परिवर्तन होता गया। यह शुद्ध प्रेमाख्यान है। इसमें ढोला तथा मारवणी के संयोग-वियोग के बीच की विविध परिस्थितियों, प्रसंगों, मनः स्थितियों का चित्रण है। राजस्थान के उन्मुक्त वातावरण में पावस की सुहानी प्रकृति के बीच ढोला की रोमांचक यात्रा तथा उसके वियोग में रोती हुई मालवणी का संदेश भेजना ये दो मुख्य घटनायें हैं। यदि इस कथा के संदर्भ को हटा भी दिया जाय तो सभी दोहे अपने आप में स्वतंत्र और पूर्ण हैं। कबीर के दोहों में से जो अनेक भाव-प्रवण मार्मिक होते हैं वे 'ढोला मारू०' में भी मिलते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि इन लोक-प्रचलित दोहों को कबीर ने भक्तिपरक पानी देकर अपना लिया। इन दोहों में तीव्र और सीधा हृदयोद्‌गार है—लाग लपेट आलंकृति आदि का लेश भी नहीं है और सरलता ही उनका आभूषण है। यथा :—

[1] ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित; सन् १९३२ ईस्वी

कुंझाँ यउ नइ पंखड़ी, थाँकउ विनउ बहेसि ।
सायर लंघी प्री मिलउँ, प्री मिलि पाछी देखि ।

... ...

दाठी, जे साहिब मिलइ, यूँ दारवविया जाइ ।
आल्याँ-सीप-विकासियाँ, स्वातिज वरिसइ आइ ।

... ...

कागळ नहीं, क मसि नहीं, लिखताँ आळस थाइ ।
कइ उण देस सँदेसड़ा, मोलइ बहइ विकाइ ।।

... ...

हिअडइ भीतर पइसि करि, ऊगउ साजण रूँख ।
नित सूकइ नित पल्हवइ, नित नित नवळा दूख ।

... ...

यह तन जारी मास करूँ, धूआँ जाइ सरग्गि ।
मुझ प्रिय बद्दळ होइ करि, वरसि बुझावइ अग्गि ।।

... ...

सजण दुजण के कहे, भड़िक न दीजइ गाळि ।
हळिवइ हळिवइ छंडियइ, जिम जळ छंडइ पाळि ।।

... ...

जिउँ मन पसरइ चहुँ दिसइ, तिमि जउ कर पसरंति ।
दूरि थकाँ ही सजणा, कंठा ग्रहण करंति ।।

... ...

चाल, सखी तिण मंदिरइँ, सज्जण रहियउ जेंण ।
कोइक मीठउ बोलड़उ, लागो होसइ तेंण ।।

... ...

साजइ चलंतइ परठिया, आँगण वीखड़ियाँह ।

कूवा केरी कुहड़ि ज्यूँ हियड़इ हुइ रहियाँह ॥

... ...

साँवळि काईं न सिरजियाँ, अंबर लागि रहंत ।
बाट चलंताँ साल्ह प्रिव, ऊपर छाँह करंत ॥

इसी प्रकार प्रिय आगमन की पूर्व सूचना मिलते ही प्रिया को संपूर्ण घर हँसता दिखाई पड़ता है और हृदय हिमालय हो जाता है; यहाँ तक कि शरीर में नहीं अँटता ।

सोई सज्जण आविया जाहँ की जोती बाट ।
थाँभा नाचइ, घर हँसइ, खेलण लागी खाट ॥

... ...

और

हियड़उ हेमागिरि भयउ, तन पंजरे न माइ ।

जिस प्रिय को वह सपने में देखती थी उसे ही प्रकट देखकर आँख मूँदते भी डरती है कि कहीं वह सपना न हो जाय । इसी प्रकार 'जद जागूँ तद एकली जब सोऊँ तब बेल' अथवा 'जे दिन मारु बिन गया दई न ग्यॉन गिणंत' जैसी अनेक पंक्तियाँ हैं जो कबीर और तुलसी की वैसी ही पंक्तियों की याद दिलाती हैं ।

जिन दिन गयउ राम बिन देखे । सो विरंचि जनि पारहिं लेखे ।

अछूती उपमायें जो ठेठ गाँव की धरती से आती है ढोला काव्य उनसे भरा पड़ा है । जैसे 'ऊँडा पाणी कोहरे दीसइ तारा जेम' का सौंदर्य वही समझ सकता है जिसने सचमुच राजस्थान के गहरे कूये का चमकता पानी झाँक कर देखा हो ।

'छुटे पटे छंछाल' अर्थात् सुंदरी के खुले हुए केश फौव्वारे की तरह हैं जैसा उपमा कवि-रूढ़ि के 'नागिन जैसी वेणी' के बीच चमक उठती है । 'ढोला मारू दूहा' की यह प्रेमाख्यान-परंपरा अद्दहमाण के 'संदेश रासक' तथा हेमचन्द्र-व्याकरण के सधर्मा दोहों से निश्चित रूप से जुड़ी

हुई है। हिंदी में प्रेम संबंधी वैसे मुक्तकों की परंपरा न तो पूर्वी देशों के काव्य में मिली और न पश्चिम में ही। यह राजस्थान की मिट्टी की ही उपज है। कबीर के दोहों, और तुलसी की दोहावली में तो उसका थोड़ा सा ही रंग आ सका है।

पश्चिमी हिंदी की एक परंपरा *रास ग्रंथों* की भी है। इन रास-ग्रंथों में 'पृथ्वीराज रासो' सबसे बड़ा है तथा बीसलदेव रासो और हम्मीर रासो मुक्तकों के संग्रह हैं। अपभ्रंश में 'रास' नाम से केवल तीन-चार ग्रंथ ही मिलते हैं—सदेश रास, जीवदया रास (शांति सूरि), बाहुबलि रास (शलिभद्र सूरि) और स्थूलभद्र रास। हमने 'संदेश रास' को छोड़कर शेष को पूरा नहीं देखा है, इसलिए इनके उद्धरणों के आधार पर कोई निर्णय देना ठीक न होगा परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि रास काव्यों की अपभ्रंश परंपरा 'संदेश रास' की तरह छोटे छोटे प्रेमाख्यानों की ही रही होगी। पृथ्वीराज रासो के वर्तमान रूप जैसा विपुलकाय रासो अपभ्रंश में अब तक अप्राप्य है। यह हम आगे चलकर देखेंगे कि किस प्रकार पृथ्वीराज रासो में अपभ्रंश के चरित, कथा, पुराण आदि अनेक प्रकार के प्रबंध काव्यों की शैली का मिश्रण हो गया और अन्ततोगत्वा वह 'रास' परंपरा से अलग 'पुराण' शैली अथवा 'बृहत्कथा' पद्धति का काव्य हो गया।

'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति पंडितों ने नाना प्रकार से की है। फ्रेंच विद्वान तासी ने उसका संबंध 'राजसूय' शब्द से जोड़ा है और पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'रसायण' से[1]। उन्होंने यह भी लिखा है कि कुछ लोग इसका संबध 'रहस्य' से बतलाते हैं। समझ में नहीं आता कि इस प्रकार की व्युत्पत्ति खोजने का उद्देश्य क्या है? 'रासो' के लिए यदि एक संस्कृत शब्द खोज देना ही लक्ष्य हो तब तो ध्वनिसाम्य पर अनेक शब्द जुटाये जा सकते। परंतु यदि इस नाम के साथ जुड़ी हुई

[1] हिं० सा० इ०; पृष्ठ ३२, पाँचवाँ संस्करण।

किसी सांस्कृतिक परंपरा की खोज करनी हो तो उसके लिए तत्कालीन सामाजिक स्थिति की छानबीन करनी होगी। यह शब्द के लिए शब्द ढूँढ़ना नहीं बल्कि 'रासो' काव्यों के भीतर निहित चेतना का आदि स्रोत खोजना होगा। रासो की व्युत्पत्ति बतलाने वाले यदि यह दृष्टि कोण अपनाते तो 'राजसूय', 'रसायण' अथवा 'रहस्य' आदि शब्दों की पहेली न बुझाते। पता नहीं शुक्ल जी ने इसका संबंध 'रसायण' से कैसे जोड़ दिया जब कि वह जानते थे कि 'रसायण' शब्द योगी और तांत्रिकों के यहाँ साधना में निश्चित अर्थ के लिए रूढ़ पारिभाषिक शब्द है। रास काव्यों की चेतना से उसका क्या संबंध?

उपयुक्त सामग्री के अभाव में हम केवल अनुमान का ही सहारा ले सकते हैं और 'संदेश रास' को देखते हुए लगता है कि इस प्रकार के रास काव्यों का संबंध गोप गोपियों की 'रास लीला' से अवश्य रहा होगा। आभीर जाति के समूहिक नृत्य को संभव है भ्रम से *लास्य* 7 *रास संज्ञा दे दी गई हो! 'रास' में जिस प्रकार का प्रेमाख्यान, विरह* निवेदन आदि की सरस रचनायें हैं उनका संबंध राजस्थान में भ्रमण करने वाली आभीर और गोप जाति से होना असंभव नहीं है और इसी जाति का नृत्य भी 'रास' है जो 'राधा-कृष्ण' आख्यान को लेकर कृष्ण भक्त कवियों के काव्य का वर्ण्य विषय बना'। 'संदेश-रास' में एक स्थान पर नायिका अपनी उपमा गोपलिका से देती भी है—

'पाली रूअ पमाण पर, धण सामिहि घुम्मंति ॥' 'बाल' 'गोपाल' के लिए तथा 'पाली' गोपालिका के लिए रूढ़ शब्द थे। गोगा∠ गोग्राह (जिसके लिए आज भी 'गोगो' शब्द देहातों में बच्चों को डराने के लिए चलता है) द्वारा गायों का हरण देखकर 'गोहार' करती हुई पाली के रुदन से विरहिणी नायिका की उपमा देना उस जाति के संघटन की ओर संकेत करता है। बहुत संभव है कि आगे चलकर इस यायावर जाति के रोमानी गीतों के अनुकरण पर बने हुए काव्य साहित्य में अन्य बातों को मिलाकर भी 'रास' कहलाते रहे हो; संभव है कालांतर

में रूप बदलता गया हो पर नाम वही रह गया हो। इसके सिवा 'रासा' नामक एक छंद भी होता है जिसकी लय नृत्यानुसारी है। परंतु सभी रास काव्यों में वीरता-व्यंजक प्रेम की मीठी अभिव्यक्ति मिलती है। मूलतः वे रोमांस गीत (बैलेड) ही है। सामाजिक ह्रास का असर प्रेम और रोमांस की भावनाओं पर भी पड़ता ही है; इसलिये यदि धीरे धीरे इन रास काव्यों में शौर्य पराक्रम की पुकार क्षीण तथा शृंगार रस की संकुचित मनोवृत्तियों का मुखर उद्घाटन होने लगा हो तो क्या आश्चर्य! नाल्ह का 'वीसलदेव रास' अपने वर्तमान रूप में एक ऐसा ही 'प्रेम काव्य' है जिसमें न तो 'राजा की ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन है, न उसके शौर्य पराक्रम का। शृंगार रस की दृष्टि से विवाह और रूठकर विदेश जाने का (प्रोषितपतिका के वर्णन के लिए) मनमाना वर्णन है।' अतः शुक्ल जी को 'इस छोटी सी पुस्तक को वीसलदेव ऐसे वीर का 'रासो' कहना खटकता है।'[1] परंतु जिनके सामने अपभ्रंश के 'संदेश रास' की परंपरा है उन्हें यह वीसलदेव रासो' का नाम तथा रूप न खटकेगा। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर इन काव्य ग्रंथों का मूल्यांकन करना वैसा ही है जैसे कसौटी पर रगड़ रगड़ कर कमल को जाँचना।

यदि अनेक कथाओं और आख्यानों के बाह्यावरण हटाकर 'पृथ्वीराज रासो' की भी अन्तर्भावना का परीक्षण करें तो वह मूलतः ऐसा ही प्रेमाख्यानक काव्य प्रतीत होगा जिसमें यत्र तत्र शौर्य-पराक्रम राजस्तुति तथा युद्ध-वर्णनों की रंगत चढ़ा दी गई है। 'प्राकृत पैंगलम्' में प्राप्त 'हम्मीर रासो' के फुटकल पद्य भी रासो की 'बैलेड' परंपरा का ही समर्थन करते हैं। वही प्रोषितपतिका, वही संदेश, वही षड्ऋतु वर्णन, वही विरह वेदना, प्रिय के शौर्य का वही प्रशंसा सब कुछ एक बँधी हुई लकीर पर चलता है। राज स्तुति में वही अतिशयोक्ति, युद्ध वर्णन में वही शस्त्रों, घोड़ों आदि का नाम

---

१० हिं० सा० इ०—पृष्ठ ३५-३६।

परिगणन सब कुछ जैसे एक ही मशीन की उपज हों। राजाओं और सामंतों के रूप और शौर्य वर्णन में भी केवल नाम का भेद है अन्यथा सभी बातें एक सी। सच तो यह है कि गुप्त काल के बाद भारतीय समाज में जो एक प्रकार की जड़ता आ गई थी उसने जीवन, दर्शन, काव्य, काल आदि सभी विचार प्रणालियों में निश्चित रूढ़ियों की सृष्टि कर दी। गुप्त काल के बाद मध्ययुग तक की भारतीय कला, तथा काव्य के अध्ययन का अर्थ है रूढ़ियों की उत्पत्ति, विकास और रूपांतर का अध्ययन। मूर्तियों और चित्रों में जिस प्रकार एक ही तरह के प्रतीक अथवा संकेतग्रह (motif) व्यवहृत होते चले गए उसी प्रकार संगीत की राग रागिनियों में भी लोक जीवन की लोचभरी माधुरी के स्थान पर बँधे हुए रागों की आलापमयी कलाबाजी रह गई। व्यक्ति की विशेषताएँ लुप्त होकर नायिका भेद के ग्रंथों में 'टाइप' बना दी गईं और काव्यों का बंध भी निश्चित रूढ़ियों के ऊपर ताना हुआ वितान मात्र रह गया। धर्म साधना की रचनाओं में केवल पारिभाषिक पदावली की अर्थहीन यांत्रिक पुनरावृत्ति रह गई जैसे सहज, शून्य, समरस, गुरु महिमा, नाम महिमा आदि। सर्वत्र पूर्वकथित तथ्यों का अनुसरण ही दृष्टिगोचर होता है। इसलिए यदि 'रासो' काव्यों में वस्तु वर्णन तथा स्वभाव वर्णन में ऊबभरी एकस्वरता दिखती है तो यह केवल उन्हीं का दोष नहीं है। आगे चलकर हम देखेंगे कि यह प्रवृत्ति हिंदी काव्य की अन्य धाराओं में भी लक्षित होती है।

अपभ्रंश का *नीति अथवा सूक्ति काव्य* जो रामसिंह, देवसेन, जोइंदु, तथा हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण के उदाहरणों में बिखरा हुआ है हिंदी काव्य की संत भक्ति बानियों से होता हुआ रहीम और वृंद के नीति परक दोहों में विकसित होता चला गया। शुक्ल जी नीति तथा सूक्ति के पद्यों को सच्चे काव्य के अंतर्गत नहीं मानते थे परंतु इस प्रकार के पद्यों की भी कोटियाँ होती हैं। हिंदी में गिरिधर, वृंद, रहीम तीनों ने इस प्रकार के दोहे बहुत कहे हैं।

परंतु रहीम की सूक्तियों की सी मार्मिकता न तो वृंद में है और न गिरिधर में। वस्तुतः जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण कर चलने वाली नुकीली सूक्तियों में ही रसवत्ता होती है, कोरे उपदेशों में नहीं। वृंद ने राजनीति, समाजनीति के उपदेश बहुत बघारे हैं जब कि रहीम ने परिस्थिति जन्य मार्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है। अपभ्रंश की सूक्तियों में से अनेक मार्मिक हैं परंतु कोरी उपदेशात्मक सूक्तियों की भी कमी नहीं है। सूक्तियाँ या तो दरबारी प्रभाव से सूखीं या मठों की ऊसठ छाँह से। गृहस्थ जीवन के बीच पल्लवित होने वाली सूक्तियाँ सदैव हरी रहीं।

कबीर आदि *निर्गुनिये संतों की बानी* का स्रोत सहजिया और नाथ पंथी सिद्धों के दोहा और गान से किस प्रकार निःसृत हुआ इसे डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल तथा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भली भाँति दिखलाया है। 'वे ही पद, वे ही राग रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहार की हैं जो उक्तमत के मानने वाले उनके पूर्ववर्ती संतों ने की थीं। क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छंद, क्या पारिभाषिक शब्द सर्वत्र वे ही कबीरदास के मार्गदर्शक हैं। कबीर की ही भाँति ये साधक नाना मतों का खण्डन करते थे, सहज और शून्य में समाधि लगाने को कहते थे, दोहों में गुरु के ऊपर भक्ति करने का उपदेश देते थे। इन दोहों में गुरु को बुद्ध से भी बड़ा बताया गया है और ऐसे भाव कबीर में भी बड़ी आसानी से मिल सकते हैं जहाँ गुरु को गोविंद के समान ही बताया गया है। 'सद्गुरु' शब्द सहजयानियों वज्रयानियों, तांत्रिकों, नाथपंथियों में समान भाव से समादृत है।"[1] कबीर आदि हिंदी संतों द्वारा वर्ण-व्यवस्था का खंडन मुसलमानी प्रभाव नहीं बल्कि सिद्धों की निम्नवर्गीय परंपरा का विकसित रूप है, इसे भी द्विवेदी जी ने भली भाँति दिखलाया है। इसी प्रकार श्री राहुल

[1] हि० सा० भू०—पृ० ३१

सांकृत्यायन ने संकेत किया है कि संत कवियों की उलटवाँसियों पर सिद्धों का प्रभाव है।कबीर की रमैनियाँ तथा पद स्पष्ट रूप से सरह और काण्ह के तत्तुल्य गीतों की याद दिलाते हैं। पंडितों के सामने यह प्रश्न रहा है कि हिंदी कविता में 'पद' अचानक कहाँ से आ गए। पश्चिमी अपभ्रंश में 'पद' की रचना नहीं हुई। 'पद' पूर्वी अपभ्रंश की अपनी विशेषता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पदों की परंपरा पूर्वी प्रदेशों में चिरकाल से सुरक्षित चली आ रही थी। जयदेव के गीत गोविंद में छोटी सी टेक जैसे 'विहरति हरिरिह सरस वसते' रखकर पदों की पद्धति पर ही गीतों का वितान ताना गया है। पदों की यह परंपरा एक ओर सिद्धों की कविता से कबीर आदि संतों तक पहुँची और दूसरी ओर विद्यापति के हाथों सूरदास आदि कृष्ण-भक्त कवियों के कंठ से फूट पड़ी। विशेषता यह कि काण्ह के पद भी विभिन्न रागों में बँधे हुए हैं जैसे राग गउडा, राग परमजरी, राग देशाख, राग भैरवी, राग कामोद, राग मल्लारी आदि विभिन्न रागों के नाम से पदों की रचना सूर, मीरा आदि सभी भक्त कवियों की विशेषता है। इन रागों का विकास तथा परंपरा का अध्ययन संगीत शास्त्र के परिपार्श्व में किस प्रकार हो यह एक स्वतंत्र विषय हो सकता है।

हिंदी का *रीतिकालीन शृंगारी काव्य* भी अपभ्रंश से किस प्रकार संबद्ध था इसे डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी साहित्य की भूमिका में सांकेतिक रूप से दिखलाया है।[1] उन्होंने हिंदी के मध्य युगीन शृंगारी काव्य को 'हाल' की सतसई की परंपरा में बतलाते हुए कहा है कि यह अहीर-अहीरिनों की प्रेम-गाथाओं, ग्रामवधूटियों की शृंगार चेष्टाओं, विभिन्न ऋतुओं के भावोत्तेजन का स्वाभाविक विकास है। परंतु इससे एक भ्रम उत्पन्न होने का भय है। कहीं 'गाथा सप्तशती' के शृंगार काव्य को हिंदी की रीतिकालीन शृंगार परक रचनाओं की चेतना को

[1] हिं० सा० भू०—पृष्ठ ११३—११४

एक न समझ लिया जाय। वस्तुतः एक विकासोन्मुखी जाति के आमोद प्रमोदमय जीवन का स्वस्थ प्रतिबिंब है तो दूसरा ह्रासोन्मुखी जाति के असंयत जीवन की विलासमयी छाया। रीतिकाव्य की नायिकाएँ प्रायः कामकला की पुतली तथा रति विगलित प्रतिमायें हैं और समस्त रीति-काव्य को अपभ्रंश के शृंगारी काव्य से संबद्ध करने से पूर्व यह समझ लेना जरूरी है कि दोनों के बीच दो सौ वर्षों का कृष्ण भक्ति-काव्य है। हिंदी का रीतिकाव्य अपभ्रंश के शृंगारी काव्य का सीधा विकास नहीं बल्कि कृष्ण भक्ति काव्य के पतनोन्मुख चरण की रचना है। 'वस्तुतः आभीरों का धर्म-मत भागवत धर्म के साथ मिलकर एक अभिनव वैष्णव मतवाद के प्रचार का कारण हुआ और बहुत संभव है कि राधा तथा अन्य गोपियों का आगमन उन्हीं के द्वारा हुआ हो। 'राधा' संबंधी कुछ कविताएँ ११ वीं शताब्दी से पूर्व अपभ्रंश में भी मिलती हैं—

हरि नच्चाविउ पंगणइ विम्हइ पाडिउ लोउ।
एम्वहिं राह-पओहरहं जं भावइ तं होउ॥

वस्तुतः हिंदी का रीतिकाव्य शृंगारी नहीं बल्कि शास्त्रीय तथा अलंकृत काव्य है। हिंदी में इस प्रकार की अलंकृत रचनायें जितनी मिलती हैं उतनी बँगला, मराठी, गुजराती किसी भी साहित्य के मध्ययुग में नहीं मिलती। लगता है कि यह ढंग नायिका-भेद तथा दूती प्रकरण से सम्मिश्रित होकर अपभ्रंश युग के अंतिम चरण से ही शुरू हो गया था।

जइ सुन आवइ दूइ घरु, काइँ अहो मुह तुज्झ।
वयणु जो खण्डइ मह सहिए, सो पिउ होइ न मज्झु॥

परकीया-रति को व्यक्त करने वाला उक्त दोहा नायिका-भेद पर आधारित काव्य का आरंभिक रूप मात्र है। सामाजिक ह्रास के साथ साथ कालांतर में यह भावना और भी रूढ़ होती गई और १७ वीं शती तक आते आते काफी जटिल, वर्गीकरण-बहुल तथा टाइप-प्रधान हो गई। सच्चे अर्थों में अलंकृत काव्य अपभ्रंश साहित्य में नहीं मिलता।

अपभ्रंश के *चरित काव्यों* की देन हिंदी के प्रबंध काव्यों को सबसे अधिक है। वह युग ऐसा था जब विजय, विलास, प्रकाश, रास, चरित, कथा, मगल आदि नामों से प्रबंध काव्यो का चलन हो गया था। थोड़े बहुत हेर फेर से इस प्रकार के काव्य संस्कृत, अपभ्रंश, हिंदी, बँगला, मराठी, गुजराती सभी साहित्यों में मिलेंगे। इनमे से किसी की प्रधानता एक साहित्य में है तो किसी का दूसरे में। 'मंगल काव्य' बँगला में काफी हैं जब कि हिंदी में बहुत थोड़े हैं जैसे जानकी मगल, पार्वती मगल, आदि मंगल (कबीर); विनय मंगल नाम से रासो में एक पूरा ४६ वाँ प्रस्ताव अथवा समय ही है। मंगल काव्यों का इस दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन अनेक-नए तथ्यों को सामने ला सकता है।

अपभ्रंश के चरित काव्यो के साथ हिंदी के प्रबंध काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन श्री राम सिंह तोमर ने बहुत विस्तार से किया है।[1]

तोमर जो ने प्रायः अपना ध्यान सूफी कवियों के प्रेमाख्यानक काव्यों तक ही सीमित रखा है और एक ओर भविसयत्त कहा, जसहर चरिउ, करकंडु चरिउ तथा दूसरी ओर पदुमावती, मधुमालती, मृगावती, चित्रावली आदि की तुलना करते हुए निम्नलिखित समान बातें खोज निकाली हैं—

१. सब मे एक एक प्रेम कथा अवश्य है और उसका स्थान गौण नहीं बल्कि प्रधान है।

२. इस प्रेम का प्रारंभ प्रायः समान रूप से ही होता है—गुण-श्रवण, चित्रदर्शन अथवा परस्पर दर्शन से।

३. विवाह से पूर्व नायक को थोड़ा प्रयत्न करना पड़ता है। या तो कोई प्रतिनायक आ जाता है या कोई अन्य प्राकृतिक अथवा दैवी बाधा।

[1] विश्व भारती पत्रिका; खंड ५-अंक २-अप्रैल, जून १९४६ ईस्वी

४. कुछ में नारी जाति की प्रवंचना तथा कुटिलता का भी वर्णन रहता है जैसे मृगावती स्वयं धोखा देकर चली जाती है; जसहर की पत्नी कुटिल निकलती है।

५. लौकिक कथा में आध्यात्मिक संकेत। जैन कथायें तो स्पष्ट रूप से धार्मिक मत का प्रचार करती है परंतु सूफी काव्य में संकेत रहता है। जैन कथायें प्रायः 'सुय पंचमी' या ऐसे ही किसी व्रत-माहात्म्य के दृष्टान्त स्वरूप कही जाती हैं और जायसी ने भी 'श्री पंचमी' व्रत का उल्लेख किया है।

६. सिंहल-यात्रा का मोह जैसे करकंडु चरिउ और पदुमावती में। यदि सिंहल यात्रा न हुई तो किसी न किसी बहाने समुद्र यात्रा अवश्य कराई जाती थी।

(७) अधिदैवी शक्तियों के अवतार द्वारा कथा में आश्चर्य तत्त्व का मिश्रण। राक्षस, अप्सरा, विद्याधर आदि का आगमन सामान्य बात थी।

कथा के परिधान संबंधी इन समानताओं का विश्लेषण करने के बाद तोमर जी ने छंद विधान के साम्य का विचार किया है जिसे हम आगे चलकर देखेंगे।

यहाँ हम उपर्युक्त तथ्यों के तल में प्रवेश करने का प्रयत्न करेंगे। तोमर जी ने जिसको कथा-परिधान कहा है उसे हम किसी उपयुक्त हिंदी शब्द के अभाव में कथानक-रूढ़ि कहेंगे—अंग्रेजी में उसे 'मोटिफ' (Motif) कहते हैं। गुप्तकाल और कालिदास के बाद ही प्रबंध काव्य में एक प्रकार की कथानक-रूढ़ियों का परिपालन आरंभ हो जाता है। भारतीय साहित्य की इन कथानक-रूढ़ियों का अध्ययन प्रो० ब्लूमफील्ड ने विस्तार से उपस्थित किया है। यदि बृहत्कथा (कथा सरित्सागर), कादम्बरी, जैन कथाकोश, बंगला के मंगल काव्य, पृथ्वीराज रासो और सूफी प्रेमाख्यानों की कथानक रूढ़ियों का अध्ययन किया जाय तो लोक-जीवन के तत्कालीन प्रतीकों का पता चल जायेगा और फिर उन प्रतीकों

की मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय व्याख्या करके सामाजिक विकास की गति का पता पा सकते हैं।

उदाहरण स्वरूप सबसे पहले विनम्रतावश कवि की आत्महीनता का वर्णन लें। 'रघुवंश' के आरंभ में कालिदास ने अपनी असमर्थता प्रकट की तो परवर्ती अपभ्रंश काव्यों में इसकी झड़ी लग गई। स्वयंभू ने कहा—

'मइ सरिसउ अण्णु णाहि कुकई'

तो धनपाल ने भी कहा—'हउं मंदबुद्धि णिग्गुण णिरत्थु, विद्यापति ने अपनी कीर्तिलता को 'जइसओ तइसओ कव्व' कहा तो चंद बरदाई ने अपने को कवियों का दास कह डाला—

कहाँ लागि लघुता बरनवों, कविन दास कवि चंद।
उन कहि ते जो उब्बरी, सो ब कहों करि छंद॥

जायसी ने अपने को 'पंडितन केर पिछलगा' कहा और महाकवि तुलसी ने तो 'कवि न होउँ नहिं चतुर कहाऊँ, कहकर उस विनम्रता को चरम सीमा पर पहुँचा दिया।

इसी प्रकार दुर्जन-निंदा और सज्जन प्रशंसा का प्रसंग है। कालिदास ने केवल संकेत किया कि—

'त सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
—रघु० १।१०

बाण ने कादंबरी के आरंभ में उससे भी आगे बढ़कर ठाट बाँधा—'कटु क्वणन्तो मलदायकाः खलाः···' अपभ्रंश कवियों में स्वयंभू ने भी इस ओर ध्यान दिया—

जं एवँ वि रूसइ को वि खलु।
तहो हत्थुत्थल्लिउ लेउ छलु॥
पिसुणे किं अब्भत्थिएण, जसु कोवि ण रुच्चइ।

धनपाल ने भी तनिक विस्तार से इस रुढ़ि का पालन किया—

'जो पुणु खलु खुड्ड अइट्ठ संगु।
सो किं अब्भत्थिउ देइ अंगु ॥ आदि...

विद्यापति ने भी 'कीर्तिलता' में खलों की खबर ली—

'सुअण पसंसइ कव्व मझु, दुज्जन बोलइ मंदु।

अथवा : 'महुअर बुज्झइ कुसुम रस, कव्वकलाउ छइल्ल।
सज्जन पर उअआर मन, दुज्जन नाम मइल्ल ॥

कवि चंद ने भी ऐसे भले आदमियों को याद किया—

'सरस काव्य रचना रचौं, खल जन सुनि न हसंत।
जैसे सिंधुर देखि मग, स्वान सुभाव भुसंत ॥

और महाकवि तुलसी दास ने तो सविस्तर खलों की खबर ली तथा सज्जनों का गुण-गान किया—

उन्होंने सबसे पहले खलों की बंदना की जो बिना काज ही दायें से बायें हो जाते हैं और दोनों में भेद करने वाली ऐसी मार्मिक बात भी कही—

'बिछुरत एक प्राण हर लेहीं, मिलत एक दारुण दुख देहीं।

इसी प्रकार पूर्व कवियों का नाम स्मरण पुष्पदंत, चंद, तुलसी सब में समान रूप से मिलेगा।

कथा-बंध में भी वर्णन-पद्धति की दृष्टि से कुछ रूढ़ियाँ बन गईं थीं। पौराणिक शैली में प्रायः कवि स्वयं कथा न कहकर दो पात्रों के प्रश्नोत्तर के रूप में सारी कथा कहता है। महाभारत की वर्णन-शैली यही है। पुष्पदंत का महापुराण श्रेणिक और गणधर के प्रश्नोत्तर से आरंभ होता है। भविसयत्त कथा में भी श्रेणिक और गणधर का वार्तालाप है। छोटी सी पुस्तक 'कीर्तिलता' भी भृंग और भृंगी के प्रश्नोत्तर द्वारा वर्णित है। तुलसी कृत रामचरितमानस इस प्रकार के तिहरे संवादों से आगे बढ़ती है—शिव-पार्वती, याज्ञवल्क-भरद्वाज, काक भुशुंडि गरुड़।

इसी प्रकार कथा बंध के छंद-विधान में कड़वक-घत्ता शैली जो अपभ्रंश से पूर्व संस्कृत काव्य में नहीं मिलती हिंदी के प्रबंध काव्यों में विकसित हुई। संस्कृत काव्यों मे छद परिवर्तन का विधान प्रायः सर्ग के अंत में दिखाई पड़ता है। परंतु अपभ्रंश में एकस्वरता दूर करने के लिए प्रायः सात या दस पंक्तियों के बाद एक छेदक छंद रख दिया जाता था। पद्मावत, रामचरितमानस आदि में यही शैली चौपाई दोहा के रूप में प्रस्फुटित हुई।

कथाबंध संबंधी इन ऊपरी बातों से भी अधिक मनोरंजक है कथानक की विषयपरक रूढ़ियों का अध्ययन। इन रूढ़ियों की सूची बहुत लंबी हो सकती है जिनमें से कुछ ये हैं—

१. स्वप्न मे प्रिय मूर्ति दर्शन।

२. प्रतीकवत स्वप्नों द्वारा भावी दुर्घटना की पूर्व सूचना।

३. नायक या नायिका का रूप परिवर्तन।

४. नायक या नायिका का लिंग परिवर्तन।

५. मुनि के शाप से जीवन-पथ का निश्चय।

६. परकाय-प्रवेश।

७. आकाश वाणी।

८. मुद्रिका आदि द्वारा अभिज्ञान।

९. नायक नायिका के मिलन में हंस, शुक आदि पक्षियों का योग।

१०. छद्म अन्तः पुर-परिचारिका से राजा का प्रेम और पीछे रहस्योद्घाटन।

१०. दोहद और उसकी पूर्ति में 'dramatic Irony'; जैसे उत्तर चरित में सीता निर्वासन।

११. पशु पक्षियों की भाषा समझना।

१२. नायिका का चित्र निर्माण।

१३. सरोवर पर अचानक सुंदरी का साक्षात्कार।

१४. जल पिपासा बुझाते समय शत्रु या दानव से भेंट।

१५. मत्त हाथी या ऐसे ही किसी राक्षस से सुंदरी का उद्धार और प्रेम का आरंभ।

१६. उजाड़ नगर का मिलना और उसमें किसी सुंदरी से साक्षात्कार।

१७. हाथी द्वारा छद्म राजा की पहचान और माला-पहनाना।

१८. अज्ञात-पिता से उत्पन्न पुत्र का अचानक युद्ध में पिता से भेंट और अभिज्ञान।

१९. गरुड़ आदि द्वारा युग्म का स्थानांतरण।

२० पूर्वजन्म का स्मरण।

उपर्युक्त रूढ़ियाँ ऐसी हैं जो लोक कथाओं में से किसी में कुछ मिलती हैं और किसी मे कुछ। अपभ्रंश के आख्यान इन रूढ़ियों में से अनेक का अनुवर्तन करते हैं और लोक-भूमि की परंपरा से ये हिंदी के आख्यानक काव्यों में भी पहुँचीं। इस दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' और 'पदुमावती' का अध्ययन बहुत उपादेय हो सकता है। 'रासो' में पृथ्वीराज की मूल कथा बहुत थोड़ी है परंतु ऐसे लोक प्रचलित आनुषंगिक आख्यानों से उसका आकार विपुल हो उठा है और इसीलिए इतिहास-प्रेमी पंडितों को उसकी प्रामाणिकता में संदेह हुआ। वस्तुतः 'हर्षचरित' से ही इस परंपरा का श्रीगणेश हो चुका था। ऐसे चरित काव्यों में अपने समकालीन राजा के वास्तविक जीवन चरित को रोचक बनाने के लिए कुछ लोक प्रचलित गल्पों की छौंक दे दी जाती थी। आश्चर्य है कि हर्ष चरित की प्रामाणिकता का प्रश्न न उठाकर ये पंडित 'पृथ्वीराज रासो' पर ही क्यों टूट पड़े ?

वस्तुतः इन काव्यों की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता की चर्चा करके समय बर्बाद करने से कहीं अच्छा है इनमें सुरक्षित लोक कथाओं में अन्तर्निहित सामाजिक सत्यों का उद्घाटन। डॉ० आर० एन० घोष ने आनंद बाज़ार पत्रिका में बँगला के मंगल काव्यों का ऐसा ही अध्ययन

प्रस्तुत करते हुए लिखा था कि मंगल काव्य दैवी शक्तियों के विरुद्ध लड़ने वाले मानव के पराजय की करुण कहानी है।[१] जैसे बेहुला और सर्पदेवी की कहानी। इनमें नायक प्रायः वणिक हैं और अन्ततोगत्वा देवी के अभिशाप से बच नहीं पाते। इनकी मनसा और चंडी ग्राम-देवियाँ हैं। इन प्रतीकों के भीतर यह सामाजिक सत्य निहित है कि मानव अपनी सामाजिक विषमताओं को दैवी आपदा के रूप में देखता है और थोड़ी देर तक उससे संघर्ष करने के बाद उसकी आराधना करने लगता परंतु इतने पर भी उसकी रक्षा नहीं हो पाती।

इसी प्रकार अपभ्रंश तथा उससे निःसृत हिंदी प्रेमाख्यानों की भी सामाजिक व्याख्या की जा सकती है।

यहाँ संक्षेप में अपभ्रंश की जैन कथाओं की विशेषताओं पर विचार कर लेना समीचीन होगा। भारतीय साहित्य में कथा की परंपरायें तीन हैं—ब्राह्मण, बौद्ध, और जैन। पहली परंपरा मे पंचतंत्र, महाभारत, और कथा सरित्सागर हैं दूसरी में जातक की कथायें हैं और तीसरी में अनेक कथा कोश, चरित काव्य, कथा काव्य, तथा आराधना आदि हैं। डा० हर्टेल ने[२] बौद्ध और जैन कहानियों की तुलना करते हुए महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया है।

१. जातकों की कहानियाँ प्रायः अभिप्राय के अनुसार 'लोक प्रचलित कथा' का विकृत रूप हैं जब कि जैन कहानियों में कथा का रूप ज्यों का त्यों है केवल अंत में उपदेश भर जैनमत का है जैन कथाओं मे उपदेश कहानी के ढाँचे में नहीं बल्कि उसके उस विश्लेषण में होता है जिसे

[१] डा० धूर्जटी प्रसाद मुखर्जी द्वारा 'माडर्न इंडियन कल्चर' में उद्धृत।

[२] On the Literature of the Svetamberas of Gujrat: pp. 11 F, 3, 6, 7. Leipzig 1922
(डा० ए० एन उपाध्ये द्वारा 'बृहत्कथाकोश' पृ० ११३ पर उद्धृत)

'केवलिन्' अंत में कहता है। जैन कथाकार उस कहानी के नायक तथा अन्य पात्रों के नैतिक, अनैतिक किंतु स्वाभाविक जीवन-क्रम में कोई हस्तक्षेप नहीं करता।

२. जातकों में हर जगह 'बुद्ध' स्वयं उपस्थित हो जाते हैं जब कि जैन कथाओं में हर जगह 'महावीर' नहीं आते।

३. जातक कहानियाँ अतीत से संबद्ध होती हैं जब कि जैन कहानियों का संबंध वर्तमान से भी होता है।

४. इसलिए लोक कथाओं के यथार्थ रूप के संरक्षण तथा जन जीवन के विभिन्न वर्गों के यथार्थ चित्रण के कारण जैन कथाओं का बहुत बड़ा महत्व है।

हिंदी के 'पदुमावती' आदि प्रेमाख्यानों का अध्ययन करते समय अपभ्रंश कथाओं की इस विशेषता को ध्यान में रखना बहुत जरूरी है। देखना है कि वे जातक-पद्धति पर चली हैं या जैन कथा-पद्धति पर? देखने से स्पष्ट हो जाता है कि 'पदुमावती' में सूफी मत की वजह से कहानी में विकार नहीं आया है बल्कि ग्रंथ के अंत में कवि ने पूरी कहानी की व्याख्या आध्यात्मिक कर दी है*। इसी प्रकार खोजने से अपभ्रंश चरित काव्यों तथा हिंदी के मध्ययुगीन प्रबन्ध काव्यों में अनेक संबंध सूत्र मिल सकते हैं।

छंद-विधान के क्षेत्र में भी अपभ्रंश की देन पुष्कल है। यों तो 'पृथ्वीराज रासो' छंदों का विशाल कोश है और उतने छंद अपभ्रंश क्या परवर्ती हिंदी काव्यों में भी शायद ही मिलें परंतु हिंदी के अनेक छंदों का जनक अपभ्रंश काव्य है। बहुतायत से मात्रिक-छंदों का प्रचलन

* पता लगा है कि प्रयाग विश्वविद्यालय के डा० माताप्रसाद गुप्त को जायसी 'ग्रंथावली' का संपादन करते समय कई पांडुलिपियाँ ऐसी प्राप्त हुई हैं जिनमें 'तन चितउर मन राजा कीन्हा' वाली आध्यात्मिक व्याख्या नहीं मिलती।

सबसे पहले अपभ्रंश ने किया जो हिंदी काव्य-संगीत का आधार भूत तत्त्व बना। संस्कृत काव्य का संगीत वर्णों और गणों के आरोह अवरोह की क्लिष्ट योजना पर आधारित था जिसे लोककंठ ने सरल किया। और मात्रिक आधार पर तुकांतों के नाद सौंदर्य पर उसका विकास किया। 'दोहा' इस तरह का पहला छंद है। जिस प्रकार अनुष्टुभ् संस्कृत का, गाथा प्राकृत का प्रतीक है उसी प्रकार 'दोहा' अपभ्रंश का। विकास क्रम की दृष्टि से दोहा 'गाथा' का ही विकसित रूप है। यह ध्यान देने की बात है कि 'दोहा' भी 'गाथा' की तरह विषम चरणों वाला छंद है।

दोहा के बाद हिंदी के प्रबंध काव्यों में जो छंद सर्वाधिक प्रचलित रहा वह *चौपाई* है। अपभ्रंश में इस प्रकार का *अडिल्ल* छंद प्राप्त होता है। वह चौपाई की तरह सोलह मात्राओं का होते हुए भी अंत में दो गुरु (ऽऽ) की अपेक्षा दो लघु (।।) का प्रयोग करता है जैसे—

अहो महो अज्जु नाउँ सुहुयत्तउ।
जं एवडु महत्तणु पत्तउ॥

—भविसयत्त कहा : १६।३।१३

इस तरह की चौपाइयाँ भी मिलती हैं—

कह दसकंध कवन तैं बंदर।
मैं रघुवीर दूत दसकंधर॥ —मानस :

हिंदी मे चौपाई दोहा के बाद रोला और छप्पय (रोला + उल्लाला) अधिक प्रयुक्त हुआ। रोला छंद सभी रसों के उपयुक्त समझा जाता था; शायद इसीलिए इसका दूसरा नाम 'काव्य' भी मिलता है। अपभ्रंश में यह 'कव्व' नाम से मिलता है। यथा—

दूसह पिअ विओय संतत्तउ मुच्छइं पत्तउ।
सीयल मारुएण वणि वाइउ तणु अप्पाइउ॥
करयलि नाययुद्ध संजोइवि पुणु पुणु जोइवि।
तेण पहेण पुणु वि संचल्लिउ विरहिं सल्लिउ॥

—भ० क० ७।८।९

मनहु कला ससि भान कला सोलह सो बन्निय

—रासो

अपभ्रंश में उल्लाला का प्रयोग सदैव रोला (कव्व) छंद के बाद तो नहीं हुआ है परंतु घत्ता के रूप में यह अवश्य आया है। मालूम होता है कि अपभ्रंश-काल में 'कव्व' और उल्लाला मिलाकर छप्पय/षट्पद छंद का नित्य संबंध नहीं स्थापित हुआ था। यथा—

परमेट्ठि पंच मंगलु भणिवि, कएणंतरि घणवइसुअहो।
मुणिवयणभवीसालंकरिउ, भविसयत्तु किउ णाहु तहो॥

—भ० क० ११६

इनके अतिरिक्त अपभ्रंश में सोलह मात्रा का पज्झटिका छंद बहु-प्रयुक्त रहा है। अडिल्ल से इसमें यह विशेषता है कि ८ मात्राओं पर यति होती है और यति के पूर्व दो लघु आते हैं और अंत में गुरु-लघु (ऽ।) यथा

मग्गेवि लइय, सा तेन कन्न।
निवसिट्ठि भणिवि, हरिवलिण दिन्न॥

भ० क० १।८।७

हिंदी में इस छंद का प्रयोग हुआ है परंतु कम।

अपभ्रंश में 'घत्ता खास' नाम से ३१ मात्रा का एक छद प्रयुक्त हुआ है जिसका प्रयोग हिंदी मे कम तो हुआ है परंतु गो० तुलसीदास ने स्तुति के लिए उसी को चुना है—

'जयमंगल घोसिं, मण परिओसिं, तुंग गइंदि समारुहिउ।
सुहि बंधवलोएं, गरुय विहोएं, भविसयत्तु नियगेहि गउ॥

—भ० क० १२।१

भए प्रगट कृपाला, दीनदयाला, कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी, मुनि मन हारी, अद्भुत रूप निहारी॥

—मानस : बालकांड

इन छंदों के अतिरिक्त मध्य युगीन हिंदी कविता के जो दो अपने महत्त्वपूर्ण छंद हैं वे हैं सवैया और घनाक्षरी। इनमें से एक गणपरक वर्णिक छंद है और दूसरा केवल वर्णिक। अभी तक इनका स्रोत अपभ्रंश में नहीं ढूढ़ा जा सका है। संभव है ये एक ही छंद के द्विगुण अथवा त्रिगुण करने से बन गए हों। सवैया तो बहुत कुछ वही है जो 'मानस' में—

'जय राम रमा रमणं शमनं भव ताप भयाकुल पाहिजनं'।

का छंद है। अंतर इतना ही है कि सवैया में इसको द्विगुणित करके एक चरण बना दिया गया है। परंतु घनाक्षरी का मूल अभी तक प्राप्त नहीं हो सका। संभव है विशेष खोज से प्राप्त हो जाय।

इस प्रकार हमने देखा कि अपभ्रंश काव्य के भाव और छंदों ने ऐसी पीठिका तैयार कर दी थी कि हिंदी काव्य अपने विकास के लिए स्वतन्त्र मार्ग निकाल सके। इसे हिंदी पर अपभ्रंश का प्रभाव कहना ठीक न होगा; बल्कि यह भारतीय साहित्य के क्रमिक-विकास के सूत्रों जोड़ना है। इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि हिंदी काव्य की विविध प्रवृत्तियों, रूढ़ियों, छंदों आदि के निर्माण में अकेले अपभ्रंश का ही योग है। संस्कृत काव्य का महत्त्व इस क्षेत्र में भी कम नहीं है। अपभ्रंश की बहुत सी बातें हैं जिनमें विकास के बीज न थे और वे हिंदी में न आ सकीं। अपभ्रंश की कई प्रवृत्तियाँ बँगला, मराठी, गुजराती आदि साहित्यों में विशेष स्फुट हुई और हिंदी में नहीं हुई। इसी प्रकार हिंदी काव्य में भी अनेक बातें हैं जो अपभ्रंश से अभी तक सम्बद्ध नहीं की जा सकीं; उदाहरण-स्वरूप *बारह मासा*। अपभ्रंश में संस्कृत आदि की तरह 'षट्-ऋतु वर्णन' तो मिलता है पर 'बारह-मासा' नहीं मिलता। यह हिंदी की अपनी विशेषता है। इन सबका यही मतलब है कि हिंदी के सर्वस्व को अपभ्रंश से उद्‌भूत कह देना अवैज्ञानिक होगा।

इसमें कोई शक नहीं कि अपभ्रंश काव्य ने हिंदी को बहुत कुछ दिया है परंतु वह 'बहुत कुछ' सब अपभ्रंश का अपना ही नहीं है बल्कि वह भी उसे संस्कृत अथवा प्राकृत आदि से उत्तराधिकार में मिला था। इसी प्रकार हिंदी ने भी अपभ्रंश द्वारा प्राप्त परंपरा का यथावत् अनुसरण तथा पुनरावृत्ति मात्र नहीं की बल्कि अनेक अनगढ़ और आरंभिक चीजों को सुघड़ और परिष्कृत रूप दिया तथा कुछ सुघड़ चीजों को विकृत भी किया। इन तथ्यों की छानबीन के लिए पर्याप्त स्थान और समय अपेक्षित है।-

---

(परिशिष्ट तीन)

अपभ्रंश व्याकरण

अपभ्रंश के व्याकरण ग्रंथ

§ १. प्राचीन वैयाकरणों में से किसी ने स्वतंत्र रूप से अपभ्रंश का व्याकरण-ग्रंथ नहीं प्रस्तुत किया। प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृतों का व्याकरण लिखते समय यथाशक्ति अपभ्रंश के संबंध में भी कुछ सूत्र दे दिए। इस प्रकार के वैयाकरणों में चण्ड सब से प्राचीन तथा मार्कण्डेय सबसे अर्वाचीन है। इन दोनों वैयाकरणों के बीच काल-क्रम से हेमचन्द्र, (११ वीं शती इस्वी) त्रिविक्रम (१४०० ईस्वी के आस-पास), लक्ष्मीधर (१५वीं शती ईस्वी का उत्तरार्द्ध) और सिंहराज १६वीं शता), चण्ड का समय यद्यपि होर्नले ने बहुत पहले निश्चित किया है तथापि वह मान्य नहीं है अनुमानतः वे पाँचवीं शती ईस्वी में रहे होंगे। मार्कण्डेय का समय १७ वीं शती ईस्वी के आसपास माना जाता है।*

§ २. इन वैयाकारणों में चंड का महत्त्व केवल ऐतिहासिक है। उन्होंने अपने व्याकरण 'प्राकृत लक्षणम्' (सं० होर्नले, कलकत्ता १८८० ईस्वी) में केवल एक सूत्र ३।३७ में अपभ्रंश को चलता किया है। १।५ तथा २।१६ दो और सूत्र ऐसे हैं जो अपभ्रंश से सबद्ध बताये जाते हैं।

अपभ्रंश वैयाकरणों में हेमचन्द्र का महत्त्व सबसे अधिक है। उन्होंने अपने व्याकरण सिद्ध हैम शब्दानुसाशन के आठवें अध्याय के चौथे पाठ में अपभ्रंश पर १२० सूत्र दिए हैं तथा सभी सूत्रों पर वृत्ति

---

*भविसयत्त कहा : भूमिका पृष्ठ ६१—६६।

लिखते हुए उदाहरण भी रखा है। इसके सिवा अन्य प्राकृतों के प्रसंग में जो धात्वादेश के २५८ सूत्र हैं वे भी प्रायः अपभ्रंश से ही संबद्ध हैं। इस व्याकरण के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने 'देशी नाम माला' नामक वृहद् शब्द-कोश बनाकर अपभ्रंश शब्द-समूह पर पहला महत्त्वपूर्ण काम किया है। ये दोनों ग्रंथ परस्पर पूरक हैं।

त्रिविक्रम ने अपने 'प्राकृत व्याकरण, में अपभ्रंश पर ११७ सूत्र दिए हैं जो पारिभाषिक पदावली में हेमचन्द्र से भिन्न होते हुए भी मूलतः उन्हीं का अनुसरण करते हैं यहाँ तक कि उन्होंने अपभ्रंश पदों के कई उदाहरण भी हेमचंद्र से ले लिए हैं। त्रिविक्रम के व्याकरण की दो विशेषताएँ हैं: नाटकों और प्राकृत साहित्य के और भी उदाहरण जुटाना तथा उनकी संस्कृत छाया देना।

लक्ष्मीधर ने अपनी 'षड् भाषा चन्द्रिका' (सं० के० पी त्रिवेदी बम्बई १९१६ ईस्वी) में त्रिविक्रम के सूत्र, वार्तिक का भाष्य किया है परंतु उन्होंने भट्टोजी दीक्षित की 'सिद्धान्त कौमुदी' की भाँति त्रिविक्रम के सूत्रों का क्रम बदल कर विषयानुसार रख दिया है। इनके ग्रंथ में अपभ्रंश संबंधी कोई विशेषता नहीं है।

सिंहराज ने अपने 'प्राकृत रूपावतार' में लक्ष्मीधर का सा ही काम किया है ये पूर्ववर्ती तीनों वैयाकरणों की तरह जैन नहीं बल्कि ब्राह्मण थे। यही इनकी विशेषता है अन्यथा इनका उद्धरणहीन व्याकरण अपभ्रंश के अर्थ व्यर्थ है।

मार्कण्डेय के 'प्राकृत सर्वस्व'* का महत्त्व इसलिए अधिक है कि (१) यह पश्चिमी या जैन अपभ्रंश शाखा का नहीं है; (२) यह प्राकृतों की उपभाषाओं का उल्लेख करता है और (३) यह अपभ्रंश की तीन बोलियों को सोदाहरण समझाता है।

§३ अर्वाचीन युग में वैसे तो अपभ्रंश का व्याकरण बहुतों ने लिखा

---

*संपादक—भट्टनाथस्वामिन्, ग्रंथप्रदर्शिनी सीरीज़, १९१२ ईस्वी।

जिनका आधार प्रायः हेमचन्द्र का व्याकरण या तथा उस ग्रंथ की भाषा के विशिष्ट पद जिनका संपादन उन्होंने किया, तथापि उनमें तीन नाम उल्लेखनीय हैं। अप० ग्रैमे० के लेखक पिशेल (१६०० ईस्वी), भविसत्त-कहा के भूमिका लेखक पा० दा० गुणे (१६२३ ईस्वी) और 'हिस्टॉरिकल ग्रैमर अव अपभ्रंश' के लेखक ग० वा० तगारे (१६४८ ईस्वी)। यहाँ हेमचन्द्र और तगारे के आधार पर अपभ्रंश का संक्षिप्त वर्णनात्मक व्याकरण दिया जा रहा है।

अपभ्रंश व्याकरण की मुख्य विशेषतायें

ध्वनि विचार

१। प्राकृत वैयाकरणों ने अपभ्रंश 'ध्वनि विचार' की निम्नलिखित छः विशेषतायें बतलाई हैं—

(१) स्वर परिवर्तन की अनियमितता।

(२) ऋ की सुरक्षा।

(३) स्वरमध्यग अघोष व्यंजनों का सघोष होना।

(४) स्वर मध्यग-म-7-व—।

(५) संयुक्त 'र' की सुरक्षा।

(६) 'र' का आगम।

२। डा० तगारे ने उपर्युक्त नियमों के अनेक अपवाद दिखाकर निम्नलिखित स्थापना में की है। (हि० ग्रै० अप०, भूमिका पृष्ठ २३-२६)

(१) संस्कृत तथा प्राकृत से प्राप्त अन्त्य स्वरों की सामान्यतः हानि।

(२) उपान्त्य स्वरों की मात्रा की सुरक्षा।

(३) संस्कृत-प्राकृत से प्राप्त आद्य अक्षर के 'गुण' की सुरक्षा।

(४) आद्य अक्षर में क्षतिपूरक दीर्घीकरण द्वारा व्यंजन-द्वित्व के स्थान पर एक व्यंजन का प्रयोग।

(५) समीपवर्ती स्वरों का संकोच।

(६) अपभ्रंश ग्रंथों में से बहुत कम ऐसे हैं जो 'ऋ' को सुरक्षित रखते हैं; केवल द० अप० (विशेषतः हरिवंश में)। अन्यत्र ऋ > इ, अ।

(७) स्वर-मध्यग अघोष व्यंजनों का सघोष होना अपभ्रंश की अपनी विशेषता नहीं बल्कि प्राकृतों की भी।

(८) स्वर-मध्यग म > वँ अपभ्रंश की अपनी विशेषता नहीं बल्कि प्राकृतों की भी। अप० में मध्यग 'म' की प्रायः सुरक्षा।

(९) संयुक्त 'र' की सुरक्षा प्राकृत वैयाकरणों द्वारा सर्वसम्मति से स्वीकृत होने पर भी प्राप्त पाठों में विरल। यह विशेषता भी प्राकृतों से नई नहीं।

(१०) 'र' का आगम 'करकंडु चरिउ' तथा हेमचन्द्र के उदाहरणों के अतिरिक्त अन्यत्र विरल। आगे चलकर पृथ्वीराज रासो में इसकी बहुलता।

(११) प्र० भा० आ० के ऋ, क्ष, म, त्व, द्व, य—और —म—के अपभ्रंश रूपों का अध्ययन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण।

(१२) इनके अतिरिक्त प्राकृतों की भाँति अपभ्रंश में भी स्वर-रंजन, स्वर-भक्ति आदि स्वरागम, अपनिहित, अभिश्रुति, आदि ध्वनि धर्म।

४३। पद-विचार

(१) पद विचार में ही अपभ्रंश अन्य साहित्यिक प्राकृतों से विशिष्ट। भा० आ० के पद-विकास के उस चरण में अपभ्रंश है जहाँ संश्लिष्ट पद पद्धति की सीमाओं को तोड़ने तथा विश्लिष्ट पद-पद्धति की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है।

(२) अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के रूपों की प्रधानता।

(३) लिंग-भेद नगण्य। नपुं० पदनिर्माण की दृष्टि से लुप्तप्राय।

(४) द्विवचन प्राकृत काल से ही लुप्त।

(५) सामान्य कारक (Direct case) का निर्माण अर्थात् विभक्ति-परसर्ग का अप्रयोग।

(६) परोक्ष कारक (Indirect case) अर्थात् सविभक्ति कारकों के दो समूह (क) तृतीया-सप्तमी और चतुर्थी-पंचमी षष्ठी। इन दोनों समूहों में भी कभी कभी परस्पर मिश्रण और क्रमशः घिसकर आ० भा० आ० के केवल विकारी रूप अथवा अंगरूप (Oblique forms) के रूप में शेष रह जाना।

(७) उत्तम पुरुष के सर्वनाम के रूप से मध्यम पुरुष की रूपावली प्रभावित। रूपों में स्वल्पता।

(८) विशेषण मूलक सर्वनामों के रूप प्रायः नाम के अनुसार. सरलीकरण की प्रवृत्ति के साथ।

(६) क्रिया रूपों में और भी सरलीकरण तथा सुधार; परस्मैपद, आत्मने पद का भेद नहीं। काल रचना में विविधता कम।

(१०) आज्ञा के क्रिया रूपों में विविधता।

(११) भविष्यत् काल के रूप स और—ह दोनों प्रकार के।—तव्य वाले रूप भी।

(१२) भूतकाल की क्रियाओं में प्रायः कृदंत रूप; तिङन्त रूप विरल।

(१३) विधि और कर्मवाच्य के क्रिया रूपों में मिश्रण।

(१४) पूर्व कालिक क्रिया के रूप—इ प्रकार के जो हिंदी आदि आ० भा० आ० के प्राचीन रूपों की पठिका स्वरूप।

(१५) क्रिया विशेषण, अव्यय, संयोजक, विस्मयादि बोधक अन्य प्राकृतों की तरह।

(१६) प्रत्ययों मे ध्वनि-विकार के कारण घिसे रूपों का चलना। —ड, अड, डुल्ला आदि स्वार्थिक प्रत्ययों के प्रयोग की बहुलता।

अपभ्रंश ध्वनिवि-चार

१. अप० ध्वनियाँ

स्वर : आठों मान स्वर; ह्रस्व ए और औ (ऍ ऑ), ऋ केवल तत्सम शब्दों में ।

व्यंजन : ण, न, म के अतिरिक्त कोई पंचम वर्ण नहीं; श केवल पूर्वी अप० में; ष कहीं नहीं । शेष सभी व्यंजन ।

स्वर-विकार

२. 'ऋ' के विकार

आदि ऋ — अ : कसण (कृष्ण), तरह (तृष्णा)
— इ : हिअअ (हृदय), मियंक (मृगांक)
— ई : दीसइ (दृश्यते)
— उ : पुहवि (पृथ्वी), सुणइ (शृणोति)
— ऊ : बूढ़ौ (वृद्ध-क)

मध्य ऋ — अ : विसट्ठ (विसृष्ट)
— इ : सरिस (सदृश), अमिय (अमृत)
— उ : परहुअ (परभृत), पउट्ट (प्रवृत्त)

अन्त्य ऋ — अ : भाय (भ्रातृ), माय (मातृ)
— इ : माइ (मातृ)

३. अन्त्य स्वर-लोप या ह्रस्वता

(१) खेत्ती < क्षेत्रित, उज्झा < उपाध्याय ।

(२) पिअ < प्रिया, पराइय < परकीया
भुक्ख < बुभुक्षा, संझ < सन्ध्या ।

(३) सीय < सीता, तियड < त्रिजटा, राह < राधा

(४) अज्जु < अद्य, चिरु < चिरम् ।

(५) परि < परम्, सइँ < स्वयम्, अवसिं < अवश्यम्

४. *उपान्त्य स्वर-रक्षा*

(१) अ : गोरोअण < गोरोचन, पोक्खर < पुष्कर

(मात्रा परिवर्तन) रहंग < रथाङ्ग, पाहण < पाषाण,

बम्भचार < ब्रह्मचर्य,

(२) इ : ललिय < ललित, विवाज्जिउ ∠ विवर्जित

(मात्रा-परिवर्तन) गुहिर ∠ गभीर

(३) उ : समुद्द ∠ समुद्र, कलुस ∠ कलुष।

: (मात्रा-परिवर्तन) सरुव ∠ स्वरूप।

५. *उपान्त्य स्वर का अन्त्य के साथ संकोच*

ताल < तालअ < तालक, मट्टी < मृत्तिका, मुंडि < मुंडित,

पाणी < पानीय

६. *उपान्त्य स्वर मे गुणात्मक परिवर्तन*

खयर < खदिर, मज्झिव < मध्यम

गेरुय < गैरिक, उत्तिम < उत्तम।

७. *प्राग्-उपान्त्य स्वर*

(क) आदि-रक्षा : ढक्क < ढक्का, घड < घटा

काणण < कानन, थाण < स्थान

(ख) मात्रिक परिवर्तन के साथ : तासु < तस्य

नथ < नाथ, अप्पाण < आत्मन्

वीसास< विश्वास, जीह < जिह्वा

णिच्चु < नीच, तिण्ण < त्रीणि

ऊसव < उत्सव, धूय < दुहितृ

पुव्व < पूर्व, सुण्ण < शून्य।

पोत्थय < पुस्तक, मुक्ख < मोक्ष

(ग) आदि लोप : बहेलि अ < अवहेडित,

भितर < अभ्यंतर, रण्ण <अरण्य

पि, वी < अपि, रहट्ट < अरघट्ट।

८. *स्वर-संकोच*

जेइ < जइस < यादृश ।
पोम < पउम < पद्म ।
आय < आगत, राउल < राजकुल ।
उआर < उपकार, सोण्णार < स्वर्णकार ।
आर < आकार ।
दूण < द्विगुण
ओलक्खइ < उपलक्षयति, पोप्फल < पूगफल
उम्बर < उदुम्बर, उखल < उदूखल ।

९. *श्रुति (य, व)*

अवर्णो य श्रुतिः । (हेम० ८।१'१८०)

टीका : ' क ग च जेत्यादिना लुकि सति शेषः
अवर्णः अवर्णात्परो लघु प्रयत्नतर यकार श्रुतिर्भवति ।
सहयार < सहकार
क्वचिद् भवति 'पियइ' ।

१०. *सानुनासिकता*

(१) अकारण—फंस < स्पर्श, वंक < वक्र, दंसन < दर्शन
पंखि < पक्षिन्, पयंप < प्र + < √ जल्प

(२) क्षतिपूरक—हउँ < अहकम् ।
सइँ < स्वयम् ।
पेरंत < पयत ।

११. *निरनुनासिकता*

सीह < सिंह, वीस < विंशति, तीस < त्रिंशत्
दाढा < दंष्ट्रा ।

१२. *पर-रूप ग्रहण* (Vowel colouration)

झुनि < ध्वनि, जलण < ज्वलन, विउस < विद्वस्
तिरिच्छ < तिर्यक, अक्खिय < आख्यात ।

१३. *स्वर-भक्ति*

मुरुक्ख < मूर्ख, कारिम < कर्म, वरिस < वर्ष
किलेस < क्लेश. अरहंत < अर्हत
कसण < कृष्ण ।

१४. *आदि स्वरागम*

इत्थिय < स्त्रीक
* अपभ्रंश में बहुत कम ।

१५. *अपनिहिति या स्वर-व्यत्यय*
केर < कार्य, पेरंत < पर्यंत, मेर < मर्यादा

१६. *अभिश्रुति या स्वर-राग*
करिमि = करमि, करिइ = करइ, उच्छु = इच्छु
सिविण = स्वप्न ।

व्यंजन-विकार

१. *आदि व्यंजन-रक्षा* : सामान्य नियम, परंतु कुछ अपवाद भी; जैसे :दिहि < धृति, धूय < दुहिता जाइ < याति, जमल < यमल

२. *अन्त्य व्यंजन-लोप*
गय < गज, गत
किय < कृत

३. *महाप्राणकरण*
< √ झल् < √ ज्वल्
खिल्लियइ < कीलका ।

४. *अल्पप्राणकरण*
कुहिय < क्षुधित, संकल < शृंखला
बहिणि < भगिनी

५. *मूर्धन्यीकरण*

उडु < ऋतु
पढम < प्रथम
सड्ढ < सार्ध
विट्टाल < अपवित्र
निवड < निपत
अट्ठि < अस्थि
ठड्ढ < स्तब्ध

६. *आदि अनुनासिक व्यंजन की रक्षा*

* आदि ण, न वैकल्पिक, परंतु 'न' का बाहुल्य
* आदि म सुरक्षित — मण, मोक्ख, मुक्क

७. *स्वर-मध्यग व्यंजन*

(१) क > ग — विच्छोहगरु < विक्षोभकर।
> लोप — पराइय < परकीया
> श्रुति — थोवा < स्तोक
> सुरक्षित — एक्कु < एक
(२) ग > लोप — जोई < योगिन्
> श्रुति — जुयल < युगल
> सुरक्षित — सुगय
(३) च > ज — विजिगिच्छा < विचिकित्सा
> लोप — गोरोअण < गोरोचन
> श्रुति — लोयण < लोचन
> सुरक्षित — अचेयण < अचेतन
(४) ज > लोप — राअ < राजन्
> य, व श्रुति — गयउर < गजपुर, मणुअ < मनुज
सुरक्षित — अजिय < अजित

(५) त > द — आगदो < आगतः
> लोप — चउत्थ < चतुर्थ
> यव श्रुति — संकेय < संकेत, भूव < भूत
सुरक्षित — एत < एतावत

(६) द > लोप — पाअ < पाद
> अव श्रुति — विओयर < वृकोदर
उवहि < उदधि
> त — गलत्थिय < कदर्थित

(७) प > ब. व — नरवइ<नृपति, दीव<दीप
> लोप — पाअ ∠ पाय
>य श्रुति — सयत्त ∠ सपत्न

(८) ब > म — समर ∠ शबर

७. *स्वर-मध्यग महाप्राण स्पर्श वर्ण*

(१) ख >घ — सुघिॅ ∠ सुखेन*
>ह — सहि ∠ सखि

(२) घ >ह — दीह ∠ दीर्घ

(३) थ >ध — सवधु ∠ शपथ (शौ०)
>ह — कहा ∠ कथा
>ढ — पढम ∠ प्रथम

(४) ध >ह — अहुट्ठइँ ∠ अधस्तात्

(५) फ >भ — सभल ∠ सफल (शौ०)
>ह — मुत्ताहल ∠ मुक्ताफल

(६) भ >ह — सोह ∠ शोभा

---

* (विरल)

८. स्वर-मध्यग — म —

कवँल ∠ कमल (वैकल्पिक)

९. संयुक्त व्यंजन

(१) क्ष >क्ख, ख, छ, च्छ

(२) त्व 7त — तुहुँ ∠ त्वम्

7प — पइँ ∠ त्वम्

(३) द्व 7ब — बारह ∠ द्वादश, बे ∠ द्वे

(४) संयुक्त 'र' 7 लोप — चक्कवै ∠ चक्रवर्ती ।

7 सुरक्षित — प्रिय, प्राइव, ध्रुवु ।

(५) ऊष्म + अनुनासिक

ष्ण 7न्ह — कान्ह ∠ कृष्ण

श्म 7म्ह — अम्ह ∠ अस्म

१०. 'र' का आगम

हेम० ८।४।३९९

ब्रासु ∠ व्यास, प्रस्सदि ∠ पश्यति

भ्रंत्रि ∠ भ्रान्ति ।

११. व्यंजन-विनिमय

(१) ड और ल (ळ) — ओरालिअ ∠ अवरटित

(२) द : ल — पलित्त ∠ प्रदीप्त

(३) न : ल — लोण ∠ नवनीत

(४) म : ब — समर ∠ शबर

(५) म : व — जाम ∠ यावत्

(६) व : ब — बअण ∠ वचन

(७) र : ल — दालिद्द ∠ दारिद्रय

१२. व्यंजन-विपर्यय

वाणारसी ∠ वाराणसी

दीहर ∠दीरघ

हलुअ ∠लघुक

द्रह ∠ह्रद

१३. *व्यंजन-द्वित्व*

कच्च∠काच, उज्जुय∠ऋजुक, जुत्थ∠यूथ

२४. *क्षतिपूरक सानुनासिक*

वयंसि∠वयस्या, दंसण∠दर्शन, बंकी∠वक्र

अपभ्रंश व्याकरण

(नाम)

१. अप० में प्रातिपदिक केवल स्वरान्त होते हैं; संस्कृत के स्वरान्त प्रातिपदिक भी व्यञ्जनान्त बना दिए गए। जैसे पूषन् > पूसा, पूषण या पूस। स्वरान्त प्रातिपदिकों में भी अकारान्त में रूपों की प्रधानता है। इस प्रकार रूप की दृष्टि से प्रातिपदिकों के चार वर्ग :

(क) अकारान्त पुल्लिङ्ग।
(ख) अकारान्त नपुंसक लिङ्ग।
(ग) इ — उकारान्त सर्वलिङ्ग।
(घ) आकारान्त स्त्रीलिङ्ग।

२. *अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द* 'देव'

	एक वचन	बहुवचन
प्र०	देव, देवा, देवु, देवो	देव, देवा
द्वि०	,, ,, ,, ×	,, ,,
तृ०	देवे, देवें, देवेण (देविण) (देवि)	देवहि, देवेहि
पं०	देवहे देवहु	देवहुं
ष०	देव, देवसु, देवस्सु, देवहो, देवह	देव, देवहं
स०	देवे, देवि	देवहि
सम्बो०	देव देवा, देवु, देवो	देव, देवा, देवहो

३. *अकारान्त नपुंसक शब्द* 'कमल'

	एक वचन	बहुवचन
प्र० द्वि०	कमल, कमला	कमल, कमला, कमलइं, कमलाइं

शेष पुंवत् । 'तुच्छक' जैसे शब्दों का प्र०, द्वि० एकवचन में 'तुच्छउं' ।

४. *इकरान्त पुल्लिङ्ग शब्द 'गिरि'*

	एक वचन	बहु वचन
प्र०	गिरि, गिरी	गिरि, गिरी
द्वि०	,, ,,	,, ,,
तृ०	गिरिएं, गिरिण, गिरिं	गिरिहिं
पं०	गिरिहे	गिरिहु
ष०	गिरि, गिरिहे	गिरि, गिरिहं, गिरिहुं
स०	गिरिहि	गिरिहुं
सम्बो०	गिरि, गिरी	गिरि, गिरी, गिरिहो

*उकारान्त पुं शब्दों का भी इसी प्रकार ।

*इ-उकारान्त नपुं० शब्दों के भी रूप इसी प्रकार

केवल प्र०, द्वि बहुवचन में दो-दो विशिष्ट रूप

जैसे 'वारि' का वारिइं, वारीइं ।

महु का महुइं महूइं ।*

५. *आकारान्त स्त्रीलिंग शब्द*

(मुद्धा < मुग्धा)

	एक वचन	बहु वचन
प्र०	मुद्ध, मुद्धा	मुद्धाउ, मुद्धाओ
द्वि०	,, ,,	,, ,,
तृ०	मुद्धए (मुद्धइ)	मुद्धहिं
पं०	मुद्धहे (मुद्धहि)	मुद्धहु
षं०	,, ,,	,,

* हेम० प्राकृत व्याकरण, वैद्य संस्करण, पृ० ६८०

एक वचन	बहु वचन
सप्त० × ,,	मुद्धहिं
सम्बो० मुद्ध, मुद्धा	मुद्ध, मुद्धा, मुद्धहो, मुद्धहो

*मति, तरुणी, धेनु, वधू के अपभ्रंश शब्दों का रूप भी इसी प्रकार।

सर्वनाम

१. *पुरुष वाचक*

उत्तम पुरुष

एक वचन	बहु वचन
प्र० हउं	अम्हे, अम्हइं
द्वि० मइं	,, ,,
तृ० ,,	अम्हेहिं
पं०, षं० महु, मज्झु	अम्हहं
स० मइं ,,	अम्मासु

मध्यम पुरुष

प्र० तुहुं	तुम्हे, तुम्हाइं
द्वि० पइं, तइं	,, ,,
तृ० ,, ,,	तुम्हेहिं
पं० तउ, तुज्झ, तुध्र (तुहु)	तुम्हहं
षं० ,, ,, ,, ×	,,
एक वचन	बहु वचन
स० पइं, तइं	तुम्हासु

अन्य पुरुष

पुं + नपुं०

एक वचन	बहु वचन
प्र० (पुं०) सो, सु	ते, ति

	एक वचन	बहु वचन
(नपुं०)	तं, त्रं	ताइं, तैं
तृ०	तेण, ते	तेहिं
पं०	ता, तो, तहाॅ	
षं०	तसु, तासु, तस्सु, तहो	तहॅ, ताहॅं, ताण
स०	तहि, तद्र्	तहिं

स्त्री०

	एक वचन
प्र०	सा
द्वि०	तं
तृ०	ताए
ष०	तहे, तासु

*इसके विषय मे प्राकृत वैयाकरण मौन। ये (हेम० ८।४।३२९—४४८) के उदाहरणों से संकलित रूप हैं।

२. *दूरवर्ती निश्चय वाचक*

अदस ओइ (हेम० ८।४।३६४) = वह

३. *निकटवर्ती निश्चय वाचक*

एतद् = यह

	एक वचन	बहु वचन
पुं०	एहो	एइ
स्त्री०	एह	एईउ, एहाउ
नपुं०	एहु	एइइं, एईइं, एहाइ

इदम् = यह

इदम आयः। (हेम० ८।४।३६५)

इदम इमुः क्लीबे। (हेम० ८।४।३६१)

*परंतु यह अपभ्रंश में अल्प-प्रचलित। प्राकृत प्रभाव।

४. *संबंध वाचक*

यद् = जो, —ज

*पूर्वोक्त तद् के समान। (हेम० ८।४।३५७-३५६)

५. *प्रश्न वाचक*

किम् = कौन

*पूर्वोक्त तद्, यद् के समान।

*तीन प्रतिपादिक क—, कि—, कवण—।

*अधिक प्रचलित कवण।

६. *अनिश्चय वाचक*

	एक०	बहु०
प्र० (पुं०)	काइ, के वि, कु वि	के वि, कि वि
(नपुं०)	किवि, किंचि	
(स्त्री)	कायउ	
तृ०	केण वि	
ष०	कासुवि, कहो वि, कहु वि	
(स्त्री०)	काहि वि	
स०	कहँमि, कहिं वि	

७. *निज वाचक*

	एकवचन
प्र० द्वि०	अप्प-उ, अप्पउँ, अप्पण, अप्पणु
तृ०	अप्पणें
च०, पं, ष०	अप्पहो

८. *अन्य सवनाम*

(क) अन्य—

	एक०	बहु०
प्र०, द्वि०	अण्ण, अण्णु, अन्न अणु	×

तृ० × अण्णोण्णही, अन्नोन्नहि
अण्णाहिँ

ष० अण्णाह

(ख) सर्व -

*वैकल्पिक रूप साह <शाश्वत् (पिशेल), हेम० ८।४।३६६ द्वारा स्वीकृत होने पर भी अल्प प्रचलित ।

	एक	बहु
प्र०, द्वि०	सव्व, सव्वु, सहु, साहु, सव्वुइ	×
प०	सव्वहो, सव्वत्तउ,	सव्वहं
ष०	,,	×

(ग) इतर > इयर

+अकारान्त शब्दों की भाँति । जैसे:

प्र० द्वि० इयरु, इयरे

ष० इयरहु, इयरस्सु

६. *सर्वनाम विशेषण*

(क) परिमाण वाचक

जेवडु जेत्तुल, जेत्तिय जित्तिउ
तेवडु, तेत्तुल, तेत्तिय, तित्तिउ
एवडु, एत्तुल, एत्तिय, इत्तिउ
केवडु, केत्तुल, केत्तिय, कित्तिउ

(ख) गुणवाचक

जइसो, जेहु
तइसो तेहु
अइसो, एहु
कइसो केहु

(ग) संबंध वाचक

एरिस, तुम्हारिस, हम्हारिस

परसर्ग

करण—सहुँ (हेम० ८।४।४१९), तण (हेम० ८।४।४२५)

संप्रदान—रेसि, केहिं (हेम० ८।४ ४२५)

तण (हेम० ८।४।३३६)

अपादान—होन्तउ, होन्त (हेम० ८।४।३५५।३७२।३७३)

संबंध—केरअ, केर, केरा (हेम० ८।१।२४६, ८।४।३५६, ३७३, ३६५, ४२०)

तण (हेम० ८।४।३६१, ३७६)

अधिकरण—थिउ (हेम० ८।४।४३९)

मज्झि (८।४।४४४)

मज्झे (हेम० ८।४।४०६)

संख्या वाचक विशेषण

१. पूर्ण संख्या वाचक

एक = एक, एक्क, ऍक्क, इक्क, इग, इय।

दो = बे, वे, दोण्णि, विण्णि।

तीन = तिण्णि, तिण्ण, तिं।

चार = चउ, चयारि।

पाँच = पंच

छः = छ, छह

सात = सत्त

आठ = अट्ठ

नव = णव

दस = दस, दह।

ग्यारह = एयारह

बारह = बारह, बारस
तेरह = तेरह
चौदह = चोद्दह, चउद्दह, चाउद्दह।
पन्द्रह = पण्णरह
सोलह = सालह, सोलह
अठारह = अट्ठारस, अट्ठारह
बीस = वीस
इक्कीस = एक्कवीस
बाइस = बावीस
पच्चीस = पंचुत्तर वीस, पणवीस, पणवीसं, पंचवीस
अट्ठाइस = अट्ठावीस
तीस = तीस
तैंतीस = तेत्तिय, तायतिंस, तेत्तीस
चौतीस = चौतीस
अड़तीस = अट्ठतीस
चालीस = चालीस, चालिस, तालिस
छियालीस = छयालीस
अड़तालीस = अट्ठयालीस
उनचास = एक्कूणाइँ
पचास = पण्णास
पचपन = पण-पण्णास
छप्पन = छप्पण
साठ = सट्ठि
छाछठ = छावट्ठि
सत्तर = सत्तरि, सत्तर
पचहत्तर = पंच-सत्तर, पंच-सत्तरि।
अस्सी = असिति, असिइ

चौरासी = चौरासी
नब्बे = णवदि, णवइ, णौदि ।
छानबे = छण्णवइ, छरणौदि ।
निन्यानबे = णवणौयइँ
सौ = सअ, सय,
एक सौ आठ = अट्ठुत्तर-सय
एक सौ चार = चउस अ
एक सहस्र = सहस्स, सहास
लाख = लक्ख
करोड़ = कोडि

२. *अपूर्ण संख्या वाचक*

½ (आधा) = अद्ध, अड्ढ, सड्ढ ।
१½ (डेढ़) = दियड्
२½ (ढ़ुाई) = अउट्ठ ।

३. *क्रम वाचक*

पहला = पढम, पहिल, पहिलअ, पहिल्ल, पहिल्लिय
पहिलार अ, पहिलारी (स्त्री०)
दूसरा = बीय, बीअ, बीयअ, दुइय, दुइज्ज
तीसरा = तइय, तइयअ, तइज्ज, तिज्जौ
चौथा = चोट्ठ, चोथअ
पाँचवाँ = पंचवँ
छठाँ = छट्ठय, छट्ठ, छट्ठी (स्त्री०)
सातवाँ = सत्तम, सत्तवँ
आठवाँ = अट्ठम
नवाँ = णवम

क्रिया

१. अप० में पाँच प्रकार की धातु ज क्रियायें

(क) देशी ; जैसे — √ छोल्ल

(ख) सोपसर्ग—सप्रत्यय; जैसे—बइसइ, विट्ठइ < उपविष्ट

(ग) विकरण-विशिष्ट; जैसे—जिणइ, थुणइ, कुणइ ।

(घ) नाम धातुज—जैसे जय जय कारइ, पयासइ ।

(ङ) अनुकरणात्मक धातुज—जैसे खुसखुसइ ।

तिङन्त रूप

२. *सामान्य वर्तमान काल*

	एक०	बहु०
अन्य पुरुष०	करइ, करेइ	करहिं, करंति
म० पु०	करहि, करसि	करहु, करह
उ० पु०	करउं, करिमि	करहुं, करिमु

३. *वर्तमान आज्ञार्थ*

करि, करु, करे (हेम० ८।४।

४. *विध्यर्थ*

	एक०	बहु०
अन्य पु०	करिज्जउ	करिज्जंतु, करिज्जहुँ
म० पु०	करिज्जहि, करिज्जइ	करिज्जहु
उ० पु०	करिज्जउं	किज्जउं

५. *सामान्य भविष्यत् काल*

	एक०	बहु०
अ० पु०	करेसइ, करेहइ	करेसहि, करेहिंति
म० पु०	करेसहिं, करेससि, करीहिसी	करेसहु, करेसहो
उ० पु०	करेसमि, करीहिमी, करिसु	करेसहुँ

कृदन्त रूप

१. वर्तमान कृदन्त

—अंत, —माण

—अंती (स्त्री०)

जैसे :—*भमंत, जोअंत, खंत, जंत।*

पविस्माण, वट्टमाण, आसीण

२. भूत-कृदन्त

—इअ, —इउ, —इय, —इयौ, —इअअ, इऔ

जैसे :—गअ, गय, हुअ, किअ, किय।

३. भविष्य और विधि कृदन्त

—इएव्वउं, —एव्वउं, —एवा, — एव्व

जैसे :—करिएव्वउं, मरेव्वउं, सहेवा, सोएवा, देक्खेव्व।

४. क्रियार्थक संज्ञा के कृदन्त

— एवं,—अण,—अणहं,—अणहि।

— एप्पि,—एप्पिणु,—एवि,—एविणु।

जैसे; देवं, करण, भुंजणहं, भुजंणहिं, जेप्पि, जेप्पिणु, पालेवि, लेविणु।

५. पूर्वकालिक क्रिया के प्रत्यय

— इ, — इउ, — इवि,—अवि।

— एप्पि,—एप्पिणु,—एवि—एविणु।

जैसे :—करि, करिउ, करिवि, करवि, करेप्पि, करेप्पिणु, करेवि, करेविणु।

६. *कर्तरि कृदन्त* (शील, धर्म, सवाध्वर्य में) — अणअ; जैसे हसणअ, वज्जणअ।

प्रेरणार्थक क्रिया

१.—अव विकरण।

जैसे, विराणवइ (वि—ज्ञा), चिन्तवइ (चिन्त-) दावइ (दा), ठावइ (स्था)

२.—आव विकरण।

णच्चावइ, बोल्लावइ, खणाविय

३. मूल धातु के स्वर में वृद्धि।

णासइ, रावइ, मेलावइ, खाविय।

क्रिया विशेषण अव्यय

१. *काल वाचक*

अज्जु, अइरिण (अचिरेण), एत्तहे (इतम्) एवहिं (अधुना), कया, कइयह (कदा) जइया, जइयह (यदा), जाम, जावँ, जामु, जावँइ (यावन्मात्र), ता, ताम, ताउ, ताव (तावत्) पच्छ (पश्चात्), सइ (सदा), सज्जो (सदा)

२. *स्थान वाचक*

इहु, इहा (इह), इत्थु, एत्थु, इत्थि (अत्र) उप्परि (उपरि), कउ (कुतः), कहंति-हु, कत्थ , केत्थु, कत्थइ (कुत्र), जत्थु, जेत्थु, जित्थु, जेत्तहे, जेत्तहि, जत्तु, जहिं (यस्मिन्, यत्र), तत्थ, तेत्थु, तित्थु, तेत्तहे, तेत्तहि, तेत्ताहे, तत्तु, तहिं (तत्र) बाहिरि, बाहिर, बाहिरउ, बाहेर (बहिः) सव्वत्तउ (सर्वत्रः)

३. *रीति वाचक*

अवरोप्परु (परस्परम्), अह (यथा), इत्तियइं, इत्तिय (इयत्), एमु, एउँ, इउँ, एम, एम्व, एमइ, एम्वहि, एवहिं, एवि (एवं) एवहिं (इदानीम्), एमेव (एवमेव) एत, एत्तडइ, एत्तुल (एतावत) एत्तिय, एवडु, एवड, एवडु, एवडु, (इयत) कइ, किह, केम, केंव, केव, किम, किमि, किम्व, किवँ, किव, कीवइँ, केमइँ, किउँ, काइउं (कथम्)

केत्तिउ किल्तिउ, केत्तिय (कियत्) , केत्तुल ।
कूर (ईषत्), छुड, छुडु (क्षिप्रम्)
जेम, जिम, जिम्व, जेवँ, जिव, जिह जेहउँ (यथा)
जित्तिउ (यावन्मात्र), झत्ति, झडत्ति (झटिति)
ढालु (शीघ्रम्), णीरारिउ (नितरा), निरुत्तु,
णिरु (नितरां), णाहिं, णाहि (नास्ति), तरु (त्वर)
तह, तिह तेय, तहाँ, तिम, तेमु, तिमु, तेउँअ,
तिवँ, तिम्व (तथा), तेत्तडउ, तित्तिडउ (तावन्मात्र)
दड़वड, डवत्ति, दडत्ति (शीघ्र), दिवे, दिवे (दिवा)
पुणु, पुणो (पुनः),फुडु (स्फुट), तह (अधिक)
सणिउ (शनैः) ।

४ अन्य

अच्चत्थम (अत्यर्थम्), अवस, अवसें, अवसय,
अवसु, अवसि, अवस्सु (अवश्यम्),आलें (अलम्)
इ (हि), इड, इय, इउ,(इति), कउ, कहत्तिहु (कुत.)
किर, किरि (किल), घणउं (प्रभूतम्), चिय
च्चिय (चैव), जणि, जणु (इव), जि, ज्ज, ज्जि
(एव), ण, णउ, णाइ, णाइँ, णावइँ (इव)
ण (ननु), णवि (नापि), प्राउ,
प्राइव, प्राइम्व, पग्गिम्व (प्राय), पि वि, बि, मि (अपि)
विव, विउ, व, विअ (इव), म (मा)
मणु, मिव (इव), वार वार, वलि वलि (वारवार)
विणु, विणु (विना), सइ, सइ, सए, सइ (स्वय)
हु (खलु), हु (हि)

५. सयोजक

अहव, अहवइ (अथवा)
अनु, अन्नह (अन्यथा)

जइ, छुडु (यदि), कि (वा), ता, तो, तोइ, तह (तदा) णवरि (न पर)

६. *विस्मयादि बोधक*

अम्मिए (अहो), अरि, अरिरि, अरे (रेरे, अरे)
अव्वो (अम्वा), अहह, अहो,
छी छी, थू थू, हद्दा, हाहा, हलि।

प्रत्यय

१. कृत्

— अ, — अण, — इअ, — इय, — इर (ताच्छील्ये)
— इल्ल, — एव्व, — ग, — तार।

२. *तद्धित*

— अ (स्वार्थिक), — अ (आ स्त्री०), —अय (स्वा०)
— अर (-कर), — आर, — गार, (— कार), — आल
— आलु, — इँ, — इत्त, — इम, — इर, — इल,
— उल्ल, — एव्व, — क्क, — ड, — डी, — डु, णी
— त, — तण, — त्तिय, — तुल, — दु, — प्प, प्पाण
— य, — व, — वंड, वंत, वाल, — वि, — रिण
— रिस, — ल, — ली, एहउ।

परिशिष्ट (चार)

पृथ्वीराज रासो की भाषा पर कुछ विचार

आदि हिंदी तथा उत्तर अपभ्रंश युग की संक्रान्तिकालीन भाषा के स्वरूप का पता लगाने में 'पृथ्वीराज रासो' का अध्ययन बहुत सहायक हो सकता है। परंतु खेद के साथ कहना पड़ता है कि उस ग्रंथ की ऐतिहासिकता को लेकर उठने वाले आरंभिक विवादों ने इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण को भी धूमिल कर दिया। आरंभ में बहुत दिनों तक यही विवाद होता रहा कि रासो की भाषा 'डिंगल' है या 'पिंगल'। राजस्थानी से विशेष प्रेम रखने वाले श्री सूर्य करण पारीक ने उसे 'डिंगल' कहा जब कि ग्रियर्सन, टेसीटरी, रामचन्द्र शुक्ल, धीरेन्द्र वर्मा, नरोत्तम स्वामी आदि विद्वानों ने उसे प्रधानतः 'पिंगल' माना। अब 'डिंगल-पिंगल' विवाद बहुत कुछ शांत हो चुका है और दूसरा मत मान्य हो गया है। परंतु इतने ही से 'रासो' का भाषावैज्ञानिक अध्ययन समाप्त नहीं होता। मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि रासो की भाषा क्या है ? मुख्य प्रश्न यह है कि उसकी भाषा मे कितनी भाषाओं, उपभाषाओं तथा बोलियों का मिश्रण है और इस मिश्रण का अनुपात क्या है। इसके बाद यह देखना आवश्यक है कि यह मिश्रण क्यों हुआ ? क्या उस मिश्रण मे विभिन्न शताब्दियों के स्तर दिखलाई पड़ते हैं ? यदि हां तो, उसमें कौन सा स्तर कितना पुराना है। अब यह कह देने से काम न चलेगा कि 'रासो' की भाषा अव्यवस्थित है। हमे उस अव्यवस्था का वैज्ञानिक कारण भी बताना पड़ेगा। इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए समूचे 'रासो' की छान बीन आवश्यक है। अब तक 'रासो' का भाषा पर विचार करते हुए प्रायः पंडितों ने इधर उधर से अपने काम की चीजें निकाल कर

निज पक्ष-समर्थन तथा पर-पक्ष-खंडन का ही काम किया है। यह कार्य वकीलों का सा रहा है। इससे 'रासो' की संपूर्ण भाषा का स्वरूप सामने नहीं आता। इधर प्रस्तुत काम बहुत बड़ा और श्रमसापेक्ष्य है। यह स्वयं एक विस्तृत 'निबंध' का विषय है। परंतु यहाँ संक्षेप में इस दिशा में कुछ सुझाव उपस्थित किया जा रहा है।

रासो की भाषा के अध्ययन से पूर्व उसकी अनुलेखन पद्धति (ऑर्थोग्राफी) पर विचार बहुत आवश्यक है। नागरी प्रचारिणी सभा-संस्करण तथा रायल एशियाटिक सोसायटी द्वारा प्रकाशित अंशों के तुलनात्मक अध्ययन से इस तथ्य की ओर स्वभावतः ध्यान जाता है। रा० ए० सो०-संस्करण में कई शब्द ऐसे मिलते हैं जिनके दो टुकड़े हो गए और वे अपने पूर्ववर्ती तथा शब्दों के साथ मिलकर विलक्षण शब्दों की स्टष्टि कर देते हैं। ये त्रुटियाँ संपादन सापेक्ष अवश्य हैं; परंतु प्रायः वहाँ पांडुलिपियों का यथातथ अनुसरण किया गया है; जब कि ना० प्र० स०—संस्करण में छंदो-भंग को सँभालने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। पाठ-भेदों का अभाव प्रायः दोनों संस्करणों मे समान है। इनसे हमारे सामने कठिनाई आ जाती है। रासो के वैज्ञानिक संस्करण के अभाव मे भाषा का अध्ययन मुश्किल है।

दूसरी कठिनाई है लिपिकार के कारण। रासो धर्मग्रंथ न था जो उसकी प्रतिलिपि में 'ग्रंथ साहब' अथवा 'रामचरित मानस' की सी सावधानी रखी जाती। एक तो वह स्वयं मौखिक परंपरा मे नित परिवर्तित होता रहा, दूसरे प्रतिलिपि में भी प्रमाद की संभावना रही। इन कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए भी दो बातों को आधार बनाकर 'रासो' की भाषा का विश्लेषण किया जा सकता है :

(१) आधिकारिक कथा तथा आनुषंगिक कथा का पार्थक्य;

(२) संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा स्वयं हिंदी के देशी छंदों के अनुरोध से वाक्य-विन्यास तथा शब्द-समूह मे परिवर्तन।

जहाँ तक पृथ्वीराज रासो के आधिकारिक कथानक के चयन का

प्रश्न है, यह कार्य विशेष कठिनाई का नहीं है। पृथ्वीराज का जन्म, वंश-परिचय, दो एक विवाह, संयोगिता-कथा, मुहम्मद गोरी से युद्ध, गजनी-कैद आदि ऐसे तथ्य हैं जिनके आधार पर एक संक्षिप्त रूप-रेखा तैयार की जा सकती है और ऐसा करने से प्रायः तीन-चौथाई अंश छोड़ देना पड़ेगा। फिर इस आधिकारिक कथानक को भाषा का विश्लेषण करके बतलाया जा सकता है कि रासो की भाषा में अपभ्रंश और हिंदी के बीच के कितने सोपान हैं? परंतु क्या यह संचयन वैज्ञानिक होगा? क्या प्रमाण है कि अधिकारिक कथान कही मूल रासो है। काव्यों में प्रसगात् आनुषंगिक कथानकों का विधान सदैव होता आया है। फिर भी 'रासो' में ऐसे अनेक स्थल हैं जिन्हें निस्संकोच परवर्ती कहा जा सकता है। उदाहरण स्वरूप 'महोबा समय' स्पष्ट रूप से 'आल्ह खण्ड' का संक्षेपीकरण प्रतीत होता है और मूल कथा से असंबद्ध दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार कवि चंद की मृत्यु के बाद की घटनाओं से संबद्ध उपान्त्य समय भी चंदकृत नहीं हो सकता। इधर दूसरा 'समय' जिसका नाम 'दसम्' है क्योंकि उसमें 'दशावतार कथा' है, मूल रासो से असंबद्ध कोई स्वतंत्र पुस्तक मालूम होती है। यही दशा ४६वें समय 'विनय-मंगल' की भी है। 'पर्व, समय', 'प्रस्ताव' आदि जो विविध नाम रासो के सर्गों के मिलते हैं उनके आधार पर भी असंबद्ध अंशों को छाँटा जा सकता है। हमारी समझ से रासो के सर्ग मूलतः 'समय' नाम से ही विख्यात रहे होंगे अतः 'प्रस्ताव' 'पर्व' तथा इतर नाम वाले समयों को सरलता से परवर्ती कहा जा सकता है। इस दृष्टि से स्वयं आदि पर्व भी संदिग्ध है। आदि पर्व में भी आदि और अंत को छोड़कर शेष उपाख्यान क्षेपक और परवर्ती प्रतीत होता है। स्वयं कविचंद और उसकी पत्नी की बातचीत भी भक्ति युग की भावना से इतनी प्रभावित है कि उसे १६वीं शती से पूर्व का कहना कठिन लगता है। कवि की स्त्री का यह पूछना कि तुम हरि का गान छोड़कर नर-शंसा क्यों कर रहे हो—तुलसी के

कीन्हें प्राकृत-जन गुन गाना।
सिर धुनि गिरा लाग पछताना ॥

का प्रभाव मालूम पड़ता है। राजाओं का यशोगान करने वाले चारणयुग में इस तरह का प्रश्न उठना संभव नहीं था। मालूम होता है कि भक्ति युग के बाद किसी चारण ने 'रासो' जैसे 'प्राकृत-जन गुन-गान' के मंडन के लिए यह योजना की और उसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा कि 'अंग अंग हरि रूप रस' अतएव यह 'राधा कन्हाई सुमिरन को बहानो है' की तरह राजा के बहाने हरि-रूप का कीर्तन है। इसी प्रकार पृथ्वीराज के साथ पद्मावती हंसावती आदि अनेक रानियों का विवाह भी परवर्ती प्रतीत होता है। केवल इंछिनी-विवाह तथा संयोगिता परिणय का उपाख्यान ही मूल से संबद्ध संभव है। गोरी के साथ पृथ्वीराज की जो अनेक लड़ाइयाँ हैं उनकी पुनरावृत्ति भी क्षेपक हो सकती है।

परंतु इस प्रकार की काट छाँट से भाषा के अध्ययन में विशेष सहायता नहीं मिल सकती; क्योंकि इतना निश्चित सा है कि वर्तमान रासो का संग्रह ईसा की सोलहवी शती के आसपास हुआ होगा और इस कार्य में भाषा को भी तात्कालिक सवाँर सुधार का दण्ड भोगना पड़ा होगा। एक तो वैसे ही भाषा बहुत धीरे-धीरे बदलती है अर्थात् उसका वाक्य-घटन और आधार भूत शब्द कोष अपेक्षाकृत अल्प परिवर्तित रहता है, दूसरे यह सँवार-सुधार। तीन-चार शताब्दियों के परिवर्तन चिह्नों का पता कैसे चले! अधिक से अधिक शब्द-समूह के परिवर्तनों का अध्ययन हो सकता है! इसके सिवा जिन पांडुलिपियों के आधार पर इसका संपादन किया है वे स्वयं बहुत बाद की हैं अथवा यों कहें कि आधुनिक हैं। इसलिए कथानकों के आधार पर मूल और प्रक्षिप्त अंश का चयन भी विशेष उपयोगी नहीं हो सकता। हाँ बीकानेर पुस्तकालय में सुरक्षित मध्यम, लघु और लघुतम रूपान्तर शायद उपयोगी हों तो हों; क्योंकि उनका लिपि-काल १७ वीं सदी ई० का उत्तरार्द्ध है

घोषित है।* श्री अगरचंद नाहटा के पास रासो के लघुतम रूपांतर की जो प्रति है उसे वे सं० १६६७ वि० की लिखी हुई बतलाते हैं। जब तक वह सामने न आए तब तक कुछ कहना बड़ा मुश्किल है। इधर जो बात हमें खटकने लगी है वह यह कि किसी ग्रंथ के मूल का पता लगाने के लिए उसके अति लघु रूप की कल्पना का अतिरेक हो रहा है और पंडितों की कृपा से 'रासो' की भी यह दुर्गति हो रही है। जो हो इतना निश्चित है कि रासो की कथानक-छंटनी से भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन मे विशेष सहायता नहीं मिल सकती।

रासो में छंदानुरोध से भाषा के रूप-भेद का अध्ययन अधिक संगत प्रतीत होता है। प्रायः श्लोक संस्कृत में हैं तथा गाहा या गाथा प्राकृताभास हिंदी में। संस्कृत के शार्दूल विक्रीड़ित, मालिनी आदि वृत्तों की भाषा में भी संस्कृत का पानी आ गया है। कुछ उदाहरण ये हैं :

श्लोक:

पूर्वं शापं समं दृष्टवा स्वामिवचन प्रीतये।
क्रोधमुक्तश्चाविनासी पीडितो गजराजयम्॥ २।५१४

इसी प्रकार ७।४, ४५।१६२ के श्लोक भी विचारणीय हैं।

साटक :

आदी देव प्रनम्य नम्यगुरयं वंदेय वानी पयं। १।१

मालिनी

हरित कनक कांति कापि चम्पेव गौरी
रसित-पद्म नेत्रा फुल्ल-राजीव नेत्रा
उरज-जलज सोभा नाभिकोस सरोजं
चरन कमल हस्ती लीलया राजहंसी।

---

§ राजस्थान भारती, भाग १, अंक १, अप्रैल सन् १९४६ ई० नरोत्तम स्वामी का रासो विषयक निबंध

उपर्युक्त छंदों की पदावली ही नहीं वाक्य-विन्यास भी संस्कृत गर्भित रखने का प्रयत्न किया गया है। परंतु रासो में इस प्रकार की भाषा बहुत कम है। हिंदी काव्यों में संस्कृत के नमूने रखने की प्रणाली मध्ययुग में बहुत दिनों तक रही। 'राम चरित मानस' में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है भले ही कुछ व्याकरणिक भूलें उनमें हो जायँ।

इसी प्रकार 'गाहा' में प्राकृत की झलक मिलती है—

पय सक्करी सुमत्तौ एकत्तौ कनक राय भोयंसी।
कर कसी गुज्जरीयं रब्बरियं नैव जीवंति॥ १।४३

इनके विपरीत जहाँ ठेठ अपभ्रंश और हिंदी के छंद हैं उनमें भाषा का गठन नया हो उठा है:

छप्पय :

हय गय हय गय अरथ रथ्थ नर नर सों लग्गा।
हय सों हय पायल सु पाय करि सों करि भग्गा॥
ईस आन वर चवै सूर सूरन हक्कारिय।
धार धार भिल्लै प्रहार धीरा रस धारिय॥
घरि एक भयानक रुद्र हुअ, सीस माल गुंठी सुकर।
कवि चंद दुंद दुअ दल भयौ, मुगति मग्ग खुल्ले विदर॥ ६१।२३५

करषा :

रुंड मकरुंड किय तुंड तुंडन रुरत
वाहि सिर सार मनौं मोह बड्ढै
कूह करि जूह संमूह को कोक हर
रोस रिम राह जेम जीव छुट्टै। ५।८२

रासा :

अलस नयन अलसावत आदर प्राप्यकिय।
किय कुद्दिक मो गात सकिल्लिाव एक हिय॥

नव वाले वर ताव सयंवर मंडइय।
कहि वर उतकंठाइ माल उर छंडइय॥ ५०।२२

चौपाई :

तात मात आग्या परमानहि। ता प्रमान वह अम्म प्रमानहि।
गुरु द्रोही पति दोही जानं। सो निहचै नर नरकहि थानं॥

इनके अतिरिक्त 'वचनिका' नाम से कुछ छंद दिये गए हैं जो वस्तुतः गद्य हैं। परवर्ती राजस्थानी साहित्य में 'वचनिका' गद्य की भरमार दिखाई पड़ती है। ऐसा प्रतीत होता है कि रासो की ये 'वचनिकायें' पीछे से जोड़ी हुई हैं; क्योंकि इनके हटा देने से कथानक में किसी प्रकार की कमी नहीं दिखाई पड़ती। जैसे—

१. अनंगपाल कूंअर बनवास लीनी। १६।११४
२ राजा वीरोदक पहिर स्नान करयो
तव चंद बहुरि और अस्तुति करत है। ६१।३३०

इनके अतिरिक्त १२।२६१, १६।११४; ३७।४२; ४६।५६ से पूर्व तथा ६१।२८६, ३२२, ३३०, ५६१; ६२।२६,३१; ६३।८०; ६४।६७; ६६।१२१, १३२, १३६, १४८ के बाद की वचनिकाओं का अध्ययन उपादेय हो सकता है और ये ब्रजभाषा गद्य का प्राचीन रूप सामने रखती हैं।

'रासो' की भाषा के विषय में कुछ विद्वानों ने यह सिद्धान्त चला रखा है कि मूल रासो अपभ्रंश भाषा में लिखा गया होगा। इस सिद्धान्त का आधार मुनि जिन विजय जी द्वारा 'पुरातन प्रबंध संग्रह' में प्राप्त वे चार छप्पय हैं जिनमें से तीन 'पृथ्वीराज रासो' में थोड़े से परिवर्तन के साथ के खोज निकाले गए हैं। डा० दशरथ शर्मा ने इसी सिद्धान्त की पुष्टि मे रासो के कुछ पद्यों का अपभ्रंश-रूपान्तर भी प्रस्तुत किया; (राजस्थान भारती) इस प्रकार की काल्पनिक बातों से कार्य-सिद्ध होने की संभावना बहुत कम है। संभव है, पु० प्र० सं० के पद्य रासो

के अपभ्रंश रूपान्तर हों। फिर भी दोनों का तुलनात्मक अध्ययन अपभ्रंश तथा पुरानी हिंदी के संबंध को स्पष्ट करने के लिए उपयोगी हो सकता है। उनके पद्मात्रों की तुलनात्मक तालिका निम्नलिखित है।

ये पद्य क्रमशः : (१) रासो पृष्ठ १४६६, पद्यांक २३६ तथा पु० प्र० सं० पृष्ठ ८६ पद्यांक २७५

(२) रासो पृष्ठ २१८२, पद्यांक ४७६ तथा पुं० प्रं० सं० पृष्ठ वही, पद्यांक २७६

(३) रासो पृष्ठ २५०२, पद्यांक २१६ तथा पुं० प्रं० सं० पृष्ठ वही, पद्यांक २८७

पु० प्र० सं० में जयचंद संबंधी एक और पद्य प्राप्त हुआ है जिसका समकक्ष अभी रासो में नहीं खोजा जा सका है।

रासो	पु० प्र० सं०	खड़ी हिंदी
एक	इक्कु	एक
बान	वाणु	बाण
पहुमीनरेस	पहुवीसु	पृथिवीश
×	जु	जो
×	पइं	तुमने
कैमासह	कइंबासह	कैमास के प्रति
मुक्यो।	मुक्क ओ।	मुक्त किया
उर उप्पर	उर भितरि	उर भीतर
थरहर्यो	खडहडिउ	खड़खड़ाया
बीर	धीर	धीरे के, हे धीरे
कष्षन्तर	कक्खन्तरि	कक्षान्तर में (काँख में)
चुक्यो।	चुक्कउ	चूक गया।
बियौ	बीअं	दूसरा

रासो	*पु० प्र० स०*	*खड़ी हिंदी*
बान	करि	हाथ से या में
संधान	संधीउ	संधान किया
हन्यौ	भमइ	भ्रमता है, चक्कर खाता है
सोमेसर नंदन ।	सूमेसर नंदन ।	हे सोमेश्वर नंदन
गाढ़ौ	एहु	यह
करि	सु	सो
निग्रहौ	गडि	गड़कर
+	दाहिमश्रो	दाहिम
षनिव	खणइ	खनता है
गडयौ	खुद्दइ	खोदता है
संभरिषन ।	सइंभरि वणु ।	शाकंभरी वन को
थल	फुड	स्फुट
छोरि न जाइ	छंडि न जाइ	छोड़ा नहीं जाता (जाय)
अभागनौ	इहु	इससे, यह
गडयौ	लुब्भिउ	लोभित है
गुन	वारइ	रोकता है
गहि	पलकउ	पलक भी
अग्गरौ ।	खल गुलह ।	खल कुल का (खुल जाने से)
इम	नं	निश्चय ही
जम्पै	जाणउं	जानता हूँ
चंद बरदिया	चंदवलदिउ	चदबरदायी
कहा कि		क्या
निघट्टै	न वि छुट्टइ	न भी छुटे

रासो	पुं० प्र० सं०	खड़ी हिंदी
इय	इह	यह
प्रलौ।	फलह।	फल का फल स्वरूप

(२)

अगह	अगहु	अग्रहणीय को
म गह	म गहु	मत ग्रहण करो
दाहिमौ	दाहिमओ	दाहिम (कैमास)
देव	देव	देव
रिपुराइ षयंकर।	रिपुराइ खयंकरु।	शत्रुनाशक
कूर	कूडु	कूट
मंत्र	मंत्रु	मंत्र
जिन	मम	मत (मा मा)
करौ	ठवओ	स्थिर करो
मिले	एहु	इस
जंबू वै	जंबूय	जंबुक से
×	मिलि	मिलकर
जगर।	जग्गरु	झगड़े
मो सहनामा	सहनामा	सुंदर सलाह
सुनौ	सिक्खवउं	सिखाऊँ
एह	जइ	यदि
परमारथ	सिक्खिविउं	सिखाये को
सुज्झै।	बुज्झई	बूझैं
अक्खे	जंपइ	कहता है
चंदबिरद	चंदबलिद्दु	चंदवरदायी
बियौ कोइ	मज्झु	मुझे
एह न	परमक्खर	परमाक्षर

रासो	पुं० प्र० सं०	खड़ी हिंदी
सुज्झै।	सुज्झइ	सूझता है
×	पहु	(हे) प्रभु
प्रथिराज	पुहुविराय	पृथ्वीराज
सुनवि	×	शाकंभरी
संभरिधनी	सइंभरिधणी	धनी
इह संभालि	सयंभरि	शाकंभरी को
×	सउणइ	शकुन को
संभारिसि।	संभरिसि।	सुमिरेगा
		सँभालेगा
कैमास	कइँवास	कैमास
बलिष्ट	विश्रास	व्यास को
बसीठ बिन	बिसट्ठविणु	छोड़कर
म्लेच्छ	मच्छि	म्लेच्छ
बंध बंध्यौ	बंधि बद्धओ	बंधन-बद्ध होकर
मरिसि।	मरिस।	मरेगा

(३)

असिय	त्रिएिह	तीन
लष्य	लक्ख	लाख
तोषार	तुषार	घोड़े
सवल	सजड	सज्जित
पष्षर	पाषरी अइं	पँखरी
सायद्दल।	जसु हय।	जिसके हय
सहस	चऊदसय	चौदह सै
हस्ति	मयमत्त दंति	मदमत्त दन्ती
चवसट्टि	×	चौंसठ

रासो	पु० प्र० स०	खड़ी हिंदी
गरुअ	×	गुरु
गज्जंत	गज्जंति	गरजते हैं
महाबल ।	महामय ।	महामत्त
पंच कोटि	बीस लक्ख	बीस लाख
पाइक्क	पायक्क	पायक (पैदल)
सुफर	सफर	फल युक्त
पारक्क	फारक्क	पार करने वाले
धनुद्धर ।	धणुद्धर	धनुर्धर
जुध जुधान	लहूसइ	?
वर	अरु बलु	और बल
बीर	यान	यान
तोन बंधन	संखकु जाणइ	शंख कौन जाने
सद्धन भर	तांह पर	उसपर
छत्तीस	छत्तीस	छत्तीस
सहस	लक्ख	लाख
रन नाइबौ	नराहिवइ	नराधिपति
बिहौ	विहि	विधि
बिम्मान	विनट्ठिओ	विनष्ट हुए
ऐसो कियौ ।	हो किम भयउ	क्या हुआ ।
जै चंद राइ	जइचंद	जयचंद
×	न जाणउ	न जानूँ
कविचंद	जल्हु कइ	जल्हण कवि
कहि	गयउ	गया
उदधि बुद्धि	कि मूउ	या मर गया

रासो	पु० प्र० सं०	खड़ी हिंदी
कै	कि	या
घर	घरि	घरा में
लियौ ।	गयउ	गया ।

उपर्युक्त तुलना से भाषा संबंधी तथ्य के अतिरिक्त एक और बात मालूम होती है और वह यह कि समय के साथ अतिरंजना बढ़ती गई। पुरातन प्रबंध संग्रह के समय जो घुड़सवार सेना केवल तीन लाख थी वह रासो के संग्रह-काल तक आते आते अस्सी लाख हो गई; चौदह सै हाथी चौंसठ सहस्र हो गए; बीस लाख पैदल पाँच करोड़ हो गए। यदि संख्या घटी तो केवल नराधपतियों की। पु० प्र० सं० के छत्तीस लाख नराधिप रासो तक आकर केवल छत्तीस सहस्र रह गए। इस अतिरंजना से स्पष्ट हो जाता है कि रासो के उन अंशों का संग्रह पु० प्र० सं० के बाद हुआ होगा अर्थात् ईसा की १५वीं सदी के बाद। जब हाथी घोड़ों की संख्या मे इतना परिवर्तन हो गया तो भाषा मे भी कुछ न कुछ विकार अवश्य आया होगा।

अब संक्षेप मे रासो की भाषा-गत प्रधान प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कर लिया जाय।

ध्वनि विकार

१. सामान्य ध्वनि विकारों के अतिरिक्त रासो में दो विशेष प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। एक तो रेफ संबंधी दूसरी अनुस्वार संबंधी। शब्दों में ओज की गुर्राहट देने के लिए प्रायः रेफ का आगम अथवा विपर्यय कर दिया जाता है और इस सिलसिले में कहीं कहीं व्यंजन-द्वित्व भी हो जाता है।

(क) गर्व > ग्रब्ब । वर्ण > ब्रन्न। सर्प > स्रप। सर्व > स्रब्ब।

मर्यादा > मज्जाद । धर्म > ध्रम्म । गर्व्यो > ग्रज्ज्यो ।

दर्पण > द्रप्पन । स्वर्ग > स्रग्ग । नर्क > ग्रक्क ।

सुवर्ण > सोव्रन । पर्वत > प्रव्वत ।

(ख) दुर्ग > दुरग्ग । वर्ष < वरस्स । पर्वत > परव्वत । अर्क > अरक्त

(ग) रेफ-लोप

समुद्र, समुद्द, समद > समुद्र ।

(घ) पर-व्यंजन-द्वित्व

जप्प < जाप । हद्द < हद । घत्त < घात । हथ्थ < हाथ ।

अव्व < अब । कव्व < कब । कव्वी < कवि ।

बन्न < वन । एकल्ल < अकेला

(ङ) रेफ-संकोच

नग्र < नगर । श्रीर < शरीर । ध्रित्ति < धरती ।

(२) अनुस्वार का आगम प्रायः संस्कृत गरिमा अथवा दर्प का टंकारा लाने के लिए किया गया है । दक्षिणी भारत के नामों में अब भी वह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है और वहाँ अनुस्वारान्त नाम प्रायः मिलते हैं ।

(३) छंदानुरोध से प्रायः एक ही शब्द के पाँच पाँच छः छः ध्वनिविकार मिलते हैं। इसे कुछ पंडितों ने अव्यवस्था का परिणाम कहा है परंतु यह अव्यवस्था तुलसी जैसे भाषासिद्ध कवियों में भी मिलती है । इसका यही अर्थ हो सकता है कि वे कृतियाँ जीवित भाषा में लिखी गई हैं । शब्द रूपों की विविधता वैयाकरणों को चक्कर में भले डाले परंतु वह लोक-व्यवहार की भाषा-सजीवता को प्रकट करती है ।

रूप-विचार

१. *परसर्ग* :

कर्म—कहुँ, कहँ, कौं, कों ।

अपादान—सम, सों, से; पै, पैं, परि, पर; तैं, ते ।

अधिकरण—मध्य, मधि, मद्धि, मांझ, मझ, मझार, महि, मांहि, मांही में।

संबंध—केरी, केरौ, कौं, क, कें।

२. *सर्वनाम*

उत्तम पुरुष : हौं, हो, म्हैं। हम, हमहि, हमारो।
मोहि, मो, मुझ।

मध्यम पुरुष : तूं, तुंहि, तोहि, तुहि, तो, तुम्ह, तुम्ह, तो, तेरौ।
तुम, तुम्म, तुमं, तुमहि, तुम्हारी।

अन्य पुरुष : सो, ताहि, ता ताको।
ते, तेउ, तिनि, तिनको।
इह, इन्हें, याहि, या।
ये, इहै, इनि, इन, इनको।
उह, उहै, वह, वाहि, वा, वाको
उनि, उन, उनकौ

३. *क्रिया-रूप*

वर्तमान काल—करौं, करूँ, करै, करे।

भूतकाल—चल्यौ, चलै।

भविष्यत् काल—चलिहौं, चलिहैं, चलिहै, चलिहौ।

कृदंतज वर्तमान—देखत, सुनत, रेहंत कहंत।

पूर्वकालिक—करि, मुनि।

उपर्युक्त रूप-रेखा से स्पष्ट है कि रासो की भाषा का ढाँचा बहुत कुछ पुरानी ब्रज भाषा के मेल में है। परंतु कहीं कहीं अपभ्रंश की भी झलक मिल जाती है—जैसे जादू कुलह = जदुकुल का।

सुरत्तह रंग = सुरत का रंग।

सगुनवंद दिय *अप्पतन* = अपने से (तद्य अप०); दूसरी ओर

कहीं कहीं 'बँचि कागज चहुँआन ने' जैसा आधुनिक खड़ी बोली का रूप प्राप्त होता है। बीच बीच में पंजाबी बोली के वाक्य विन्यास का का भी पुट मिलता है। जैसे—

(१) हालो हल कनवज्ज मंझ केहरि कूकंदा।
संजम राव कुमार लोह लग्गा लूसंदा॥
चहुयान महोवै जुद्ध हुअ ग्रेहा गिद्ध उड़ाइयाँ।
रन भंग रावनै वर विरद लंगै लोह उचाइयाँ॥ ६१।१००७

वाक्य विन्यास में कहीं कहीं एक वचन संज्ञा के साथ बहुवचन क्रिया प्रयुक्त हुई है तो कहीं पुल्लिग संज्ञा के साथ स्त्रीलिंग क्रिया।

(१) तब सकल भइय एकत्र नारि। १।३७१-१
(२) सब सौति कह्यो दुष सुनहु तुम्म। १।३७५-१
(३) सिंघ विनास्यौं वनिक सुत कन्या कियौ अंदोह। ११।३४८-१

शब्द समूह

रासो की भाषा का अध्ययन यदि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है तो शब्द समूह की दृष्टि से। आदि पर्व में कवि का—

'षट भाषा पुरान च कुरान च कथित मया'

दावा यदि किसी क्षेत्र में ठीक ठीक लागू होता है तो शब्द समूह के क्षेत्र में। 'रासो' की भाषा को डिंगल' समझने का भ्रम बहुत कुछ उसके शब्द समूह के ही कारण होता है। शब्दों की मनमानी तोड़-मरोड़ कतिपय डिंगल और राजस्थानी शब्दों के संयोग से डिंगल का रस देने लगती है। परंतु वास्तविकता यह है कि डिंगल शब्दों की संख्या बहुत कम है। उससे अधिक तो फारसी, अरबी और तुर्की शब्द हैं। जैसे—

फ़ारसी—सरम ∠ शर्म, सहर ∠ शहर, लश्कर, कोह, बख़शीश, अवाज ∠ आवाज़, कूच, आतस ∠ आतिश, ज़ोर, सोर / शोर, पेश ∠ पेश आदि।

अरबी—इसम ∠ इस्म, खबर, खजीन ∠ खजीन, महल, फते ∠ फ़तह, जमाति ∠ जमाअत, अदब, क़दम, तबीब, हूर, अस्ल, हरम, शजरा, ग़ाज़ी, ऐब, हुक्म, क़रीब, हक़, दुवा, नार (आग), हमाम आदि।

तुर्की—हरावल, एलची, सौगात, तुपक ∠ तुप, चिग्ग ∠ चिक़।

इस प्रकार रासो का शब्दकोश हिंदी भाषा की समृद्धि के साथ तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों और हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियों के अंतरावलंबन की ओर संकेत करता है। निस्सन्देह इसकी भाषा १६ वीं शती की अनगढ़ पिंगल है।

परिशिष्ट (पाँच)

कीर्तिलता की भाषा

'कीर्तिलता' छोटा सा चरित काव्य होते हुए भी ऐतिहासिक तथा भाषाशास्त्रीय दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। एक ओर जहाँ वह जौनपुर नगर के यथार्थ वर्णन द्वारा तत्कालीन हिंदू-मुस्लिम-संबंध पर प्रकाश डालती है वहाँ दूसरी ओर भाषा का एक स्वरूप भी सामने रखती है। इसका संपादन सन् १६२६ ईस्वी में भाषाविज्ञान के योग्य विद्वान डा० बाबूराम सक्सेना ने किया था और उन्होंने उसकी भाषा पर स्वतन्त्र रूप से एक विस्तृत निबंध लिखने का आश्वासन भी दिया था। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि तेइस वर्षों बाद भी उक्त पाडित्यपूर्ण निबंध से हम वंचित रहे। संभव है यह कार्य उनके योग्य हाथों द्वारा निकट भविष्य में संपन्न हो क्योंकि यह उन्हीं जैसे पंडित के उपयुक्त है; तथापि यहाँ संक्षेप में उस ओर संकेत किया जा रहा है। डा० सक्सेना ने उक्त पुस्तक की भूमिका के छः पृष्ठों में उसकी भाषा पर विचार किया है जिसमें सरसरी तौर से भाषा की प्रमुख प्रवृत्ति की ओर निर्देश किया गया है। आवश्यकता और भी गहरे विवेचन की है। परंतु इसके पहले जरूरी है 'कीर्तिलता' के पुनः संपादन की अथवा पर्याप्त संशोधन की। पाठ-निश्चय तथा अर्थ-विचार संबंधी अनेक भूलें प्रथम संस्करण से ही चल रही हैं। पद्य भी गद्य की तरह संपादित हैं (पृ० ६) स्वर्गीय पं० केशव प्रसाद मिश्र ने ऐसी अनेक भूलों की ओर लेखक का ध्यान आकृष्ट किया था।

डा० सक्सेना ने यांत्रिक ढंग से 'कीर्तिलता' के प्रमुख 'पदमाओं' की सूची देकर सामान्यतया स्थापित किया है कि इसकी भाषा आधुनिक

मैथिली और मध्यकालीन प्राकृत के बीच की 'मैथिली अपभ्रंश' है। उन्होंने विश्लेषण करके यह नहीं बतलाया कि उसे वे मैथिली अपभ्रंश क्यों कहते हैं? वे कौन सी भाषाशास्त्रीय विशेषतायें हैं जो 'कीर्तिलता' को मैथिली अपभ्रंश कहने के लिए आधार तैयार करती हैं? वे कौन से तत्व हैं जो उसकी भाषा को प्राकृत और मैथिली के बीच की कड़ी सिद्ध करते हैं?

'कीर्तिलता' में संस्कृत, प्राकृत, ठेठ अपभ्रंश तथा कई मगधी बोलियों का प्रारंभिक रूप प्राप्त होता है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसकी भाषा खिचड़ी है। संस्कृत कविता में मंगलाचरण तथा ग्रंथ-समाप्ति एक ऐसी रूढ़ि थी जिसका पालन भाषा-कवि कई शताब्दियों तक करते रहे। परतु जहाँ तक प्राकृत-पद्य का प्रश्न है, वह विचारणीय है। डा० सक्सेना लिखते हैं—"पद्य भाग पर प्राकृत का यथेष्ट प्रभाव है, कोई कोई पद्य तो बिल्कुल प्राकृत के ही जान पड़ते हैं, जैसे पृष्ठ ६ पर 'पुरिसत्तरोन पुरिसओ' आदि।"[1] परंतु उन्होंने कोई दूसरा उदाहरण इस तरह का नहीं दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह 'गाहा' विद्यापति-रचित न होकर किसी पूर्ववर्ती प्राकृत कवि की प्रचलित उक्ति है जिसको विद्यापति ने उद्धृत किया है।

इस 'गाहा' को उद्धृत करने से पूर्व 'जदौ' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ सक्सेना जी ने स्पष्ट नहीं किया है। वस्तुतः वह 'यदुक्तम्' का प्राकृत रूप है और इसी आधार पर कहा जा सकता है कि प्रस्तुत 'गाथा' पूर्व प्रचलित किसी प्राकृत काव्य का अंश है—

पुरिसत्तरोन पुरिसओ नहि पुरिसओ जम्ममत्तेन।
जलदानेन हु जलओ नहु जलओ पुञ्जिओ धूमो॥

इसके बाद उक्त प्रसंग मे एक 'गाहा' और कही गई है। इन दो

---

[1] कीर्ति० : भूमिका पृ० २०

को छोड़कर पूरी पुस्तक में न तो कोई 'गाहा' है और न कोई प्राकृत-प्रभावित छंद। दो एक प्राकृत पदमात्रों का अवशेष तो पुरानी हिंदी में भी मिल सकता है। अस्तु, कीर्तिलता की भाषा को प्राकृत से भिन्न समझना चाहिए।

जहाँ तक अपभ्रंश के प्रतिमित रूप का संबंध है, कीर्तिलता की भाषा उससे कई बातों में भिन्न है तथा विकास का अगला सोपान बतलाती है। इस दिशा में जो तथ्य सर्वप्रथम सामने आता है वह है परसर्गों का प्रयोग-बाहुल्य तथा विकारी रूपों (oblique forms) के अधिकाधिक घिसे हुए उदाहरण। अपभ्रंश काल में केर, केरअ, केहि, रेसि, तण, हुँतो, मज्झु से अधिक परसर्ग नहीं मिलते और ये भी बहुत कम प्रयुक्त होते थे। प्रायः वाक्य-विन्यास घिसी हुई विभक्ति-प्रत्ययों पर ही अवलंबित था। उदाहरण स्वरूप संबंध-कारक का परसर्ग हेमचन्द्र के दोहों में मुश्किल से चार या पाँच स्थलों पर—केर का प्रयोग मिलता है; शेष जगह षष्ठी विभक्ति—ह, श्र—स्स का प्रयोग है। परंतु कीर्तिलता में का, क, का, का, करो, करेओ, करी, केरा, कइ, की, आदि की भरमार दिखाई पड़ती है।

१. दुष्टा *करेओ* दप्प चूरेओ। (पृष्ठ १४)
२. साहि *करेओ* मनोरथ पूरेओ। ,,
३. तीनहु शक्ति क परीक्षा जानलि। ,,
४. अधम उत्तम *का* पारक। (पृष्ठ १६)
५. कमण *काँ* नअण न लग्गइ नोर। (पृष्ठ २२)
(कवन के नअण न लग्गेउ लोर) (पाठ भेद)
६. पाति साह उद्देशे चलु गअनराअ *को* पुत्त। (पृष्ठ २२)
७. लोअन *केरा* वल्लहा लच्छी के विसराम। (पृष्ठ २६)
८. जनि दोसरी अमरावती *क* अवतार भा। (पृष्ठ २८)
९. मध्याह्ने *करी* वेला संमद्द साज। (पृष्ठ ३०)
१०. औ*की* हाट *करेओ* कोल। (पृष्ठ ३२)

संबंध कारक के अतिरिक्त अन्य कारकों के परसर्ग भी प्रयुक्त हुए हैं परंतु इनकी संख्या कम है। अपभ्रंश-काल में सामान्य कारक (direct case) बनाने की जिस प्रवृत्ति का आरंभ हुआ था वह कीर्तिलता में और भी विकसित दिखाई पड़ती है। कर्तरि 'ने' प्रयोग का भी आरंभिक रूप मिलता है :—

१. जेन्हे तुलिलओ आखण्डल। (पृ० १२)
२. जेन्ने जाचक जन रञ्जिअ। (पृ० १२)

सर्वनाम-रूपों में भी विकसित सोपान का आभास मिलता है। वोइ ∠ अदस् वाले रूप अपभ्रंश काल में कम थे; प्रायः 'से', 'ते' वाले रूपों का ही आधिक्य था। परंतु कीर्तिलता में ओ, ओहु, ओं, वाहि आदि रूप अन्य पुरुष तथा दूरवर्ती निश्चय वाचक सर्वनाम के ऐसे हैं जो हिंदी के वह, उसको आदि की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। जैसे :

नअर नहि नर समुद्र ओ। (पृष्ठ ३०)
ओहु षास दरबार सएल महिमंडल उप्परि। (पृ० ५०)

इसी प्रकार उत्तम पुरुष का षष्ठी रूप 'मोर' का मिलना नवीन सोपान का प्रतीक है जो अपभ्रंश-काल में दुर्लभ था।

अनिश्चय वाचक सर्वनाम का—किम् अपभ्रंश काल में प्रायः को वि, कुवि < कोऽपि तक ही सीमित था परंतु कीर्तिलता में उसके अनेक आधुनिक रूप प्राप्त होते हैं : जैसे काहु, केहु,

(१) काहू काहु अइसनेओ सङ्गत करे (पृष्ठ ३४)
(२) काहु ओ वहल भार बोझ। (पृष्ठ ३४)
(३) काहु बाट कहल सोझ। (पृष्ठ ३४)

कारकों और सर्वनामों के अतिरिक्त कीर्तिलता के क्रिया-रूप भी अपभ्रंश से आगे का चरण बतलाते हैं। इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण है वर्तमान-निश्चयार्थ के कृदन्तज रूपों का निर्माण। अपभ्रंशकाल में प्रायः वर्तमान काल के तिङन्त रूप ही चलते रहे हैं जैसे कथयति > कहइ

परंतु 'कीर्तिलता' में हिंदी के 'करता है,' 'जाता है' आदि के आरंभिक रूप प्राप्त होते हैं जो संयुक्त काल तो नहीं बन सके थे परंतु कृदन्तजविशेषण के रूप में रहते हुए भी सामान्य वर्तमान काल का काम देते थे। जैसे :

> अबे वे *भराग्ता* सगावा *पिबन्ता*
> कलीमा *कहन्ता* कलामे *जीअन्ता*।
> कसीदा *कटन्ता* मसीदा *भरन्ता*
> कितेवा *पढन्ता* तुरुक्का *अनन्ता*। (पृ० ४०)

इसके आगे की भी अवस्था के दर्शन होते हैं। जैसे :

> बहुले भाँति वणिजार हार हिंडए जबे *आवथि*।
> खने एके सबे *विक्कणथि* सबे किछु किनइते *पावथि*। (पृ० ३०)

डा० सक्सेना ने इसे प्राचीन क्रिया-रूप का केवल तद्भव-रूप माना है परंतु इसे कृदन्तज मैथिली रूप भी माना जा सकता है। त7थ विकार इसकी पुष्टि करता है। भोजपुरिया प्रदेश में उसी 'थ' के पूर्व का वर्ण कुछ सानुनासिक हो जाता है। जैस करँथ, जाँथ, खाँथ।

इस प्रकार 'कीर्तिलता' का वाक्य विन्यास देखने से पता चलता है कि वह अपभ्रंश के संश्लिष्ट-विश्लिष्ट (Synthetico Analytic) भाषा काल के बाद विश्लिष्टप्राय सोपान को व्यक्त करता है।

यह निश्चित हो जाने पर देखना है कि वह आ० भा० आ० के किस प्रान्तीय रूप के अधिक निकट है। ध्वनि-विचार की दृष्टि से 'कीर्तिलता' में सबसे पहले जिस प्रवृत्ति की ओर ध्यान जाता है वह है नासिक्य-विधि। डा० सक्सेना ने भी इस बात की ओर लक्ष्य किया है कि 'ब' का उच्चारण 'ञ' के निकट होता था! इसे वे नैपाली हस्त-लिपि के प्रभाव की संभावना मानते हैं तथा मैथिल-प्रभाव का निषेध करते हैं। 'अथवा यह नैपाली हस्तलिपि का प्रभाव हो, मैथिली

न हो ।'[1] हमारी समझ से यह केवल अनुलेखन विधि (orthographic) का प्रभाव नहीं बल्कि भाषा की प्रकृति से संबद्ध है। आज भी मैथिली में यह न।लिक्य विधि देखी जा सकती है।

पुरुष कहाणी पिअ कहहु सामिअ सुनओ सुहेया। (पृ० १६)

इसके अतिरिक्त श > स, न > ण उच्चारण सामान्य बात है। एक विशेषता और है और वह सर्वनाम > में एकारान्त' प्रवृत्ति की। मागधी प्राकृत की विशेषता बतलाते समय वैयाकरणों ने इस ओर संकेत किया है। मागधी में सः > से हुआ करता था। भोजपुरिया में आज भी :

चलीं समे, खाईं समे, उहे समे आदि प्रयोग होते हैं। कीर्तिलता मे 'खने एके सवे विक्कणथि, सवे किछु किनहते पावथि' (पृ० ३०) जैसे अनेक प्रयोग मिलते हैं।

पद विचार की दृष्टि से सर्वप्रथम विचारणीय है षष्ठी विभक्ति का परसर्ग—क। मैथिली में 'क' विभक्तिवत प्रयुक्त होता है अर्थात् उसका उच्चारण संज्ञा या सर्वनाम के अंग की भाँति उसी झटके से होता है जब कि भोजपुरिया तथा अन्य बोलियों में वह परसर्गवत् प्रयुक्त होता है अर्थात् उसका उच्चारण स्वतंत्र शब्द की भाँति संबद्ध संज्ञा से भिन्न होता है। पहली स्थिति में—'क' संबद्ध संज्ञा के साथ मिलाकर लिखा जाता है और दूसरी दशा में अलग। पहला उदाहरण 'वर्ण रत्नाकर' में बहुल है—

अमृतक सरोवर तरङ्गक सहोदर सन, शरतक पूर्णिमाचान्दक ज्योत्स्ना अइसन। (२१ क) पृ० ७ स्वयं विद्यापति ने 'पदावली' में इसी तरह के प्रयोग किए हैं।

नन्दक नन्दन कदम्बक तरु तले
धीरे धीरे मुरली बजाव।

परंतु 'कीर्तिलता' में पता नहीं अनुलेखन-पद्धति के कारण या

[1] कीर्ति०, भूमिका, पृ० २०

भाषागत वैभिन्न्य के कारण षष्ठी 'क' का प्रयोग संज्ञा से विच्छिन्न परसर्गवत हुआ है।

(१) मानुम क मीसि पीसि वर आँगे आँग । (पृष्ठ १०)

(२) काहु करिअउ नदी क पार। (पृष्ठ २४)

(३) भोगाइ राजा क बड़ि नाओ। ,,

परतु सर्वनाम के साथ 'क' संलग्न दिखाई पड़ता है जैसे—

(१) आनक तिलक आनकाँ लाग (पृष्ठ १०)

(२) न आपक गरहा न पुन्य क काज (पृष्ठ ६२)

ऐसा प्रतीत होता है कि यह अनुलेखन-पद्धति के ही कारण हुआ होगा अन्यथा उसी पुस्तक में अनेक प्रयोग मैथिलीवत् भी मिलते हैं।

जैसे—न दीनाक दया, न साधुक संग (पृष्ठ ६२)

कीर्तिलता के क्रियापदों में मागधी-बोली-समूह की विशेषतायें और भी स्पष्ट हुई हैं। भूत काल की क्रिया में--अल,—ल प्रत्यय बँगला, मैथिली, भोजपुरिया सभी में मिलते हैं और 'कीर्तिलता' में इस प्रकार के प्रयोग भरे पड़े हैं—

(१) बहुल छाडल पाठि पाँतरे। (पृष्ठ १०)

(२) वसने पालजेल आँतरे आँतरे। ,,

(३) काहु सम्बल देल थोल। ,,

(४) काहु पाती मेल पैठि। ,,

परंतु यहाँ भोजपुरिया से भिन्न तथा मैथिली से मिलती जुलती यह विशेषता दिखाई पड़ती है कि भोजपुरिया में 'भइल' होता है जब कि मैथिली में 'भेल'। 'कीर्तिलता' के क्रियापद का मैथिली के निकट होने का एक और प्रमाण है और वह है पुनरावृत्ति—

जैसे—किमि नीरस मने रस लए लावओ। (पृष्ठ ४)

खड़ी हिंदी में जबकि 'ले आऊँ' कहते हैं और भोजपुरिया में भी इसी तरह का प्रयोग किया जाता है, मैथिली में 'ले लाऊँ' जैसा 'द्वित्व' आज भी मिलता है।

परंतु मैथिली क्रियापद की एक और विशेषता—छ ∠ अछत ∠ अस्ति है जो 'कीर्तिलता' में बहुत कम मिलती है। जैसे :

जनि अद्य पर्यन्त विश्वकर्मा एही कार्य *छल*। (पृष्ठ ५०)
छल = था

इससे अनुमान किया जा सकता है कि संभव है, उस समय आधुनिक मैथिली—छ का प्रचलन उतना न रहा हो; परंतु उससे एक शताब्दी पूर्व की रचना 'वर्ण रत्नाकर' में—'अछ' का प्रयोग इस अनुमान का खण्डन करता है—

(१) लाओल *अछ*।

(२) गोमेदक पारी चारिहु दिश छनलि *अछ*।

(३) इन्द्रनीलक साटि पद्मरागक चक्र हिमालयक पुरुष अधिष्ठान वइसल *अछ*।

— ५३ ख; पृष्ठ ४१

'कीर्तिलता में'

भूत काल के कुछ और भी क्रियापद ऐसे मिलते हैं जो मैथिली के लिए विलक्षण हैं; जैसे—

(१) चान्दन क मूल इन्धन *विका*। (पृष्ठ ६८)

(२) गवण पवन पछु आव वेगें मानसहु *जीति जा*। (पृष्ठ ८६)

(३) तरसि रहिअ सस मूस उड्डि आकास पक्खि *जा*।

एहु पाए दरमणि अ ओहु सैञ्चान खेदि *घा*। (पृष्ठ ९६)

ये आकारान्त रूप खड़ी बोली के क्रियापदों की याद दिलाते हैं।

इसी प्रकार 'आनक तिलक आनकाँ लाग' (पृष्ठ० ३०) जैसा प्रयोग आधुनिक अवधी के निकट है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि वाक्य विन्यास तथा पदविचार की दृष्टि से 'कीतिलता' की भाषा 'मैथिली' के निकट होती हुई भी

कुछ अन्य बोलियों के प्राचीन रूपों को प्रकट करती है । अब प्रश्न यह है कि कवि के कथनानुसार क्या यह 'अवहट्ट' है ? 'अवहट्ट' भाषा का उल्लेख अकेले विद्यापति ने हा किया हो, ऐसी बात नहीं है । मिथिला के ही एक दूसरे कवि ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने विद्यापति से लगभग सौ वर्ष पूर्व 'अवहठ' का नामोल्लेख किया है ।[1] ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णन से स्पष्ट है कि 'अवहठ' से उनका तात्पर्य 'अपभ्रंश' ही था । अतएव विद्यापति के 'अवहट्ट' शब्द के विषय में भी विवाद के लिए स्थान नहीं रहा । विद्यापति ने ठीक हा लिखा है कि 'कीर्तिलता' में तत्कालीन देशी-भाषा की छौंक स सिक्त काव्य-रूढ अपभ्रंश7अवहट्ट भाषा का प्रयोग किया गया है और वह 'देसिल वयन' प्रधानतः मैथिली ही था; अन्य प्रभाव पाण्डुलिपियों की विविध-प्रान्तीय अनुलेखन पद्धति तथा रुचि के कारण आ गये हैं । 'कीर्तिलता' को एकदम आधुनिक मैथिली के निकट देखना आर मेल न देखकर अन्यथा घोषणा करना अवैज्ञानिक होगा । 'कीर्तिलता' म जिस मैथिली की छौंक है वह पुरानी है ।

'कीर्तिलता के 'शब्द समूह' का व्युत्पत्ति-विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन स्वतंत्र विषय है । यहाँ केवल कुछ शब्दों पर विचार किया जा रहा है—

सरुअ (पृष्ठ ४) < सरौ < श्रम (व्यायाम, शक्ति)
लोर (पृष्ठ २२) < नीर < नीर (अश्रु)
वकवार (पृष्ठ २६) < वकद्वार
साकम ,, < सक्रम (अस्थायी पुल)

[1] पुनु कइसन भाट. सस्कृत पराकृत अवहठ. पैशाची सौरसेनी. मागधी. छहु भाषाक तत्वज्ञ. शकारी अभिरी चाण्डाली. सावली. द्राविली. औतकलि. विजातीया । सातहु उपाभाषक कुशलह —वर्ण रत्नाकर [५५ ख]

अनिवट्ट ,, < अतिवर्त्म (अति चक्करदार)
विवट्टवट्ट ,, < विवर्तवर्त्म (तिरछे मार्ग वाले Zigzag)
साछ ,, < साक्षात्
चूह ,, < चह ! द्रुह !
जालओष ,, < गवाक्ष
धअ ,, < ध्वज
नीक ,, < नेक (फा०)
परिठव (पृ० २८) < परिष्ठव (समृद्धि)
वक्कहटी (पृ० २८) ∠वक्रहाटिका
रहट घाट ,, ∠रहता, घाट ∠रास्ता घाट
कौसीस ,, ∠कोट शीर्ष
सम्हीस ,, ∠समभिन्न (मिला हुआ)
ऊँगर (पृ० ३०) देशी (उपट कर)
हिराडए ,, ∠(अपभ्रंश √हिएड (घूमना)
अलहना (पृ० ३४) ∠अलभन शीला
लारुमी ,, ∠लानुमी∠लोनी∠लावण्य !
पतोहरी ,, ∠पत्रोदरी, पात्रवधूटी !
वन्ही ,, ∠वनिता, बनी हुई, (दुलही)
गन्दा (पृ० ३८) ∠गोइन्दा (फा०) = (जासूस)
तष्य ,, ∠तश्त (अ०) (तश्तरी)
हेरा ,, ∠हेना (सं०) (लापरवाही)
∠हडा∠हेरें !
पइउजल्ल (पृ० ४० ∠फ़ैजार (फा०) ल (जूता)
हेडा ,, ∠भेंट (फा)
नरावइ (पृ० ४२) ∠नरियाना (दे०) चिल्लाना
तम्बारू (पृ० ४४) ∠ताम्रपात्र
सुडुआ ,, ∠शुरूआ∠शोरवा (फा०)

गोमठ ,, ∠गोमड∠गोमर (कसाई)

दोखाल (पृ० ५०) / दाखोल (पृ० ५२) ∠दरखोल (देहली, दालान)

साति (पृ० ५०) ∠शाति (वैदिक सं०) (शादी)

ध्वार ,, ∠ख्वार (फा०) (दण्ड)

खोरम (पृष्ठ ५०) ∠ खुर्रम (फा०) (खुशी)

परिट्ठए (पृष्ठ ५२) ∠ परिस्तव (स्तुति)

पञ्जेडा (६८) ∠पगदंडिका

उपर्युक्त शब्दों के अतिरिक्त निम्नलिखित शब्द ऐसे हैं जिनकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है। यहाँ विद्वानों के विचारार्थ उन्हें दिया जा रहा है।

पापोस (५८), वेएडा (६०) सॉटे (६०),
संगलऊ (६०), हचड़ (६०), धाड़ (६८), चाँगरे (८६)
चॉगु (८६), अटले (८६), चाबुक (८८),
धॉगड़ (९०), चयह ज (९२,) बेढन (९२),
विभारि (९२), कंदल (९२), पाघर (१०२)
फेक्कार (१०६), जरहरि (१०८) ∠ झिरहिंगी ! (नावपर)

परिशिष्ट (छः)

अपभ्रंश पद्य-संग्रह

[दोहा]

कालिदास

मइँ जाणिअँ मिअ-लोअणी णिसिअरु कोइ हरेइ ।
जाव णु णव-तडि सामलो धाराहरु वरिसेइ ॥ १ ॥

सरहपा

जाव ण आप जणिज्जइ, ताव ण सिस्स करेइ ।
अन्धाँ अन्ध कढाव तिम, वेण्ण 'वि कूव पडेइ ॥ २ ॥
णउ तं वाअहि गुरु कहइ, णउ तं बुज्झइ सीस ।
सहजामिअ-रसु सअलं जगु, कासु कहिज्जइ कीस ॥ ३ ॥

---

१. विक्रमोर्वशीयम् ४।८ । रचनाकाल (ई० की पाँचवीं शती से पूर्व) जब तक नई बिजली से युक्त श्यामल मेघ बरसने लगा तब तक मैंने यही समझा था कि मेरी मृगलोचनी [प्रिया] को शायद कोई निशिचर हरण किए जा रहा है ।

२. दोहाकोष । रचनाकाल (१००० ईस्वी से पूर्व) पूर्वी अपभ्रंश । सिस्स < शिष्य; शिक्षा (राहुल) ।

जब तक आप न जानिए तब तक शिष्य मत कीजिए (बनाइये) अंधा अंधे को निकालने का प्रयत्न करे तो दोनों ही कूप में पड़ेंगे ।

३. वह वचन न तो गुरु कहता है और न शिष्य बूझता है [वह] सहजामृत-रस सकल जग में है; किससे कहें ? कैसे [कहें ?]

जहि मण पवण ण संचरइ, रवि ससि णाह पवेस ।
तहि बढ ! चित्त विसाम करु, सरहेँ कहिउ उएस ॥ ४ ॥
आइ ण अंत ण मज्झ णउ, ण उ भव णउ णिव्वाण ।
एहु सो परममहासुह, णउ पर णउ अप्पाण ॥ ५ ॥
विसअ-विसुद्धें णउ रमइ, केवल सुण्ण चरेइ ।
उड्डी बोहिअ-काउ जिम, पलुटिअ तह वि पडेइ ॥ ६ ॥
जत्त वि चित्तह विप्फुरइ, तत्त वि णाह सरूअ ।
अण्ण तरंग कि अण्ण जलु, भव-सम ख-सम सरूअ ॥ ७ ॥

---

४. बढ—हर्ष चरित के 'बंठ' से तुलनीय (गुलेरी) । पाठ भेद—सरहे कहिअ उवेश (बौद्ध गान ओ दोहा—ह० प्र० शास्त्री)

जहाँ मन और पवन [भी] संचार नहीं करते; रवि और शशि का भी प्रवेश नहीं है, हे मूढ़ चित्त वहीं विश्राम करो । सरह [यही] उपदेश कहते हैं ।

५. [इसका] न आदि है, न मध्य है, और न अंत है । इसका जन्म और निर्वाण भी नहीं है । यह वह परम महासुख है [जिसके लिए] न कोई पराया है और न अपना ।

६. जो विशुद्ध विषयों में नहीं रमता वह केवल शून्य में विचरण करता है । (वह विषयोपसेवा-मात्र से शून्यार्थ में संचरण करता है और कुछ नहीं साधताः अद्वयवज्र की संस्कृत टीका : बौद्ध गान ओ दोहा) जिस प्रकार काक [समुद्रमध्यगत] जहाज पर [अन्य कोई आश्रय न देखकर उड़ता हुआ] वापस आ पड़ता है [उसी प्रकार वह संसार कर्मों से संसार में ही पड़ता है]

७. जहाँ चित्त में विस्फुरण (गमन-भक्षणादि कार्य :—टीका) होता है वहाँ स्वरूप नहीं है । क्या जल अन्य है और तरंग अन्य है ? [नहीं]; उसी प्रकार भवरूप ही अन्ततः ख-सम [शून्य—परमार्थ] रूप है ।

सुण्णहिँ संग म करहि तुहु, जहिँ तहिँ सम चिन्तस्स ।
तिल-तुस-मत्त वि सल्लता, वेअणु करइ अवस्स ॥ ८ ॥
अक्खर बाढा सअल जगु, णाहि णिरक्खर कोइ ।
ताव से अक्खर घोलिआ, जाव णिरक्खर होइ ॥ ९ ॥
घरहि म थक्कु म जाहि वणे, जहि तहि मण परिआण ।
सअलु णिरन्तर बोहि-ठिअ, कहिँ भव कहिँ णिव्वाण ॥१०॥
अद्दअ-चित्त-तरूअरह, गउ तिहुँवणे वित्थार ।
करुणा फुल्ली फल धरइ, णाउ परत्त उआर ॥११॥

काएह

लोअह गव्व समुव्वहइ, हउ परमत्थे पवीण ।
कोडिअ-मज्झे एक्कु जइ, होइ णिरंजण-लीण ॥१२॥

८. तुम [निष्केवल] शून्यता का संग मत करो [जिससे उच्छेद होता है : टी०] जहाँ तहाँ [स्वभावों और वस्तुओं में] समता का चिंतन करो [अपने में ही नहीं]; [इस प्रकार अपने-पराये का विश्व संग्रह करो : टी०] जिस प्रकार तिल और तुष मात्र की शल्यता भी वेदना करती है [उसी प्रकार थोड़ी सी शून्यता भी] ।

९. सकल जग [आत] अक्षर से बाधित है। निरक्षर कोई नहीं है। इसलिए [निरक्षर में] वह अक्षर घोल कर [परिभावना के द्वारा वाग्जाल दूर कर अलीक करो] जिससे निरक्षरता प्राप्त हो ।

१०. न घर रहो न वन मे जाओ। जहाँ तहाँ [रहकर] मन की परिभावना करो। सकल [त्रिधातुओं में] निरंतर [अवच्छिन्न प्रवाह से] बोधि स्थित है। [इसके बाहर] कहाँ जन्म है और कहाँ निर्वाण ?

११. [योगियों का] जो अद्वय-चित्त का तरवर है उसका विस्तार त्रिभुवन में है ! [उसमें] करुणा का फूल फल धारण करता है। [इसके अतिरिक्त] दूसरा उपकार नहीं है ।

१२. दोहा कोष । रचनाकाल (७०० ईस्वी और—१२०० ईस्वी)

आगम-वेअ-पुराणेहीं, पण्डिअ माण वहन्ति ।
पक्क-सिरीफले अलिअ जिम, बाहेरीअ भमन्ति ॥१३॥
सहजे णिच्चल जेण किअ, समरसे णिअ-मण-राअ ।
सिद्धो सो पुण तक्खणे, णउ जरामरणह भाअ ॥१४॥
एहु सो गिरिवर कहिअ मइँ, एहु सो महसुह ठाव ।
एक्कु रअणी सहज-खण, लब्भइ महसुह जाव ॥१५॥
जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएहि, तिम घरणी लइ चित्त ।
समरस जाई तक्खणे, जइ पुणु ते सम णित्त ॥१६॥

देवसेन

जं दिज्जइ तं पाविअइ, एउ ण वयण विसुद्धु ।
गाइ पइण्णइ खडभुसइँ किं ण पयच्छइ दुद्धु ॥१७॥

के बीच)

लोग गर्व करते हैं कि हम परमार्थ में प्रवीण हैं [पर] करोड़ों के बीच कोई एक ही निरंजन-लीन होता है।

१३. आगम, वेद, पुराण को ही [सर्वस्व] मानकर पंडित जन वहन करते हैं जिस प्रकार पके हुए श्रीफल के बाहर ही भौंरे घूमते रह जाते हैं।

१४. समरस मे अपना मन अनुरक्त करके जिन्होंने सहज में निश्चल किया वह तत्क्षणात् सिद्ध है और उसे जरा-मरण का भय नहीं।

१५. मैंने कहा कि यही वह गिरिवर है और यहीं वह महासुख का ठाँव है। सहज क्षण की एक ही रजनी है जिससे महासुख प्राप्त होता है।

१६. जिस प्रकार पानी से लवण विलीन हो जाता है उसी प्रकार यदि [ज्ञान रूपिणी] गृहिणी को लेकर चित्त को समरस [भाव में] ले जाँय तो उसी क्षण से नित्य समरस में अवस्थित हो जाय।

१७. सावयधम्म दोहा। रचना काल (६३३ ई०)

काइँ बहुत्तइँ जंपिअइँ, जं अप्पणु पडिकूलु।
काइँ मि परहु ण तं करहिँ, एहु जु धम्महु मूलु ॥१८॥
सत्थसएण वियाणियहँ धम्मु ण चढइ मणे वि।
दिणयर सउ जइ उग्गमइ, घूयडु अंधउ तोवि ॥१९॥
णिद्धण मणुयह कट्ठडा, सज्जणि उण्णय दिंति।
अह उत्तमपइ जोडिया, जिय दोस वि गुण हुंति ॥२०॥
सत्तु वि महुरइँ उवसमइ, सयल वि जिय वसि हुंति।
चाइ कवित्तें पोरिसइँ, पुरिसहु होइ ण कित्ति ॥२१॥

जोइन्दु

जो जाया झाणग्गिए, कम्म-कलंक डहेवि।
णिच्च-णिरंजण-णाणमय, ते परमप्प णवेवि ॥२२॥

जो दिया जाता है वही प्राप्त होता है यह वचन क्या विशुद्ध नहीं है? गाय को खली-भूसा खिलाया जाता है तो क्या वह दूध नहीं देती?

१८. जल्पना करने से क्या? जो अपने प्रतिकूल हो उसे दूसरों के प्रति कभी न करो। यही धर्म का मूल है।

१९. सौ शास्त्रों को जान लेने पर भी विपरीत ज्ञान वाले के मन पर धर्म नहीं चढ़ता। यदि सौ सूर्य भी उग आयें तो भी घुग्घू अंधा ही रहेगा।

२०. निर्धन मनुष्य के कष्ट संयम में उन्नति देते हैं। उत्तमपद में जोड़े हुए दोष भी गुण हो जाते हैं।

२१. शत्रु भी मधुरता से शांत हो जाता है और सभी जीव वश मे हो जाते हैं। त्याग कवित्व और पौरुष से पुरुष की कीति होती है।

२२. परमात्म प्रकाश। रचनाकाल (छठीं—दसवीं ई०) पश्चिमी अपभ्रंश

जो ध्यानाग्नि से कर्म-कलंकों को दग्ध करके नित्य निरंजन ज्ञानमय हो गए हैं उन परमात्म को नमन करता हूँ।

रूवि पयंगा सद्दि मय, गय फासहि णासंति ।
अलि-उल गंधहिँ मच्छ रसि, किम अणुराउ करंति ॥२३॥
देउलु देउवि सत्थु गुरु, तित्थुवि वेउ वि कव्वु ।
वच्छु जु दीसै कुसुमियउ, इंधणु होसइ सव्वु ॥२४॥
पंचहँ णायकु वसि करहु, जे ण होंति वसि अण्ण ।
मूल विणट्ठइ तरुवरहँ, अवसइँ सुक्कहिँ पण्ण ॥२५॥
उव्वस वसिया जो करइ, वसिया करइ जो सुण्ण ।
वलि किज्जउँ तसु जो इयहिँ, जासु ण पाउ ण पुण्ण ॥२६॥
जेहइ मण विसयहँ रमइ, तिमि जइ अप्प मुणेइ ।
जोइ भणइ हो जोइयहु, लहु णिव्वाणु लहेइ ॥२७॥
जा जिण सो हउँ सोजि हउँ, एहउ भाउ णिभंतु ।
मोक्खहँ कारण जोइया, अण्णु ण ततु ण मतु ॥२८॥

२३ पतग रूप मे, मृग शब्द मे, गज स्पर्श में अलिकुल गंध में तथा मत्स्य रस म नष्ट होते हैं। [यह जानकर विवेकी जीव विषयों में] क्या अनुराग करते हैं।

२४. देवल (देवकुल), देव (जिन देव) भी, शास्त्र, गुरु, तीर्थभी वेद भी, काव्य, वृक्ष जो कुसुमित दिखाई पड़ता है सब इधन होगा।

२५. (परमात्म प्रकाश) हम० ४ ४२७

पाँच [इंद्रियों] के नायक [मन] को वश में करो जिससे अन्य भी वश होते हैं। तरुवर का मूल नष्ट कर देने पर पत्ता अवश्य सूखते हैं।

२६ जो उद्वाम (ऊजड़) म वास करता है तथा शून्य को बसाता है और जिसके न पाप है न पुण्य उस योगी की बलि जाता हूँ।

२७ (योगसार से) जिस प्रकार मन विषयों में रमता, उसी प्रकार यदि आत्मा के जानने में रमण करे तो हे योगीजनो, योगी कहते हैं कि जीव शीघ्र ही निर्वाण पा जाय।

२८. (योगसार)

संता बिसय जु परिहरइ, बलि किज्जउँ हउँ तासु ।
सो दइवेण वि मुंडियउ सीसु खडिल्लउ जासु ॥२६॥
बलि किउ माणुस जम्मडा देक्खंतहँ पर सारु ।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ, अह डज्झइ तो छारु ॥३०॥
सो सिवु संकरु विण्हु सो, सो रुद्दवि सो बुद्ध ।
सो जिणु ईसरु बंभु सो, सो अणंतु सो सिद्ध ॥३१॥

रामसिंह

अक्खरडेहिँ जि गव्विया, कारणु तेण मुणंति ।
वंस-विहत्था डोम जिम, परहत्थडा धुणंति ॥३२॥

– – –

जो जिन है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ—निर्भ्रान्त होकर इसकी भावना कर। हे योगिन्, मोक्ष का कारण कोई अन्य तत्र मंत्र नहीं है।

२६ 'परमात्म प्रकाश २।१३६; [हेम० प्रा० व्या० ४।३८६]

जो विद्यमान विषयों को छोड़ देता है उसकी मैं बलि जाता हूँ। जिसका शिर खल्वाट (गंजा) है वह तो दैव से ही मूड़ा हुआ है अर्थात् वह मुंडित (मुड़िया—संन्यस्त) नहीं कहा जा सकता।

३०. (परमात्म प्रकाश २।१४७) हेम० ४।३६५

मनुष्य जन्म की बलि जाता हूँ जो देखने मे परम सार है। परंतु यदि भूमि में गाड़ दे तो सड़ जाता और जला दें तो क्षार हो जाता है।

३१. (योगसार—१०५)वही शिव है, वही शंकर है, वही विष्णु है, वही रुद्र है वही बुद्ध है, वही जिन है, वही ईश्वर है, वही ब्रह्म (ब्रह्मा) है, वही अनंत है और वही सिद्ध है।

३२. पाहुड दोहा। रचनाकाल (१००० ईस्वी के आसपास) जो अक्षर के कारण गर्व करते हैं वे कारण नहीं जानते। जैसे बाँस बिना डोम हाथ धुनता है।

बहुयइँ पढियइँ मूढ पर, तालू सुक्कइ जेण ।
एक्कुजि अक्खरू तं पढहु, सिवपुरि गम्मइ जेण ॥३३॥
हउँ सगुणी पिउ णिग्गुणउ, णिल्लक्खणु णीसंगु ।
एकहिँ अगि वसंतयहँ, मिलिउ ण अंगहिँ अंगु ॥३४॥
मूलु छंडि जो डाल चडि, कहँ तह जोयाभासि ।
चीरणु वुणणहँ जाइ वढ, विणु उहियइँ कपासि ॥३५॥
छह दसण धंधइ पडिय, मणहँ ण फिट्टिय भंति ।
एक्कु देउ छह भेउ किउ, तेण ण मोक्खह जंति ॥३६॥

अद्दहमाण (अब्दुर्रहमान)

जसु पवसंत ण पवसिआ, मुइअ विओइ ण जासु ।
लज्जिज्जउँ संदेसडउ, दिंती पहिय पियासु ॥३७॥
लज्जवि पंथिय जइ रहउँ, हिअउ न धरणउ जाइ ।
गाह पढिज्जसु इक्क पिय, कर लेविणु मन्नाइ ॥३८॥

---

३३. मूढ तूने बहुत पढ़ा जिससे तालु सूखता है। एक ही वह अक्षर पढ़ो जिससे शिवपुर जाओ ।

३४. मैं सगुणी हूँ और प्रिय निर्गुणी नर्लिक्षण तथा निस्संग । एक ही अंक में बसते हुए भी मैं अंग अंग से नहीं मिला ।

३५. जो मूल छोड़कर डाल चढ़ता है, उसके लिए योगाभ्यास कहाँ ! हे मूढ, बिना कपास ओटे चीर बुना नहीं जाता ।

३६. षट दर्शन की धाँधली में पड़ने से मन की भ्रान्ति नहीं टूटी । एक देव का छः भेद किया । इसलिए मोक्ष नहीं मिला ।

३७ संनेस रास । रचनाकाल । १४वीं सदी ईस्वी, तुलनीय— हेम०; ८।४।४१६)

पथिक, जिस प्रवासी के साथ प्रवास नहीं किया और न जिसके वियोग में मरी ही, उसे प्रिय को संदेश देती हुई लज्जित हो रही हूँ ।

३८ 'धरणउ जाइ' और 'लेविणु मन्नाइ' संयुक्त क्रियायें ।

पिअ-विरहानल संतविअ, जइ वच्चउ सुरलोइ ।
तुअ छड्डुवि-हिअ अट्ठियह, तं परिवाडि ण होइ ॥३९॥
कंत जु तइ हिअ यट्ठियह, विरह विडंबइ काउ ।
सप्पुरिसह मरणाअहिउ, परपरिहव-संताउ ॥ ४० ॥
गरुअउ परिहवु कि न सहउ, पइ पोरिस-निलएण ।
जिहि अंगिहि तूँ विलसियउ, ते दद्धा विरहेण ॥ ४१ ॥
विरह-परिग्गह छावडइ, पहराविउ निरवक्खि ।
तुट्टी देह ण हउ हियउ, तुअ संमाणिय पिक्खि ॥ ४२ ॥

पथिक, लज्जित होकर यदि रह जाऊँ तो हृदय भी धारण किया नहीं जाता । प्रिय के सम्मुख एक गाथा पढ़ना और हाथ पकड़कर मना लेना ।

३९. वच्चइ < व्रजामि । परिवाडि < प्रतिभाति, परिवृद्धि ?

प्रिय के विरह में सतापित होती हुई मैं यदि हृदय में स्थित तुमको छोड़कर सुरलोक चली जाऊँ तो भी उचित न हो ।

४० हे कंत, हृदय में तुम्हारे रहते हुए भी कभी विरह बिडंवना करता है ! सत्पुरुषों के लिए शत्रुओं के परिभव का संताप मरण से भी अधिक होता है ।

४१ कि न सहउ = किं न सहामि; काकु से विधि परक अर्थ टीकाकारों ने किया है ।

पौरुष के निलय स्वरूप तुम्हारे रहते हुए यह कठोर परिभव कैसे (क्यों) सहूँ ! जिन अंगो के साथ तुमने विलास किया वे विरह से दग्ध हो रहे हैं ।

४२. छावडइ > छावड़ी (पंजाबी) = बड़ी टोकरी
= शरीर [टीकाकारों के विचार से]

विरह [शत्रु] के परिग्रह (सैन्य दल आदि) ने शरीर पर निरपेक्ष भाव से (अनदखे ही) प्रहार कर दिया [जिससे] देह तो टूट गई परंतु तुमसे युक्त (सम्मानित) होने के कारण हृदय घायल नहीं हुआ ।

महु णु समत्थिम विरह सउ, ता अच्छहु विलवंति ।
पालीरूअ पमाणु पर, घणु सामिहि घुम्मन्ति ॥ ४३ ॥
संदेसडउ सविरथरउ, पर मइ कहणु न जाइ ।
जो कालंगुलि मूँदडउ, सो बाहडी समाइ ॥ ४४ ॥
सुन्नारह जिम मह हियउ, पिउ-उक्कंखि करेइ ।
विरह-हुयासि दहेवि करि, आसाजलि सिंचेइ ॥ ४५ ॥
जामिणि जं वयणिज्ज तुअ, तं तिहुयणि णहु माइ ।
दुक्खिहि होइ चउग्गणी, झिज्जइ सुहसंगाइ ॥ ४६ ॥

सोमप्रभ

माणि पणट्ठइ जइ न तणु, तो देसडा चइज्ज ।
मा दुज्जन-कर-पल्लविहिँ, दंसिज्जंतु भमिज्ज ॥ ४७ ॥

४३. पाली = गोपालिका । रुअ $\sqrt{}$रुद् । घणु = गोधन, धन्या ।

विरह के साथ [संघर्ष करने में] मैं समर्थ नहीं हूँ । इसी से विलाप करती रहती हूँ । [गोग्राहों द्वारा हरी जाती हुई गायों की] गोपालिका की तरह धन्या पराये स्वामियों द्वारा घुमाई जाकर रो रही है ।

४४. कालंगुलि = कनिष्ठांगुलि ।

संदेश सविस्तर है पर मुझसे कहा नहीं जाता । जो कनगुरिया की मुद्रिका थी वह बाँह में समा जाती है ।

४५. उक्कंखि ∠ उत्कांक्षित; उत्कंठि (राहुल)

मेरे हृदय में प्रिय सोनार की भाँति उत्कांक्षा कर रहा है; विरह के हुताशन मे जलाकर आशा जल से सींचता है ।

४६. वयणिज्ज < वचनीय । माइ ∠ $\sqrt{}$मा

हे यामिनि, तुम्हारी जो वचनीयता (निंदावाक्य) है वह त्रिभुवन में [भी] नहीं अँटती । दुःख में तो [तुम] चौगुनी हो जाती है पर सुख-संग में क्षीण हो जाती हो ।

४७. कुमारपाल-प्रतिबोध । रचनाकाल (११९५ ई०) माणि पणट्ठइ = हेतुहेतुमद्भाव ।

वेस विसिट्ठइ वारिअइ, जइ वि मणोहर-गत्त ।
गंगाजल-पक्खालिअवि, सुणिहि कि होइ पवित्त ॥ ४८ ॥
रिद्धि विहूणह माणुसह न कुणइ कुवि संमाणु ।
सउणिहि मुच्चइ फल रहिउ तरुवरु इत्थु पमाणु ॥ ४९ ॥
हियडा संकुडि मिरिय जिम, इंदिय- पसरु निवारि ।
जित्तिउ पुज्जइ पंगुरणु तित्तिउ पाउ पसारि ॥ ५० ॥
निम्मल-मुत्तिअ-हारमिसि, रइय चउक्कि पहिट्ठ ।
पढमु पविट्ठहु हिय तसु, पच्छा भवणि पविट्ठु ॥ ५१ ॥
पिउ हउ थक्किय सयलु दिणु तुह विरहग्गि किलंत ।
थोडइ जल जिम मच्छलिय तल्लोविल्लि करंत ॥ ५२ ॥

मान नष्ट होने पर यदि तन नहीं तो देश [अवश्य] त्याग देना चाहिए। दुर्जन के कर-पल्लवों से दिखलाए जाते हुए मत घूमिए।

४८. वेशविशिष्टों अथवा विशिष्ट वेश्याओं को वारण कीजिए, भले ही वे मनोहर गात्र की हों। गंगाजल में प्रक्षालित कुतिया क्या पवित्र हो जाती है !

४९. ऋद्धि-विहीन मनुष्यों का कोई भी सम्मान नहीं करता। पक्षियों द्वारा मुक्त, फलरहित तरुवर इसका प्रमाण है।

५० मिरिय<मृग, =कछुआ (राहुल)। पंगुरणु = प्रावरण=पर्यंकावरण (चादर)

हृदय मृग की तरह इन्द्रियों का प्रसार निवारण कर संकोच करो। प्रावरण (चादर) जितना पूरा पड़े उतना ही पाँव फैलाओ।

५१. निर्मल मोती के हार मिस (बहाने) प्रहृष्ट चतुष्क (चौक) रचित है। पहले उसके हृदय में पैठो, पीछे भवन में प्रवेश करो।

५२. तल्लोविल्लि = तले ऊपरी तिलमिलाहट। थक्किय — थाक् (बंगला से तुलनीय) प्रिय, तुम्हारी विरहाग्नि में सारे दिन किलकती हुई मैं थक गई जैसे थोड़े पानी में मछली छटपटाती रहती है।

मइँ जाणिउ पिय विरहियह, कवि धर होइ वियालि ।
णवर मयंकु वि तिह तवइ जिह दिणयरु खयकालि ॥ ५३ ॥
मरगय वन्नह पियह उरि पिय चंपय-पह देह ।
कसवट्टइ दिन्निय सहइ नाइ सुवन्नह रेह ॥ ५४ ॥
चूडउ चुन्नी होइसइ मुद्धि कवोलि निहत्तु ।
सासानलिण झलक्कियउ वाह-सलिल-संसित्तु ॥ ५५ ॥
अम्हे थोडा रिउ बहुअ इउ कायर चिंतंति ।
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइ उज्जोउ करंति ॥ ५६ ॥

प्रबंध चिंतामणि

झोली तुट्टवि किं न मुअ, कि न हुअ छारह पुंज ।
हिण्डइ दोरी दोरियउ, जिम मंकडु तिम मुंज ॥ ५७ ॥

---

५३. वियालि = विकाल (बंगला — बेकाल) धर > आधार ।

प्रिय, मैंने समझा कि विरहिणियों को रात में कुछ सहारा होगा, पर यह चन्द्रमा वैसे ही तप रहा है जैसे प्रलयकाल में दिनकर ।

५४. तुलनीय हेम० ४।३३० । कसवट्टइ > निकषपट्टक । मरकत वर्ण वाले प्रिय के हृदय पर चंपक-प्रभा की देह वाली प्रिया [वैसी ही सुशोभित हो रही है] जैसे कसौटी पर दी हुई सुवर्ण की रेखा सुशोभित होती है ।

५५. चूडउ ∠ चूडा (हिंदी चूड़ी) चुन्नी होइसइ—अभूत तद्भाव; (गुलेरी जी) झलक्कियउ ∠ √ज्वल्—झल (ज्वाला)।

मुग्धा के कपोल पर श्वासों की आग से संतप्त और वाष्प सलिल से युक्त होकर चूड़ियाँ चुन्नी (चूर्ण-विचूर्ण) हो जायँगी ।

५६. अम्हे > म्हे (राजस्थानी) । निहालहि < निभालयति (उप०) की आज्ञा-रूप । उज्जोउ = उद्योत ।

हम थोड़े हैं और शत्रु बहुत हैं यह कायर ही सोचते हैं । हे मुग्धे ! देखो, गगन तल को कितने जन प्रकाशित करते हैं ।

५७. प्रबंध चिंतामणि । (मुंजराज प्रबंध)

चित्त विसाउ न चिंतियइ, रयणायर गुण-पुँज ।
जिम जिम वायइ विहि पडहु, तिम नाचिंजइ मुंज ॥ ५८ ॥
सायरु षाई लंक गढ़, गढवइ दससिरु राउ ।
भग्ग षई सो भंजि गउ, मुं ज म करिसि विसाउ ॥ ५६ ॥
गय गय रह गय तुरय गय, पायकडानि भिच्च ।
सग्गट्ठिय करि मंतणउँ, महता रुद्दाइच्च ॥ ६० ॥
भोलि मुन्धि मा गव्वु करि, पिक्खवि पडुरूवाइँ ।
चउदह-सइँ छहुत्तरइँ, मुंजह गयह गयाइँ ॥ ६१ ॥

यह मुंज जो इस प्रकार रस्सी में बँधा हुआ बंदर की तरह घुमाया जा रहा है वह [बचपन में ही] झोलो के टूट जाने से [गिरकर] क्यों न मर गया या आग मे जलकर राख क्यों न हो गया ।

५८. पडहु < पटह ।

हे रत्नाकर गुण पुज मुज, चित्त में इस प्रकार विषाद मत करो, क्योंकि जिस प्रकार विधाता ढोल बजाता है उसी प्रकार मनुष्य को नाचना पड़ता है

५६. करि = करसि (आज्ञार्थे) : हि-स्वयोरिदुदेत'-हेम० ८।४।३८७

हे मुंज, इस प्रकार खेद न करो; क्योंकि भाग्य क्षय होने पर वह रावण भी नष्ट हो गया जिसका गढ़ तो लंका था और जिस गढ़ की खाईं स्वय समुद्र था और गढ़ का मालिक स्वयं दस माथेवाला रावण था ।

६०. हाथी गए, रथ गए, घोड़े गए, पायक और भृत्य भी चले गए । महता (महामात्य) रूद्रादित्य भी स्वर्ग में बैठा आमंत्रण दे रहा है ।

६१. पडरूवाइँ—पडुगुपाइं (पाठ भेद) । पडुग < पडुआ, पत्तों का दोना । पाइं < पालि [गुलेरी जी]

च्यारि बइल्ला धेनु दुइ, मिट्ठा बुल्ली नारि।
काहू मुंज कुडुंबियहँ गयवर बज्झइँ वारि ॥ ६२ ॥
जा मति पच्छइ सम्पजइ, सा मति पहिली होइ।
मुंज भणइ मुणालवइ, विघन न बेढइ कोइ ॥ ६३ ॥
सउ चित्तहं सट्ठी मणहं, बत्तीसडा हियाहं।
अम्मी ते नर दड्ढसी जे वीससइं तियाहं ॥ ६४ ॥
उग्या ताविउ जहि न किउ, लक्खउ भणइ निघट्ट।
गणिया लब्भइ दीहडा, किउ दह अहवा अट्ठ ॥ ६५ ॥
कवणिहिं विरहकरालिहिं उड्डावियउ वराउ।
सहि अच्चब्भुव दिट्ठु मइं कंठि विलुल्लइ काउ ॥ ६६ ॥

हे भोली मुग्धे, इन छोटे से पाड़ों (भैंस के बच्चों) को देखकर गर्व न करो। मुंज के तो चौदह सौ और छिहत्तर हाथी थे, पर वे भी चले गए। (जिन विजय मुनि)

६२. जिसके घर चार बैल हैं दो गायें हैं, और मीठा बोलने वाली ऐसी [मैं] स्त्री हूँ, उस कुटुंबी (कणबी = किसान) को अपने घर पर हाथी बाँधने की क्या जरूरत है ?

६३. वेढइ = घेरता है [वेढा (पंजाबी) — घिरा मकान]; बेड़ा (वेढना पू० हि० में रोकने के अर्थ में)

मुंज कहता है कि हे मुणालवती ! जो बुद्धि पीछे उत्पन्न होती है, वह अगर पहले ही हो जाय तो कोई विघ्न आकर घेर नहीं सकता।

६४. सौ चित्त, साठ मन और बत्तीस हृदयों वाली स्त्रियों पर जो मनुष्य विश्वास करते हैं वे दग्ध होते हैं (अथवा, वे मुर्ख हैं)।

६५. निघट्ट—नि घट्ट (पाठ भेद) = निकृष्ट

उगे हुए सूर्य ने जो प्रताप नहीं बताया तो हे लाखा, वह दिन निकृष्ट कहा जाता है। गिनती करने से तो आठ कि दस दिन मिल सकते हैं।

६६. पति विरह से कराल बनी हुई किसी स्त्री ने उस बेचारे कौवे

एहु जम्मु नग्गहं गियउ भड सिरि खग्गु न भग्गु ।
तिक्खां तुरिय न माणिया गोरी गलि न लग्गु ॥ ६७ ॥
भोय एहु गलि कंठलउ, भण केहउ पडिहाइ ।
उरि लच्छिहि मुहि सरसतिहि सीम निबद्धी काइं ॥ ६८ ॥
माणुसडा दस दस दसा सुनियइ लोय पसिद्ध ।
मम कन्तह इक्कज दसा अवरि ते चोरिहि लिद्ध ॥ ६९ ॥
आपण पइ प्रभु होइयइ कइ प्रभु कीजइ हत्थि ।
कज्ज करेवा माणुसह तीजउ मग्गु न अत्थि ॥ ७० ॥
महिवीढह सचराचरह जिण सिरि दिण्णा पाय ।
तसु अत्थमणु दिणेसरह होउत होउ चिराय ॥ ७१ ॥

को उड़ाया तो बड़ा आश्चर्य मैंने, हे सखि, यह देखा कि वह काक उसके कंठ में लटक रहा है।

['काक' पर श्लेष। कंठ के काक द्वारा देह की क्षीणता का संकेत]

६७. नुग्गहं < नग्न = निरर्थक।

यह जन्म नागा (व्यर्थ) गया [यदि अथवा क्योंकि] भट के सिर पर खड्ग भग्न नहीं की, न तीखे घोड़े पर सवारी की और न गोरी को गले ही लगाया।

६८. केहउ < कीदृशी

भोज, कहो इसके गले में कंठा कैसा प्रतीत होता है। उर में लक्ष्मी और मुँह में सरस्वती की क्या सीमा बाँध दी गई है।

६९. मनुष्य की दस दशायें लोक में प्रसिद्ध सुनी जाती हैं। परंतु मेरे पति की एक ही दशा है और (शेष) उन चोरों ने ले ली।

७०. या तो स्वयं अपने ही प्रभु हों या प्रभु को अपने हाथ में करे। कार्य करने वाले मनुष्य के लिए तीसरा मार्ग नहीं है।

७१. सचराचर महीपीठ के सिर पर जिस सूर्य ने अपने पाद

हेमचन्द्र (प्राकृत व्याकरण)

ढोल्ला मइँ तुहुँ वारिया मा कुरु दीहा माणु ।
निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु ॥ ७२ ॥
बिट्टीए मइँ भणिय तुहुँ मा कुरु बंकी दिट्ठि ।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हियइ पइट्ठि ॥ ७३ ॥
एइ ति घोडा एह थलि एइ ति निसिआ खग्ग ।
एत्थु मणीसिम जाणिअइ जो नवि वालइ वग्ग ॥ ७४ ॥
अगलिअ नेह-निवट्टाहं जोअण लक्खु वि जाउ ।
वरिस-सएण वि जो मिलइ सहि सोक्खहं सो ठाउ ॥ ७५ ॥

(किरण) डाले उस दिनेश्वर का भी अस्त हो जाता है। होनहार होकर ही रहती है।

७२. संग्रह काल (१०८८-११७२ ई०) ढोल्ला ∠ दुर्लभः; दुल्हा (हिं), ढोल्ला (राज०) । निद्दए (तृ०, सप्त०)

ढोल्ला, मैंने तुम्हें मना किया कि दीर्घ (काल तक) मान मत करो। (क्योंकि) रात नींद में ही चली जाएगी और शीघ्र ही विभात हो जायगा।

७३. 'बिट्टीए' में 'ए' संबोधन । 'पविट्ठ' > पइट्ठि < पैठ (हिं) बिटिया, मैंने तुमसे कहा था कि वक्र दृष्टि न कर। हे पुत्रि, वह अनी सहित भल्ली (बर्छी) की तरह हृदय में प्रविष्ट करके मारती है।

७४. मुणीसिम — [सं० में इम प्रत्यय कम लगती है, प्राकृत में अनियमित] वालइ — √वल् का प्रेरणार्थक रूप ।

ये ही वे घोड़े हैं, यही वह स्थली है, ये ही वे पैने (निशित) खंग हैं। यहीं पर पौरुष जाना जायेगा जो यदि वल्गा (लगाम) को नहीं मोड़ता।

७५. निवट्टाहं=निवृत्तानां। जाउ (पूर्वकालिक)=जायताम् (वैद्य)
सोक्खहं = सौख्यानां

जे मह्नु दिण्णा दिअहडा दइएँ पवसन्तेण ।
ताण गणन्तिए अंगुलिउ जज्जरि आउ नहेण ॥ ७६ ॥
सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं ।
सामि सुभिच्चुवि परिहरइ संमाणेइ खलाइं ॥ ७७ ॥
गुणहिं न संपइ कित्ति पर फल लिहिआ भुंजंति ।
केसरि न लहइ बोड्डिअवि गय लक्खेहिं घेप्पन्ति ॥ ७८ ॥
वच्छहे गृण्हइ फलइँ जणु कडु-पल्लव वज्जेइ ।
तो वि महद्दुमु सुअण जिवँ ते उच्छंगि धरेइ ॥ ७९ ॥

हे सखि, अगलित स्नेह वालों का जो स्नेह है वह लाखों योजन जाने और सौ वर्ष में मिलने पर भी सौख्य का स्थान है।

७६. दइएं ∠ दयितेन। मह्नु < मज्झु—मोहि (हिं)।

प्रवास पर जाते हुए प्रिय ने मुझे जो दिन दिए थे, उन्हें नख से गिनते हुए मेरी अंगुलियाँ जर्जरित हो गईं।

७७. घल्लइ (देसी)—घालना (हि)

सागर तृणों को ऊपर रखता है और रत्नों को तल में। स्वामी सुभृत्य को तो छोड़ देता है और खलों का सम्मान करता है।

'गुणेहिं गुणहि' तथा 'लक्खेहिं' 'लक्खहि' दोनों रूप।

७८. बोड्डिअ < कपर्दिका—कौड़ी (हि)। घेप्पन्ति—∠√घ्या (मराठी) < ∠√गृह् (सं०)

गुणों से संपत्ति नहीं कीर्ति [मिलती है]। (लोग) लिखित फल ही भोगते हैं। सिंह एक कौड़ी भी नहीं पाता; गज लाखों में खरीदे जाते हैं।

७९. धरेइं—धरइं में विकरण भेद। धारें (हि)

जन वृक्ष से फलों को ग्रहण करता है और कटु पल्लव छोड़ देता है। तो भी महाद्रुम सज्जन की तरह उन्हें उत्संग (अंक) में धारण करता है।

दूरुड्डाणें पडिउ खलु अप्पणु जणु मारेइ ।
जिह गिरि-सिगहुँ पडिअ सिल अन्नु वि चूरु करेइ ।। ८० ।।
जो गुण गोवइ अप्पणा पयडा करइ परस्सु ।
तसु हउँ कलि-जुगि दुल्लहहो बलि किज्जउं सुअणस्सु ।। ८१ ।।
तणहँ तइज्जी भंगि नवि तें अवड-यडि वसंति ।
अह जणु लग्गिवि उत्तरइ अह सह सइं मज्जंति ।। ८२ ।।
दइवु घडावइ वणि तरुहुं सउणिहं पक्क फलाइं ।
सो वरि सुक्खु पइट्ठ णवि कण्णहिं खल-वयणाइं ।। ८३ ।।
धवलु विसूरइ सामिअहो गरुआ भर पिक्खेवि ।
हउँ कि न जुत्तउं दुहुं दिसिहि खण्डइं दोण्णि करेवि ।। ८४ ।।

---

८० मारेइ, करेइ, (हि) : मारे, करे । (विकरण विशिष्ट)

दूर स्थान से पतित [हुआ] खल अपने ही जन को मारता है, जिस प्रकार गिरिशृंगों से गिरी हुई शिला अन्य [शिलाओं] को भी चूर कर देती है ।

८१. गोवइ-तु० सत्संगति महिमा नहिं 'गोई' । < गोपयति (सं०)

जो अपना गुण छिपाता है और दूसरे का प्रकट करता है कलियुग में दुर्लभ उस सज्जन की मैं बलि जाता हूँ ।

८२. तइज्जी > तीजी (हि) । अपभ्रंश मे 'दूसरा' 'तीसरा' रूप नहीं;

[जो] अवट तट (गड्ढे) में रहते हैं उन तृणों की तीसरी गति नहीं है । या तो जन उनसे लगकर [पार] उतरते हैं या वे उनके साथ ही डूब जाते हैं ।

८३. वरि < उपरि, वरं (वैश) —तु० हिंदी में, वरु । (तुलसी) 'वरन्' रूप संस्कृताभास और अशुद्ध ।

दैव वन में पक्षियों के लिए वृक्षों के जो पके फल गढ़ता है वह उत्तम सुख है, पर कानों में खल के वचनों का प्रवेश नहीं ।

८४. धवल [बैल] स्वामी का गुरु भार देखकर विसूर रहा

गिरिहे सिलायलु तरुहे फलु घेप्पइ नीसावँन्नु ।
घरु मेल्लेप्पिणु माणुसहं तो वि न रुच्चइ रन्नु ॥ ८५ ॥
तरुहुं वि वक्कलु फल मुणि वि परिहणु असणु लहंति ।
सामिहुँ एत्तिउ अग्गलउं आयरु भिच्चु गृहंति ॥ ८६ ॥
अग्गिएँ उण्हउ होइ जगु वाएँ सीअलु तेवँ ।
जो पुणु अग्गिं सीअला तसु उण्हत्तणु केवँ ॥ ८७ ॥
विप्पिअ-आरउ जइ वि पिउ तो वि तं आणहि अज्जु ।
अग्गिण दड्ढा जइवि घरु तो तें अग्गिं कज्जु ॥ ८८ ॥
जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहँ णिरु सामलि सिक्खेइ ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय-सर खर-पत्थरि तिक्खेइ ॥ ८९ ॥

है कि मैं ही दो खण्ड करके दोनों ओर क्यों नहीं जोत दिया जाता।

८५. पर्वतों से शिलातल और वृक्षों से फल [सब लोग] निः सामान्य [भाव से] ले सकते हैं। तो भी मनुष्यों को घर छोड़कर अरण्य नहीं रुचता।

८६. तरुओं से वल्कल का परिधान और फल का अशन (भोजन) तो मुनि भी पाते हैं। स्वामियों से इतना ही अधिक है कि भृत्य उनसे आदर भी ग्रहण करते हैं।

८७. जग आग से उष्ण तथा वायु से शीतल होता है किंतु जो आग से शीतल होता है उसकी उष्णता कैसी!

८८. यद्यपि प्रिय अप्रियकारक है, तो भी उसे आज लाओ। यद्यपि आग से घर दग्ध हो जाता है तो भी उस आग से काम है।

८९. वंकिम (संज्ञा भाववाचक); गुलेरी जी ने इसे 'लोअणहँ' का विशेष माना है पर ठीक नहीं।

णिरु = नितरां (वैद्य), लूर ? = (टंग) पू० हिं में 'लूर सऊर' मुहावरा।
वह श्यामा (युवती) ज्यों ज्यों [अधिकाधिक] लोचनों की कुटि-

संगर-सएहिँ जु वरिणअइ देक्खु अम्हारा कंतु ।
अइमत्तहं चत्तंकुसहं गय कुम्भइं दारन्तु ॥ ६० ॥
भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कंतु ।
लज्जेज्जंतु वयंसिअहु जइ भग्गा घर एंतु ॥ ६१ ॥
वायसु उड्डावंतिअए पिउ दिट्ठउ सहस त्ति ।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तड त्ति ॥ ६२ ॥
कमलइँ मेल्लवि अलि-उलइं करि-गण्डाइं महंति ।
असुलहमेच्छण जाहँ भलि ते ण-वि दूर गणंति ॥ ६३ ॥

लता सीखती है त्यों त्यों मन्मथ अपने शरों को खरे पत्थर पर तीखा करता है ।

६०. 'गय कुम्भइ' मे षष्ठी तत्पुरुष समास का संदेह निराधार है क्योंकि अइमत्तहं', 'चत्तंकुसहं' की तरह यह 'गय कुम्भहं' नहीं है ।

'गयहँ कुम्भइ'' में षष्ठी-लोप ध्यान देने योग्य ।

देखो, हमारा कांत सौ सौ युद्धों में अतिमत्त त्यक्तांकुश-गजों के गंडस्थलों को विदीर्ण करने वाला वर्णित किया जाता है ।

६१. 'भल्ला', 'हुआ', 'मारिआ', 'महारा' में खड़ी बोली का आकारान्त रूप ध्यान देने योग्य ।

'लज्जेज्जतु' को स्व० पं० केशव प्रसाद मिश्र'लज्जेज्जं तु' मानकर लज्जेज्ज < लज्जेयं अर्थ करते थे ।

हे बहिन, भला हुआ कि मेरे कांत [युद्ध में] मारे गए । यदि वे भागकर घर आते तो मैं वयस्याओं के सामने लजाती ।

६२. वायस उड़ाती हुई [प्रिया] ने सहसा प्रिय को देखा । [उसका] आधा वलय धरती पर गिर गया और आधा तड़तड़ाकर फूट गया ।

प्रसन्नता के अतिरेक से शारीरिक प्रफुल्लता वर्णित ।

६३. महन्ति = कांक्षंति (वैद्य)

भग्गउं देक्खिवि निअय-बलु बलु पसरिअउं परस्सु ।
उम्मिलइ ससि-रेह जिवँ करि करवालु पियस्स ॥ ६४ ॥
जइ तहे तुट्टउ नेहडा मइँ सहुँ न वि तिल-तार ।
तं किहे वंकेहिं लोअणेहि जोइज्जउं सय-वार ॥ ६५ ॥
जहि कप्पिज्जइ सरिण सरु छिज्जइ खग्गिण खग्गु ।
तहि तेहइ भड-घड-निवहि कंतु पयासइ मग्गु ॥ ६६ ॥
हियडा फुट्टि तडत्ति करि कालक्खेवें काइं ।
देक्खउँ हय-विहि कहि ठवइ पइं विणु दुक्ख-सयाइं ॥ ६७ ॥

अलि-कुल कमलों को छोड़कर हाथियों के गण्ड स्थल चाहते हैं। जिनको असुलभ की इच्छा भली है वे दूरी को नहीं गिनते।

६४. अपनी सेना को भग्न और शत्रु की सेना को प्रसारित देखकर प्रिय के हाथ में करवाल शशिलेखा की तरह चमक उठती है।

६५.'तिल-तार नेहडा' (वैद्य)।

तिल-तार (है) तहे (गुलेरी जी)

(तुलनीय) तारा-मयित्री चत्तूराग (भवभूति—उत्तर चरित)

(क) यदि मुझसे उसका तिल-तार स्नेह टूट गया और अब शेष नहीं रहा तो मैं उससे वक्रनेत्रों द्वारा सैकड़ों बार क्यों देखी जा रही हूँ ?

(ख) यदि उस तिल-तार का (तिल के समान नेत्र-तारा वाली का) स्नेह मुझसे टूट गया••• •••

६६. कप्पिज्जइ—कापना = काटना (राज०)

जहाँ शरों से शर तथा खड्गों से खड्ग काटे जाते हैं [वहाँ] उस भट-घटा-समूह में मेरे कंत मार्ग प्रकाशित करते हैं।

६७. हृदय, तड़क कर फूट जा। कालक्षेप करने से क्या ? देखें, हत विधि तेरे बिना इन सैकड़ों दुखों को कहाँ रखता है ?

कन्तु महारउ हलि सहिए निच्छइं रूसइ जासु।
अत्थिहिं सत्थिहिँ हत्थिहि वि ठाउ वि फेडइ तासु॥ ९८॥
जीविउ कासु न वल्लहउं धणु पुणु कासु न इट्ठु।
दोण्णि वि अवसर-निवडिअइं तिण-सम गणइं विसिट्ठु॥९९॥
एह कुमारी एहो नरु एहु मणोरह-ठाणु।
एहउँ वढ चिन्तन्ताहं पच्छइ होइ विहाणु॥ १००॥
जइ पुच्छइ घर वड्डाइं तो वड्डा घर ओइ।
विहलिय-जण-अब्भुद्धरणु कंतु कुडीरइ जोइ॥ १०१॥
आयइँ लोअहो लोअणइँ जाई सरइं न भंति।
अप्पिए दिट्ठइ मउलिअहि पिए दिट्ठइ विहसंति॥ १०२॥

---

९८ फेडइ ∠ स्फोटयति—फेटइ (हि)

हे सखी! मेरे कंत जिससे रूठ जाते हैं उसके ठाव तक को अस्त्रों, शास्त्रों और हाथों से [सभी तरह] तोड़ फोड़ डालते हैं।

९९. निवडिआइ < निपतिते (भावलक्षण सप्तमी)

जीवन किसे प्यारा नहीं? धन किसे इष्ट नहीं? [किन्तु] अवसर आ जाने पर विशिष्ट पुरुष दोनों को तृण समान गिनता है।

१००. 'यह कुमारी है, यह नर है और यह मनोरथों का स्थान है' इसी प्रकार सोचते सोचते अंत मे मूर्खों का विहान हो जाता है।

१०१. ओइ > वह (हि)। विहलिय ∠ विह्वलित। जोइ > जोह (हिं)

यदि बड़े घर पूछते हो तो बड़े घर वे हैं; किंतु विह्वलित जनों के उद्धार करने वाले कंत का कुटीर यह है, देखो।

१०२. 'विहसंति' से अधिक अच्छा पाठ 'विअसंति' = विकसंति हो सकता है। जाइसर ∠ जातिस्मर।

[इसमे] भ्रान्ति नहीं है कि लोगो के लोचनों को [पूर्व] जन्मों की स्मृति होती है क्योंकि वे अप्रिय को देखकर मुकुलित होते हैं और प्रिय को देखकर विकसित।

साहु वि लोउ तडप्फडइ बड्डत्तणहो तणेण।
बड्डप्पणु परि पाविअइ हत्थिं मोक्कलडेण॥ १०३॥
सुपुरिस कंगुहे अणुहरहिं भण कज्जें कवणेण।
जिवँ जिवँ बड्डत्तणु लहहि तिवँ तिवँ नवहि सिरेण॥ १०४॥
जइ ससणेही तो मुइअ अह जीवइ निन्नेह।
बिहिं वि पयारेहिं गइअ धण किं गज्जहि खल मेह॥ १०५॥
भमर म रुणझुणि रण्णडइ सा दिसि जोइ म रोइ।
सा मालइ देसंतरि अ जसु तुहुँ मरइ वि ओइ॥ १०६॥
पइँ मइँ बेहि वि रणगयहिं को जयसिरि तक्केइ।
केसहिं लेप्पिणु जम-घरिणि भण सुहु को थक्केइ॥ १०७॥

१०३. मोक्कलडेन (पं०, रा०) बड्डत्तण=तु० 'केहि न सुसंग बड़प्पनु पावा'—मानस : शंभुनारायण चौबे

सभी लोग बड़प्पन के लिए तड़फड़ाते हैं पर बड़प्पन मुक्तहस्त देने से ही प्राप्त किया जा सकता है।

१०४. 'नवहि सिरेण' में तृती०, संस्कृत प्रभाव। हिंदी में 'शिरसे' झुकना नहीं होता। कंगु=धानविशेष।

कहो, किस प्रयोजन से सुपुरुष कंगु का अनुसरण करते हैं? ज्यों-ज्यों वे बप्पड़न पाते हैं त्यों त्यों शिर झुकाते जाते हैं।

१०५. यदि वह स्नेहवती है तो मर गई, अथवा यदि जीवित है तो स्नेहविहीन है [वह] धन्या दोनों ही प्रकार से गई। खल मेघ, अब क्यों गरजते हो।

१०६. रण्णडइ=अरण्यके।

भ्रमर, अरण्य में रुनझुन मत कर। उस ओर देखकर मत रो। जिसके वियोग में तू मर रहा है वह मालती देशांतरित हो गई।

१०७. 'रण गयहिं' (भावलक्षण सप्तमी)=रण में जाने पर। तक्केइ-ताकना (पूर्वी हिंदी) = देखना।

पइँ मेल्लन्तिहो महु मरणु मइँ मेल्लन्तहो तुज्झु ।
सारस जसु जो वेग्गला सो वि कृदन्तहो सज्झु ॥ १०८ ॥
तुम्हेहिँ अम्हेहिँ जं कियउं दिट्ठउँ बहुअ-जणेण ।
तं तेवड्डउ समर-भरु निज्जिउ एक्क खणेण ॥ १०९ ॥
तउ गुण-संपइ तुज्झ मदि तुध अणुत्तर खंति ।
जइ उप्पत्तिं अन्न जण महि-मंडलि सिक्खन्ति ॥ ११० ॥
अम्बणु लाइवि जे गया पहिअ पराया के वि ।
अवस न सुअहि सुहच्छिअहि जिवँ अम्हइँ तिवँ ते वि ॥ १११ ॥
महु कंतहो बे दोसडा हेल्लि म झंखहि आलु ।
देन्तहो हउं पर अव्वरिअ जुज्झंतहो करवालु ॥ ११२ ॥

हम-तुम दोनों के रण में जाने पर जयश्री का तर्क कौन कर सकता है ? कहो, यम-गृहिणी के केश खींचकर कौन सुख से रह सकता है ?

१०८. वेग्गला = बेगाना ? मेल्लन्तहो —राज० = बींगना (पु० हिं०)

तुम्हें छोड़ने पर मेरा और मुझे छोड़ने पर तुम्हारा मरण [निश्चित] है । सारस के समान जो दूर रहेगा वह कृतांत (यम) का साध्य होगा ।

१०९. निज्जिउ < निर्जित

हमने तुमने जो किया उसे बहुत जनों ने देखा ।
वह उतना बड़ा समर एक ही क्षण में जीत लिया ।

११०. अणुत्तर = अनुत्तर (लाजवाब) । खंति < क्षान्तिम् ।

काश, इस महिमंडल के अन्य जन भी तुम्हारी गुण-संपत्ति तुम्हारी मति, तुम्हारी अद्वितीय क्षमा सीख लेते !

१११. अम्बणु = अम्लता (स्नेह : वैद्य), अपनापन (गुलेरी)

अपनापन लगाकर जो पथिक पराये की तरह कहीं चले गए [वे भी] अवश्य ही सुख से नहीं सोते होंगे; जैसे हम तैसे वे ।

११२. झंखहि आलु = पिबेहि अलीकम् (वैद्य), झींखना

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण ।
अह भग्गा अम्हहं तणा तो तें मारिअडेण ॥ ११३ ॥
बप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास ।
तुह जलि मह पुणु वल्लहइ बिहुँ वि न पूरिअ आस ॥ ११४ ॥
बप्पीहा कइँ बोल्लिएण निग्घिण वार इ वार ।
सायरि भरिअइ विमल-जलि लहहि न एक्कइ धार ॥ ११५ ॥
आयहिं जम्महि अन्नहि वि गोरि सु दिज्जहि कंतु ।
गय मत्तहँ चत्तंकुसहं जो अब्भिडइ हसंतु ॥ ११६ ॥
बलि-अब्भत्थणि महु-महणु लहुईहूआ सोइ ।
जइ इच्छहु वड्डत्तणउं देहु म मग्गहु कोइ ॥ ११७ ॥

अंडबंड (हि०), (गुलेरी) उव्वरिअ < उर्वरित — उबरी (हिं)

हे सखी, छिपाओ मत । मेरे कंत के दो दोष हैं । [एक तो] दान करते हुए [केवल] मैं बचती हूँ और [दूसरे] युद्ध करते समय [केवल] करवाल ।

११३. यदि पराई सेना भग्न हुई तो, हे सखी, मेरे प्रिय के द्वारा; और यदि हमारी भग्न हुई तो उसके (प्रिय के) मारे जाने पर ही ।

११४. हे पपीहा, पिउ-पिउ करते हुए हताश होकर [चाहे] कितना ही रोओ ! [परंतु] तुम्हारी जल की और मेरी वल्लभ की दोनों ही की आशा पूरी नहीं होगी ।

११५. निर्दय पपीहे, बार बार बोलने से क्या [लाभ] ? विमल जल से सागर भर गया, [फिर भी] एक भी धार नहीं मिलती !

११६. अब्भिडहि = सगच्छते (वैद्य), आ भिड़े (गुलेरी)

हे गौरी ! इस जन्म में तथा अन्य [जन्म] में भी ऐसा कंत दो जो त्यक्तांकुश मत्त गजों से हँसते हँसते आ भिड़े ।

११७. लहुईहूआ < लघुकीभूतः (अभूततद्भाव का 'ई')

विहि विणडउ पीडंतु गह मं धणि करहि विसाउ।
संपइ कड्ढउं वेस जिवँ छुड्डु अग्घइ ववसाउ॥ ११८॥

खग्ग-विसाहिउ जहिं लहहुं पिय तहिं देसहिं जाहुं।
रण-दुब्भिक्खें भग्गाइं विणु जुज्झें न वलाहुं॥ ११६॥

कुंजर सुमरि म सल्लइउ सरला सास म मेल्लि।
कवल जि पाविय विहि-वसिण ते चरि माणु म मेल्लि॥ १२०॥

भमरा एत्थु वि लम्बडइ के वि दियहडा विलम्बु।
घण-पत्तलु छाया-बहुलु फुल्लइ जाम कयम्बु॥ १२१॥

बलि की अभ्यर्थना करने पर वह मधुसूदन भी छोटे हो गए। यदि बड़प्पन चाहते हो तो दो, किसीसे माँगो मत।

११८. विणडउ < विनाटयतु। अग्घइ = अर्घति

विधि विनट जाय, ग्रह पीडा दें परंतु हे धन, विषाद मत करो। यदि व्यवसाय बढ जाय तो वैश्य की तरह शीघ्र ही संपत्ति काढूँगा।

११६. विसाहिउ = बेसहनो (बेचना)?, व्यवसाय; वलाहुँ < वलामहे (वैद्य) = न रति प्राप्नुमः (दोधक वृत्ति)

प्रिय, उसी देश में चलें जहाँ खड्ग का व्यवसाय मिले। [यहाँ] रण-दुभिक्ष से हम भग्न है। युद्ध बिना हम प्रसन्न नहीं हो सकते!

१२०. कुंजर, सल्लकी का स्मरण मत करो। सरल (गहरी या ठंडी) साँस मत छोड़ो। विधिवशात् जो कवल पाओ उसे चरो। [पर] मान मत छोड़ो।

१२१. पत्तलु = पत्रवान्, पत्तल (हिं)

हे भ्रमर, जब तक घने पत्तों वाला और छाया-बहुल कदम्ब नहीं फूलता, कुछ दिन यहीं इस नीम में बिलम्ब करो।

प्रिय एम्वहिँ करे सेल्लु करि छड्डुहि तुहुँ करवालु ।
जं कावालिय बप्पुडा लेहिं अभग्गु कवालु ॥ १२२ ॥
दिअहा जंति झडप्पडहिं पडहिँ मनोरह पच्छि ।
जं अच्छइ तं माणिअइ होसइ करतु म अच्छि ॥ १२३ ॥
इत्तउँ ब्रोप्पिणु सउणि ठिउ पुणु दूसासणु ब्रोप्पि ।
तो हउँ जाणउँ एहो हरि जइ महु अग्गइ ब्रोप्पि ॥ १२४ ॥
जिवँ तिवँ तिक्खा लेवि कर जइ ससि छोल्लिज्जन्तु ।
तो जइ गोरिहे मुह-कमलि सरिसिम का वि लहंतु ॥ १२५ ॥
अब्भडवंचिउ बे पयइं पेम्मु निअत्तइ जावँ ।
सव्वासण-रिउ-संभवहो कर परिअत्ता तावँ ॥ १२६ ॥

१२२. प्रिय, अब हाथ में सेल ले लो; तुम करवाल छोड़ दो, जिससे बापुरे (बेचारे) कापालिकों को अभग्न कपाल मिल सकें।

१२३. अच्छइ > आछे (बं०) । करतु म अच्छि (संयुक्त क्रिया) दिन झटपट चले जाते हैं । मनोरथ पीछे पड़ जाते हैं । जो है, उसी को मान । 'होगा' यह करता हुआ मत बैठ ।

१२४. ब्रोप्पिणु — [संभवतः व्राचड़ अपभ्रंश का उदाहरण]
यह कहकर शकुनि ठहरा । पुनः दुःशासन बोला—"तो मैं जानूँ कि यह हरि है, यदि [वह] मेरे आगे बोलें।"

१२५. जइ < जगति (दीपक वृत्ति) । 'छोल्लिज्जंत' कर्मवाच्य की क्रियातिपत्ति ।

यदि जिस किसी तरह तीखी किरणें लाकर शशि को छोला जाय तो वह जग में गोरी के मुख कमल की कुछ समानता पा सकता है ।

१२६. सव्वासण रिउ-संभव = अग्नि शत्रु अर्थात् समुद्र उसका पुत्र — शशि । अब्भड-वंचिउ = अनुगम्य (वैद्य) अब्भड—अनु या सम का देशी रूप; वंचिउ = $\sqrt{}$व्रज् । > अभ्रट (गुलेरी)

हिअइ खुडुक्कइ गोरडी गयणि धुडुक्कइ मेहु ।
वासा-रत्ति-पवासु अहं विसमा संकडु एहु ॥ १२७ ॥
पुत्ते जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण ।
जा बप्पी की भुंहडी चम्पिजइ अवरेण ॥ १२८ ॥
तं तेत्तिउ जल सायरहो सो तेवडु वित्थारु ।
तिसहे निवारणु पलु वि न वि पर धुट्ठुअइ असारु ॥ १२९ ॥
जं दिट्ठउँ सोम-ग्गहणु असइहिँ हसिउँ निसंकु ।
पिअ-माणुस-विच्छोहगरु गिलि गिलि राहु मयङ्कु ॥ १३० ॥

[अभिसारिका] जब तक दो डग चलकर प्रेम निबाहती है तब तक चन्द्रमा की किरणें फैल गई ।

पवासु ∠ प्रवासिन् परंतु यहाँ 'इन्' प्रत्यय के स्थान पर उण्' (गुलेरी)। ∠ प्रवासुक ? जैसे अभिलाषुक ।

१२७. हृदय में गोरी खटकती है और आकाश में मेघ घुड़क रहे हैं । वर्षा की रात में प्रवासियों के लिए यह विषय संकट है ।

१२८. पुत्ते जाएं-भावलक्षण सप्तमी । 'बप्पी की' में 'की' खड़ी हिं० उस पुत्र की उत्पत्ति से क्या लाभ और मृत्यु से क्या हानि जिसके बाप की भूमि दूसरे से आक्रान्त हो (चाँप ली जाय) ।

१२९. तेत्तिउ 7 तेतो (पु० हिं)। तेवउ 7 तेवडो (गुज०) तिस (राज०) सागर का उतना जल है, उतना [अधिक] विस्तार है। पर [इससे किसी की] प्यास पल भर के लिए भी नहीं बुझती। यह व्यर्थ ही इतना गरजता है ।

१३०. 'विच्छोहगरु' में क 7 ग प्रवृत्ति नेपाली में विशेष करना 7 गरना । (हिं)—प्रकट 7 प्रगट । जब असती स्त्रियों ने चन्द्र ग्रहण देखा तो वे निःशंक होकर हँसने लगीं —"हे राहु, प्रिय मनुष्यों के हृदय में विक्षोभ करने वाले चन्द्रमा को निगल जा ।"

अम्मीए सत्थावत्थेहि सुधिँ चितिजइ माणु।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चे अइ अप्पाणु ॥ १३१ ॥
सबधु करेप्पिणु कधिदु मइँ तसु पर सभलउँ जम्मु।
जासु न चाउ न चारहडि नय पम्हट्ठउ धम्मु ॥ १३२ ॥
जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिया कुड्डु करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वंगें पइसीसु ॥ १३३ ॥
उअ कणिआरु पफुल्लिअउ कंचण-कंति-पयासु।
गोरी-वयण-विणिज्जिअउ नं सेवइ वण-वासु ॥ १३४ ॥
व्रासु महारिसि एउ भणइ जइ सुइ-सत्थु पमाणु।
मायहँ चलण नवंताहं दिवि दिवि गंगा-ण्हाणु ॥ १३५ ॥

---

१३१. शौरसेनी का उदाहरण। सुधिं = सुखेन। पिए दिट्ठे (भावलक्षण)।

ओ अम्मा, स्वस्थावस्था में [ही] सुख से मान हड़बड़ी से अपनी सुधि कौन रख सकता है। कधिदु ∠ कथित।

१३२. शौरसेनी प्राकृत। चाउ ∠ त्याग। चारहडि ∠ च आरभटी। पम्हट्ठउ ∠ प्रमृष्ट। य ∠ च। पर ∠ परं (केवलं)

शपथ करके मैंने कहा कि उसीका जन्म अत्यंत सफल है जिसका त्याग, वीरता, नय और धर्म नष्ट नहीं हुआ।

१३३. कुड्डु ∠ कौतुक।

यदि प्रिय को किसी प्रकार पा जाऊँ तो अकृत क्रीड़ा करूँ। नये शराव (सकोरे) में पानी की तरह उसके सर्वांग में प्रवेश कर जाऊँगी।

१३४. नं ∠ न (इव-वेद) ∠ ननु (वैद्य) 7 लौं (हिं०)।

देखो, कर्णिकार प्रफुल्लित है; [उसकी] कंचन कान्ति प्रकाशित है। मानो गोरी के मुख से पराजित होकर वनवास का सेवन कर रहा है।

१३५. 'व्रासु' मे 'र' का आगम तथा 'चलण' में 'र' का 'ल' द्रष्टव्य;

केम समप्पउ दुट्ठु दिणु किध रयणी छुडु होइ ।
नव-वहु-दंसण लालसउ वहइ मणोरह सोइ ॥ १३६ ॥
ओ गोरी-मुह-निज्जिअउ वद्दलि लुक्कु मियंकु ।
अन्नु वि जो परिहविय-तणु सो किवँ भवइ निसंकु ॥ १३७ ॥
बिम्बाहरि तणु रयण-वणु किह ठिउ सिरि आणन्द ।
निरुवम रसु पिए पिअवि जणु सेसहो दिण्णी मुद्द॥ १३८ ॥
भण सहि निहुअउँ तेवँ मइँ जइ पिउ दिट्ठु सदोसु ।
जेवँ न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअं तासु ॥ १३९ ॥
मइँ भणिअउ बलिराय तुहुँ केहउ मग्गण एहु ।
जेहु तेहु न वि होइ वढ सइँ नारायणु एह ॥ १४० ॥

म॰षि व्यास यह कहते हैं कि यदि श्रुति और शास्त्र प्रमाण हैं तो माता के चरणों में नमन करने वालों का प्रति दिन गंगा-स्नान है ।

१३६. किध—कथ । छुडु ∠ झट (घ झ परस्पर-विनिमेय)

दुष्ट दिन किस प्रकार समाप्त करूँ और रात किस प्रकार जल्दी हो (आये) ? इस प्रकार नवबधू के दर्शन की लालसा से वह [विविध] मनोरथ वहन करता है ।

१३७. 'ओ' सूचनायाम् (वैद्य) । परिहविय ∠ परिभूत

अरे, [उस] गोरी के मुख से पराजित चन्द्रमा जब बादलों में छिप गया तो जो पराभूत-तनु है वह निःशंक कैसे घूम सकता है !

१३८. हे आनन्द, तन्वी के बिम्बाधर पर स्थित रदन-व्रण कैसा है ? मानो प्रिय ने निरुपम रस पीकर शेष पर मुद्रा लगा दी है ।

१३९. पक्खावडिअ = पक्षापतितं । निहुअउ ∠ निभृतकं ।

हे सखि, यदि प्रिय मेरे विषय में सदोष हों तो मुझसे एकांत में कहो जिससे वह यह न जाने कि मेरा मन उनसे प्रेम करता है ।

१४० मग्गण < मार्गणः √मृग् । मंगन (हिं०) यादृश्, तादृश, कीदृश्, ईदृश् जेह, तेहु, केहु एहु ।

जइ सो घडदि प्रयावदी केत्थु वि लेप्पिणु सिक्खु ।
जेत्थु वि तेत्थु वि एत्थु जगि भण तो तहि सारिक्खु ॥ १४१ ॥

जाम न निवडइ कुम्भ-यडि सीह-चवेड चडक्क ।
ताम समत्तहँ मयगलहँ पइ पइ वज्जइ ढक्क ॥ १४२ ॥

तिलहँ तिलत्तणु ताउँ पर जाउँ न नेह गलंति ।
नेहि पणट्ठइ ते जि तिल तिल फिट्टवि खल होंति ॥ १४३ ॥

जामहिँ विसमी कज्ज-गइ जीवहँ मज्झे एइ ।
तामहिँ अच्छउ इयरु जणु सुअणु वि अंतरु देइ ॥ १४४ ॥

शुक्राचार्य : - "हे बलि राज, मैंने तो तुमसे कहा था कि वह मंगन किस प्रकार का है । मूढ, यह ऐसा वैसा आदमी नहीं [बल्कि] यह स्वयं नारायण हैं ।

१४१. सारिक्खु—सरीखा (देशी) । घडादि < घटयति ।

यदि वह प्रजापति कहीं से शिक्षा लेकर [व्यक्तियों] का निर्माण करता है तो इस जग में जहाँ कहीं से उसकी समानता बताओ ।

१४२. समत्तहँ = समस्त ? ढक्क=ढालक > 'डाक' जब तक कुंभ-तटी पर सिंह की चपेट की मार नहीं पड़ता तब तक समस्त मदगजों के पद पद पर ढक्का बजता है ।

१४३. तेज्जि < ते एव ।

तिलों का तिलपन तभी तक है जब तक स्नेह (तेल और प्रेम) नहीं गलता । नेह नष्ट होने पर वे ही तिल ध्वस्त होकर खल (दुष्ट और खली) हो जाते हैं ।

१४४. जब जीवों में विषम कार्यगति आती है तो इतर जनों की तो बात ही क्या, स्वजन भी अंतर देते हैं (बचते हैं) ।

ते मुग्गडा हराविआ जे परिविट्ठा ताहं ।
अवरोप्परु जोअन्ताहं सामिउ गंजिउ जाहं ॥ १४५ ॥
वम्भ ते विरला के वि नर जे सव्वंग-छइल्ल ।
जे वंका ते वंचयर जे उज्जुअ ते बइल्ल ॥१४६॥
प्राइव मुणिहँ वि भंतडी ते मणिअडा गणंति ।
अखइ निरामइ परम-पइ अज्ज वि लउ न लहंति ॥१४७॥
एसी पिउ रूसेसु हउँ रुट्ठी मइँ अणुणेइ ।
पग्गिम्व एइ मणोरहइं दुक्करु दइउ करेइ ॥१४८॥
महु कंतहो गुट्ठ-ट्ठिअहो कउ झुम्पडा वलंति ।
अह रिउ-रुहिरें उल्हवइ अह अप्पणें न भंति ॥१४९॥

---

१४५. मुग्गडा > मूँग (हि०) । गंजिउ = पीड़ित, (म०) गांजणे ।
परस्पर लड़ने वाले जिन [योद्धाओं] का स्वामी पराजित हो गया तो उनके लिए परोसे गए मूँग व्यर्थ हैं ।

१४६. छइल्ल < छविल; छैल (हिं०) उज्जुअ < ऋजुक उजषक से तुलनीय । वंचयर ∠ वंचकतर ।

ब्रह्मन् , वे मनुष्य विरल हैं जो सर्वांग दक्ष होते हैं । जो कुटिल हैं वे वंचक हैं, जो ऋजु हैं वे बैल हैं ।

१४७. मणिअडा < मणिक + डा । लउ ∠ लयं ।

प्राय : मुनियों को भी भ्रान्ति है । वे मनका गिनते रहते हैं और अक्षय तथा निरामय परम पद में आज भी लौ नहीं लगाते ।

१४८. एसी < एष्यति; आसी (राज०) रूसेसु < रोषिष्यामि । पूर्वी हि में रूसना ।

'प्रिय आयेगा, मैं रूठूँगी, मुझ रूठी हुई को वह मनाएगा' प्रायः इन मनोरथों को दुष्कर दैव कराता है ।

१४९. वलन्ति < ज्वलंति । उल्हवइ = आर्द्रयति (वैद्य), विध्यापयति (दो० सू०)

पिय संगमि कउ निद्दडी पिअहो परोक्खहो केम्व ।
मइँ बिन्नि वि विन्नासिआ निद्द न एम्व न तेम्व ॥१५०॥
कन्तु जु सीहहो उवमिअइ तं महु खण्डिउ माणु ।
सीहु निरक्खय गय हणइ पिउ पय-रक्ख-समाणु ॥१५१॥
चचलु जीविउ ध्रुवु मरणु पिअ रूसिज्जइ काइं ।
होसहिं दिअहा रूसणा दिव्वइं वरिस सयाइं ॥१५२॥
लोणु विलिज्जइ पाणिएण अरि खल मेद म गज्जु ।
वालिउ गलइ सु झुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्जु ॥१५३॥

मेरे प्रियतम के गोष्ठ में रहते हुए भी झोपड़े कैसे जल रहे हैं ? या तो वह शत्रु के रक्त से या फिर अपने [रक्त से] उन्हें बुझाएगा इसमें भ्रान्ति नहीं।

१५०. मइ विन्निवि विन्नासिया ∠ मया द्वे अपि विनाशिते (दो०वृ०)

प्रिय के साथ नींद कहाँ और प्रिय के परोक्ष में भी [नींद] कहाँ ! मैं तो दोनों प्रकार विनष्ट हुई । न यों नींद न त्यों ।

१५१. समाणु ∠ समम् (सह) । पयरक्ख ∠ पदरक्षैः ।
उवमियइ = उपमीयते ।

कंत की जो सिंह से उपमा दी जाती है उससे मेरा मान खंडित होता है । [क्योंकि] सिंह अरक्षित गज मारता है और प्रिय पद-रक्षकों समेत [गज को]।

१५२. रुसणा = रोषयुक्ताः, 'दिअहा' का विशेषण ।

जीवन चंचल है । मरण ध्रुव है । हे प्रिय, [फिर] क्यों रूठा जाय ? रूठने के दिन शतशत दिव्य वर्षों के हो जाये गे ।

१५३. वालिउ = वालिश ! (मूर्ख) ? ज्वलित ? तिम्मइ-तीतना (भीजना)

जल से लवण विलीन हो जाता है । अरे दुष्ट मेघ, गरज मत । वालिश, [मेरा] सुंदर झोपड़ा गल रहा होगा और गोरी आज भीज रही होगी ।

विहवि पणट्ठइ वंकुडउ रिद्धिहिँ जण-सामन्नु ।
कि पि मणाउं महु पिअहो ससि अणुहरइ न अन्नु ॥१५४॥
जाइज्जइ तहिं देसडइ लब्भइ पियहो पमाणु ।
जइ आवइ तो आणिअइ अहवा तं जि निवाणु ॥१५५॥
जउ पवसन्तें सहुँ न गय न मुअ विओएँ तस्सु ।
लज्जिज्जइ संदेसडा दिन्तेहिं सुहय-जणस्सु ॥१५६॥
जाउ म जन्तउ पल्लवह देक्खउँ कइ पय देइ ।
हिअइ तिरिच्छी हउँ जि पर पिउ डम्बरइँ करेइ ॥१५७॥
हरि नच्चाविउ पंगणइ विम्हइ पाडिउ लोउ ।
एम्वहिं राह-पओहरहं जं भावइ तं होउ ॥१५८॥

---

१५४. विहपि पणट्ठइ-(भावलक्षण)। वंकुडउ>बाँकुडो. बाकुरो

[मेरा प्रिय] वैभव नष्ट होने पर बाँका और ऋद्धि के समय जन साधारण [की भाँति] रहता है। [इस प्रकार] केवल शशि ही मेरे प्रिय की अनुहार कुछ हो सकता है अन्य नहीं।

१५५. 'जाइज्जइ' आदि 'विधि' के रूप भविष्यत् के भी होते हैं। उस देश जाया जाय और प्रिय का पता लगाया जाय। यदि वह आये तो उसे लाया जाय अथवा वहीं निर्वाण हो।

१५६. तुलनीय संदेस रास, छं० सं० ३७

यदि प्रवसते हुए [प्रिय] के साथ नहीं गई और न उसके वियोग से मरी ही, तो उस सुभगजन को संदेश देते हुए लज्जा आती है।

१५७. पल्लवह < पल्लवत (वैद्य)। = पल्ले को (गुलेरी)। जिन = एव। कइ < कति।

जाओ। जाने वाले को नहीं रोकती। देखूँ कितने डग देते हो ? [उनके] हृदय में मैं तिरछी अड़ी हूँ फिर भी प्रिय [जाने का] का आडम्बर कर रहे हैं।

१५८ एम्वहिं = इदानीम्।

साव ,सलोणी गोरडी नवखी क वि विस-गंठि ।
भडु पच्चलिओ सो मरइ जासु न लग्गइ कंठि ॥१५९॥
मइँ वुत्तउं तुहुँ धुरु धरहि कसरेहि विगुत्ताइं ।
पइँ विणु धवल न चडइ भरु एम्वइ वुन्नउ काइं ॥१६०॥
एक्कु कइअह वि न आवही अन्नु वहिल्लउ जाहि ।
मइँ मित्तडा प्रमाणिअउ पइँ जेहउ खलु नाहि ॥१६१॥
जिवँ सुपुरिस तिवँ घंघलइं जिवँ नइ तिवँ वलणाइं ।
जिवँ डोंगर तिवँ कोट्टरइं हिआ विसूरहि काइं ॥१६२॥

हरि प्रांगण में नचाये गए। लोग विस्मय में पड़ गए। इस समय राधा के पयोधरों को जो रुचे वह हो (जो रुचता है वही होता है)।

१५९. पच्चलिउ = प्रत्युत (हेम० ८।४।४२०)। नवखी < नवकी ?

वह सर्वाङ्ग सलोनी गोरी कोई नोखी विष की गांठ है। प्रत्युत वही भट मरता है जिसके कंठ से वह नहीं लगती।

१६०. वुत्तउं = उक्तं (बुत्ता देना—मुहा०)। कसर = कयर (गरियार)

विगुत्ताइं = विनाटिताः (वैद्य)।

धवल, मैं कहता हूँ कि तू धुर धारण कर। [हम] कसर बैलों से परेशान हैं। तुम्हारे बिना [यह] भार नहीं नहीं चढ़ेगा। इस समय तुम विषण्ण क्यों हो ?

१६१. कइअह — कहिया (पू० हि०)। एक्कु⋯अन्नु का अव्यय वत प्रयोग। वहिल्ल = शीघ्र। (देशी)

एक तो तुम कभी आते नहीं, दूसरे [आते भी हो तो] तुरंत चले जाते हो। हे मित्र, मैंने प्रमाणित किया कि तुम्हारे जैसा खल [कोई] नहीं।

१६२. घंघल = झगड़ा। झकट (हेम०)

जैसे सत्पुरुष वैसे झगड़े, जैसी नदी वैसे घुमाव, जैसे पहाड़ वैसे कोटर। [फिर] हे हृदय तू क्यों विसूरता है।

जे छड्डेविणु रयणनिहि अप्पउँ तडि घल्लंति ।
तहं संखहं विट्टाल पर फुक्किज्जन्त भमंति ॥१६३॥
दिवेहिं विढत्तउँ खाहि वढ संचि म एक्कु वि द्रम्मु ।
को वि द्रवक्कउ सो पडइ जेण समप्पइ जम्मु ॥१६४॥
विहवे कस्सु थिरत्तणउं जोव्वणि कस्सु मरट्टु ।
सो लेखडउ पठाविअइ जो लग्गइ निच्चट्टु ॥१६५॥
कहिँ ससहरु कहिँ मयरहरु कहिँ बरिहिणु कहिँ मेहु ।
दूर ठिआहँ वि सज्जणह होइ असड्ढलु नेहु ॥१६६॥
कुंजरु अन्नहँ तरु-अरहं कुड्डेण घल्लइ हत्थु ।
मणु पुणु एक्कहिँ सल्लइहि जइ पुच्छह परमत्थु ॥१६७॥

---

१६३ विट्टाल = बिगड़ैल ? अस्पृश्य संसर्ग (हेम०)

जो रत्ननिधि को छोड़कर अपने को तट पर फेंकते हैं उन बिगड़ैल शंखों को हम फूँकते हुए घूमते हैं। (उन का संसग भी अस्पृश्य है)

१६४. द्रवक्क = भय (हेम०)

मूढ, प्रतिदिन का कमाया हुआ खा; एक भी दाम न संचित कर। कोई भी विपत्ति ऐसी आ पड़ेगी जिससे जन्म ही समाप्त हो जायेगा।

१६५. निच्चट्ट = निचाट, (गाढ)। मरट्ठ — (मराठी मुराठी-भोजपुरी) पठाविअइ = (पठाना—भोजपुरी) = भेजना

वैभव में किसकी स्थिरता है और यौवन म किसका मराठापन (अहंकार)। वही लेख (पत्र) भेजा जाना चाहिए जो निचाट [भाव से] लगे।

१६६. सड्ढल = साधारण।

कहाँ शशधर और कहाँ मकरधर (समुद्र)! कहाँ बर्हा (मोर) और कहाँ मेघ! दूर-स्थित भी सज्जनों का असाधारण स्नेह होता है।

१६७. कुड्ड < कौतुक (हेम०)

सरिहि न सरेहि न सरवरेहिं न वि उज्जाण-वर्णेहि ।
देस रवण्णा होंति वढ निवसन्तेहिं सुअर्णेहिं ॥१६८॥
हियडा पइं एहु बोल्लिअओ महु अग्गइ सय वार ।
फुट्टिसु पिए पवसंति हउँ भण्डय ढक्करि-सार ॥ १७६ ॥
चलेहिँ चलन्तेहिँ लोअणेहिँ जे तइँ दिट्ठा बालि ।
तहिं मयरद्धय-दडवडउ पडइ अपूरइ कालि ॥ १७० ॥
गयउ सु केसरि पिअहु जलु निच्चिन्तइ हरिणाइं ।
जसु केरए हुंकारडएं मुहहुँ पडन्ति तृणाइं ॥ १७१ ॥
सत्थावत्थहँ आलवणु साहु वि लोउ करेइ ।
आदन्नहँ मब्भीसडी जो सज्जणु सो देइ ॥ १७२ ॥

कुंजर अन्य तरुवरों पर कौतुक से ही सूँड फेरता (घालता) है। यदि सच पूछिए तो [उसका] मन एक सल्लकी में [ही] है।

१६८. रवण्ण = रम्य ।

मूढ़, सरित सर सरोवर और उद्यान-वनों से नहीं [बल्कि], सज्जनों के निवास से ही देश सुरम्य होता है।

१६६ ढक्करि = अद्भुत ।

हृदय, तूने मेरे आगे सैकड़ों बार यह कहा था कि प्रिय के प्रवास करते समय मैं फट जाऊँगा [परंतु तू] भण्ड और अद्भुत-सार है !

१७०. अपूरइ कालि < अपूर्णे काले; यौवन से पूर्व (वैद्य) हे बाले, तेरे चंचल और चलते हुए लोचनों से जो देख लिए गये उनके ऊपर अकाल में ही कामदेव ने शीघ्र आक्रमण कर दिया।

१७१. जिसकी हुँकार से [तुम्हारे] मुंह से तृण गिर पड़ते हैं वह केसरी गया। हे हरिण ! [अब] निश्चित होकर जल पियो।

१७२. आलवण < आलपन ।

स्वस्थ अवस्था वालों के साथ तो सभी लोग वार्तालाप कर लेते हैं। [किंतु] आर्तजनों को 'मा भैषीः' वही देता है जो सज्जन है।

जइ रच्चसि जाइट्ठिअए हिअडा मुद्ध-सहाव।
लोहें फुट्टणएण जिवँ घणा सहेसइ ताव ॥ १७३ ॥
महँ जाणिउँ बुड्डीसु हउँ पेम्म-द्रहि हुहुरु त्ति।
नवरि अचिन्तिय संपडिय विप्पिय नाव झड त्ति ॥ १७४ ॥
खज्जइ नउ कसरक्केहिं पिज्जइ नउ घुंटेहिं।
एम्वइ होइ सुहच्छडी पिएँ दिट्ठे नयणेहिं ॥ १७५ ॥
अज्ज वि नाहु महु ज्जि घरि सिद्धत्था वन्देइ।
ताउँ जि विरहु गवक्खेहि मक्कड-घुग्घिउ देइ ॥ १७६ ॥
सिरि जर-खंडी लोअडी गलि मणियडा न वीस।
तो वि गोट्ठडा कराविआ मुद्धए उट्ठ-बईस ॥ १७७ ॥

---

१७३. घणा = घना, घन (लोहा पीटने वाला यंत्र)। जाइट्ठिअए = यद् यद् दृष्टं।

हे मुग्ध स्वभाव वाले हृदय, यदि तुम जो जो देखते हो उसी में रमते हो तो कूटे जाते हुए लोहे की तरह घना ताप सहोगे।

१७४. हुहुरु—नाद व्यंजक शब्द।

मैंने जाना कि प्रेम हृद में हहर कर डूब जाऊँगी किंतु अचानक विप्रिय की नाव झट से आ पड़ी।

१७५. कसरेक्कहिं—नाद व्यंजक शब्द।

न तो कसर कसर कर खाया जाता है और न घूँट घूँट से पिया जाता है। प्रिय के नयनों से देखे जाने पर यही सुखद स्थिति होती है।

१७६. आज भी मेरे नाथ घर पर सिद्धार्थों की वंदना कर रहे हैं, फिर भी विरह गवाक्षों से बंदर घुड़की दे रहा है।

१७७. लोअड़ी = लुगरी (पू० हिं०) < लामपुटी (वैद्य)

सिर पर जीर्ण तथा खंडित लुगरी और गले में [काँच की] बीस मनका भी नहीं है। तो भी [वह] मुग्धा गोष्ठ में [युवकों से] उठा-बैठक करा रही है।

अम्मडि पच्छायावडा पिउ कलहिअउ विआलि ।
घइं विवरीरी बुद्धडी होइ विणासहो कालि ॥ १७८ ॥
ढोल्ला एह परिहासडी अइ भण कवणहिं देसि ।
हउँ झिज्जउँ तउ केहिं पिअ तुहुँ पुणु अन्नहि रेसि ॥ १७९ ॥
सुमिरिज्जइ तं वल्लहउँ जं वीसरइ मणाउँ ।
जहिं पुणु सुमरणु जाउं गउ तहो नेहहो कइँ नाउ ॥ १८० ॥
एक्कसि सील-कलंकिअहं देज्जहिं पच्छित्ताइं ।
जो पुणु खण्डइ अणुदिअहु तसु पच्छित्तें काइं ॥ १८१ ॥
सामि-पसाउ सलज्जु पिउ सीमा संधिहि वासु ।
पेक्खिवि बाहु-बलुल्लडा धण मेल्लइ नीसासु ॥१८२॥

---

१७८. घइं—पादपूरणार्थ निरर्थक शब्द (हेम०) = नूनं (वैद्य)

अम्मा, मुझे पछतावा है कि रात में प्रिय से कलह किया। विनाश काल में बुद्धि विपरीत हो जाती है।

१७९. तउ केहिं, रेसि (चतुर्थी)

प्रिय, कहो तो ऐसा परिहास किस देश में होता है ? मैं तो तुम्हारे लिए छीज रही हूँ और तुम अन्य के लिए।

१८०. उस वल्लभ का स्मरण किया जाता है जो थोड़ी [देर के लिए] विस्मृत होता है। परन्तु जिसका स्मरण करना ही चला जाय उसके स्नेह का क्या नाम हो ? [अर्थात् जिसका स्मरण सनत रहे]

१८१. एक बार शील कलंकित करने वाले को प्रायश्चित्त दिए जाते हैं परन्तु जो प्रति दिन [शील को] खंडित करे उसके लिए प्रायश्चित्त क्या ?

१८२. बाहुबलुल्लडा = बाहु + बल + उल्लल – (दर्प)—गुलेरी।

स्वामी का प्रसाद, प्रिय की लज्जाशीलता, सीमान्त का वास, और [पति का] बाहु-बल देखकर (सोचकर) धन्या निःश्वास लेती है। ('निःश्वास छोड़ना' प्रयोग ठीक नहीं = मेल्लइ—छोड़ना)

पहिआ दिट्ठी गोरडी दिट्ठी मग्गु निअंत ।
अंसूसासेहिं कंचुआ तितुव्वाण करंत ॥१८३॥
पिउ आइउ सुअ वत्तडी झुणि कन्नडइ पइट्ठ ।
तहो विरहहो नासंतअहो धूलडिआवि न दिट्ठ ॥१८४॥
एत्तहे तेत्तहे वारि घरि लच्छि विसंठुल धाइ ।
पिअ पब्भट्ठव गोरडी निच्चल कहिं वि न ठाइ ॥१८५॥
देसुच्चाडणु सिहि-कढणु घण कुट्टणु जं लोइ ।
मंजिट्ठए अइरत्तिए सव्वु सहेव्वउँ होइ ॥१८६॥
हिअडा इज वेरिअ घणा तो किं अब्भि चडाहुं ।
अम्हाहिं बे हत्थडा जइ पुणु मारि मराहु ॥१८७॥

---

१८३. 'तितुवाण' से तुलनीय 'तिम्मइ'—ः गोरी तिम्मइ अज्जु ।

"पांथक, [तुमने] गोरी देखी !" "हाँ, देखी—मार्ग को देखती हुई और आँसुओं तथा साँसों से कंचुकी को गीली सूखी करती हुई (गोरी) ।"

१८४ प्रिय आये । वार्ता सुनी । ध्वनि कान में पैठी । उस नष्ट होते विरह की धूल भी [अब] नहीं दिखती ।

१८५. बारि घरि = घर द्वार

यहाँ-वहाँ, घर-द्वार मे लक्ष्मी विसंस्थुल होकर दौड़ती है । प्रिय-भ्रष्ट (वियुक्त) गोरी कहीं भी निश्चल नहीं बैठती ।

१८६. सिहि < शिखि (वैद्य) । कढण < क्वथनं (वैद्य) अइरत्तिए = अतिरक्तया (वैद्य)

लोक में जो देशोच्चाटन, आग में कढना, घन से कुटना है वह सब अति-अनुरक्त मँजीठ को सहना पड़ता है ।

१८७. घणा < घनाः (मेघ—वैद्य)

हृदय, यदि वैरी बहुत हैं तो क्या हम अभ्र में चढ़ जायँ । हमें भी दो हाथ हैं, मार कर तो मरेंगे ।

रक्खइ सा विस-हारिणी बे कर चुम्बिवि जीउ ।
पडिबिम्बिअ-मुंजालु जलु जेहिं अडोहिउ पीउ ।।१८८।।
बाह विछोडवि जाहि तुहुँ हउ तेवँइ को दोसु ।
हिअय-ट्ठिउजइ नीसरहि जाणउँ मुंज सरोसु ।।१८९।।
जेप्पि असेसु कसाय बलु देप्पिणु अभय जयस्सु ।
लेवि महव्वय सिवु लहहिं झाएविणु तत्तस्सु ।।१९०।।
देवं दुक्करु निअय-धणु करण न तउ पडिहाइ ।
एम्वइ सुहु भुंजणहँ मणु पर भुंजणहिँ न जाइ ।।१९१।।

---

१८८. विस = मृणाल (गुलेरी)। अडोहिउ (देशी) = अवगाहितं (वैद्य) पीउ = पीतं (वैद्य),

वह पनिहारी [अपने] उन दोनों हाथों को चूम कर जीवन-रक्षा करती है जिनके द्वारा प्रतिबिम्बित मुँजवाला जल [उसने] प्रिय को पिलाया था।

१८९. हउँ = भवतु (वैद्य)।

हे मुँज, बाँह छुड़ाकर जा सकते हो। [खैर,] ऐसा ही हो। इसमें क्या दोष! हृदय में स्थित यदि निकल जाओ तो [तुम्हें] सरोष जानूँ।

१९०. सिव = मोक्षपद।

अशेष कषाय बल (मनोविकारों की सेना) को जीतकर, संसार को अभय दान देकर, महाव्रत लेकर और तत्त्व का ध्यान कर शिव प्राप्त करते हैं।

१९१. 'भुँजणहं न जाइ' संयुक्त क्रिया।

अपना धन देना दुष्कर है; तप करना भी नहीं भाता; इस प्रकार सुख भोगने का मन है पर भोगा नहीं जाता।

जेप्पि चएप्पिणु सयल धर लेविणु तवु पालेवि ।
विणु सन्तें तित्थेसरेण को सक्कइ भुवणे वि १९२॥
गम्पिणु वाणारसिहिं नर अह उज्जेणिहिं गम्पि ।
मुआ परावहिं परम-पउ दिव्वतरइँ म जम्पि ॥ १९३ ॥
रवि-अत्थमणि समाउलेण कंठि विइण्णु न छिण्णु ।
चक्कें खण्डु मुणालिअहे नउ जीवग्गलु दिण्णु ॥ १९४ ॥
वलयावलि निवडण-भएण धण उद्धब्भुअ जाइ ।
वल्लह विरह-महादहहो थाह गवेसइ नाइ ॥ १९५ ॥

---

१९२ तीर्थंकर शान्ति [नाथ] के बिना इस संसार में सकल धरा को जीतने, त्यागने, व्रत लेने तथा पालन करने में कौन समर्थ है ?

१९३. परावहि = प्राप्नुवन्ति । वाणारसी ∠ वाराणसी (विपर्यय)

नर वाराणसी जाकर अथवा उज्जयिनी जाकर मरने पर परमपद पाते हैं,दिव्यान्तर की तो बात ही क्या ? (अथवा अन्य तीर्थों की बात मत करो ।

२०१. तिदसावास < त्रिदशावास; त्रिदश = देव ।

जो गंगा जाकर अथवा शिवतीर्थ (काशी) जाकर मरते हैं वे यमलोक जीतकर देवलोक में क्रीडा करते हैं ।

१९४. वियुण्णु ∠ वितीर्ण; जीवग्गलु < जीवार्गल । नउ ∠ न (वेद)

रवि के अस्त होने पर समाकुल चकवाक ने मृणाल के खण्ड को छिन्न नहीं किया [बल्कि] कंठ में वितीर्ण कर दिया, मानो [उसने] जीवार्गल दिया ।

१९५. नाइ ∠ न (वेद — इवार्थे), नाइँ (हि०)

वलयावलि के गिरने के भय से धन्या उर्ध्वभुज जा रही है, मानो बल्लभ के वियोग के महाह्रद में थाह ले रही है (गवेषणा कर रही है)।

पेक्खेविणु मुहु जिण-वरहो दीहर-नयण सलोणु ।
नावइ गुरु-मच्छर-भरिउ जलणि पवीसइ लोणु ।। १९६ ।।
अब्भा लग्गा डुंगरिहिं पहिउ रडन्तउ जाइ ।
जो एहा गिरि-गिलण-मणु सो कि धणहे धणाइ ।। १९७ ।।
पाइ विलग्गी अन्त्रडी सिरु ल्हसिउं खन्धस्सु ।
तो वि कटारइ हत्थडउ बलि किज्जउं कन्तसु ।। १९८ ।।
सिरि चडिआ खंति फलइं पुणु डालइं मोडंति ।
तो वि महद्दुम सउणाहं अवराहिउ न करंति ।।१९९ ।
अंगहि अंगु न मिलिउ हलि अहरें अहरु न पत्तु ।
पिअ जोअन्तिहे मुहकमलु एम्वइ सुरउ समत्तु ।। २०० ।।

---

१९६. जिनवर का दीर्घ नेत्र वाला सलोना मुँह देखकर मानो गुरु-मत्सर से भरकर लवण आग में प्रवेश कर रहा है।

१९७. रडन्तउ = आरटन् (वैद्य) । धणाइ = घृणायते (वैद्य)

पहाड़ों से अभ्र (बादल) को लगा हुआ देखकर पथिक यह रटता हुआ जाता है कि जो गिरि को भी लील लेने का मन रखते हैं वे धन्या पर क्या दया करेंगे ?

१९८. कटारइ = कटारिकायां । ल्हसिउं = स्रस्तं (वैद्य)

आँतें पावों से लगी हैं, शिर कंधे पर झुक गया है, तो भी हाथ कटार पर है [ऐसे] कंत की मैं बलि जाती हूँ।

१९९. मोडन्ति < मोटयंति । डालइं (देशी) ।

पक्षी सिर पर चढ़कर फल खाते हैं, और फिर डालों को मोड़ते भी हैं। तो भी महावृक्ष उनको अपराधी नहीं मानते ।

२००. न अंगों से अङ्ग मिले और न अधर से अधर । प्रिय का मुख कमल देखती हुई उस [नायिका] का सुरत यों ही समाप्त हो गया ।

प्रबंध काव्य

(भविसयत्त-कहा से)

ग्रंथारम्भ

बुहयण संभालमि तुम्ह तेत्थु
हउं मंदबुद्धि णिग्गुणु णिरत्थु ।
मोहंधयारि वामोहमूढु
दुग्घर वावारे कयारि छूढु ।
कि करमि खीणविट्ठवप्पहाए
नउ लहमि सोह सज्जणमहाए ।
अह णिद्धणु जणु सोहइ ण कोइ
धणुसंचय विणु पुण्णहिं ण होइ ।
विणु ताएं जइ जणि अप्पमाणु
कहमुवमि तोवि पुरिसाहिमाणु ।
वरि करमि किंपि णियमइवियासु
कम्मक्खयाइं सुविसुद्धलेसु ।
जसु जित्तिउ बुद्धिवियासु होइ
सो तित्तिउ पयडइ मच्चलोइ ।
पिक्खवि अइगावउ गुलु गुलंतु
कि इयरहत्थि मा मउ करतु ।
महकव्वकइहु साहंतणिय फिर कवण कह ।
कि उइइ मयंकि जोयंगणाउं म करउ पह ॥१॥

---

१ पठमांसंधा कयारि = कार्य । छुढु = क्षिप्त । कहमुवमि = कह (कथ)+मुवमि (√ मुच्) । ताइंतणिय = ताइं + तण (दुहरी षष्ठा) मउ ।

इहु सज्जणलोयहो विण्णउ सिट्ठु
जो सुहि मज्झत्थु विसिट्ठु इट्ठु।
जो पुणु खलु खुड्डु अइट्ठुसगु
सो कि अब्भत्थिउ देइ अगु।
परच्छिद्दसएहि वावारु जासु
गुणवंतु कहिमि किं कोवि तासु।
अवसइ गवेसइ वरकईहि
दोसइ अब्भासइं महसईहि।
एक्कोवि रयणभजणसमत्थु
एक्कोवि करइ वत्थुवि अवत्थु।
अणुदिणु वासइ दुव्वासवासु
अप्पणउ ण कोइवि कहिमि तासु।

———— ————

बुधजन, मैं तुम्हें स्मरण करता हूँ, यद्यपि मैं मंदबुद्धि गुणहीन, धनहीन, मोहांधकार में व्यामोह-मूढ हूँ, मै दुर्ग्रह तथा व्यापार कार्य में [बलात्] क्षिप्त हूँ। वैभव प्रभात के क्षीण होने से क्या करूँ। सज्जनो की सहायता से शोभा भी नहीं पाता। निर्धन जन किसी को नहीं सोहता और धन-संपति बिना-पुण्य के होती नहीं। यद्यपि इसके बिना लोगों में अपमान पाता हूँ तथापि मैं अपना पौरुष और अभिमान कैसे छोड़ दूँ ? बल्कि अपनी मति का कुछ विकास करता हूँ।...

जिसके पास जितनी बुद्धि होती है वह मर्त्यलोक में उतना ही प्रकट करता है। ऐरावत को गुलगुलाते (चिंघाड़ते) हुए देखकर क्या इतर हाथियों को भी वैसा नहीं करना चाहिए ?

महाकाव्य के कवियों के सामने उनकी (छोटे कवियों की) कथा क्या है ? किन्तु क्या मृगांक के उगने पर ज्योतिर्गणों (तारों) को प्रभा नहीं करनी चाहिए ?

णउ सक्कइ देक्खिवि परहो रिद्धि
णउ सहइ सउरिसह गुणपसिद्धि ।
जगडंतु भमइ सज्जणहं विंदु
विवरीउ णिरंकुसु जिह गइंदु ।
दुव्वयणवियड्ढु एक्कुवि दुम्मइं सुअणसय ।
जो भक्खइ मसु तासु कहिमि कि होइ दय ॥ २ ॥
अच्छउ खलयणु कि तेण ताम
आयण्णहु कह सवणाहिराम
जिणवाणी जा गणहरिण दिट्ठ
पुच्छंतहो चिनु सेणियहो सिठ्ठ ।

२. कहिमि = कस्मिन्नपि (कुत्रापि) ।
सउरिसहं ∠ सप्पुरिसहं ∠ सत्पुरुषाणाम् ।
विंदु = समूह । अब्भासइ ∠ अभ्यासयति

जो सुधियों के बीच विशिष्ट तथा इष्ट हैं उन शिष्ट सज्जन लोगों की यहाँ विनय करता हूँ ।

फिर जो अदृष्ट संग वाला खल है वह अभ्यर्थित अंग क्यों दे ? जिसका व्यापार दूसरों में सैकड़ों छिद्र निकालना है उसके प्रति क्या कोई गुणवंत है ? वह कविवरों में भी अपशब्दों की गवेषणा करता है और महासतियों में भी दोषों का अभ्यास करता है । एक भी रत्न के भंजन में समर्थ होता है तो वस्तु को अवस्तु कर देता है । वह प्रतिदिन बुरे स्थान में रहता है और उसको कोई कहीं अपना नहीं कहता । वह पराई ऋद्धि नहीं देख सकता और सत्पुरुषों की गुण-प्रसिद्धि सहन नहीं कर सकता । वह सज्जनों के समूह से झगड़ता हुआ घूमता रहता है जैसे विपरीत और निरंकुश गजेन्द्र । दुर्वचन से विदग्ध एक ही आदमी शत सज्जनों को दुःख दे सकता है । क्योंकि जो मांस भक्षण करता है उसे क्या कहीं किसी पर दया हो सकती है ?

तेण य कियपोत्थयसंचयएहि
तत्थहो वित्थारिय वरकएहिं।
एव्वहि वट्टंतए दुसमकालि
पसरंतए मोहतमोहजालि
चिंतिय घणवालिं वणिवरेण
सरसइवहुलद्ध महावरेण।
विउलइरिपिहिट्ठिउ वड्ढमाणु
जसु समव सरणु जोयणपमाणु।
तहो गणहरु गोयमुगुणवरिट्ठु
तिं तहयहु ज सेणियहो सिट्ठु।
पुच्छंतहु सुयपंचमि विहाणु
तहिं आयउ एउ कहाणिहाणु।
निसुणतह एह णिम्मल-पुण्ण पवित्तकह।
पच्चूसि नराहु पुव्वदिसा इव जणइ यह ॥१॥

× × ×

१। समवसरणु—समणो भयव महावीरे समो सरिए।
अत्थउ—अच्छउ। दुसम कालि = दुःषमा काले
जैनों के अनुसार 'अवसर्पिणी', उत्सर्पिणी दो कालभेद जिनमें से प्रत्येक के छः खंड जो सुषमा, दुःषमा से युक्त होते हैं।

खलजन रहें, उनसे क्या? तब श्रवणाभिराम इस कथा को सुनो। जो जिनवाणी और श्रेष्ठ सेणिय के पूछे जाने पर गणधर द्वारा कही गई। उन्हीं के द्वारा यह पुस्तक में संचित की गई और कविवरों द्वारा वहाँ विस्तृत हुई। अब इस दुःषमा काल में मोह के तम-जाल के फैलने पर वणिकवर तथा सरस्वती द्वारा बहुत महावर प्राप्त धनपाल ने सोचा। वर्धमान के यश को संवत्सर में योजन भर तक फैल जाने पर गणधर तथा गोतम ने गुणवरिष्ठ उस सेणिय सेठ के पूछने पर उस

(चउत्थो सन्धीः तिलयदीवि)

परिगलिय रयणि पयडिउ विहाणु
णं पुणु वि गवेसउ आउ भाणु।
जिण संभरंतु संचलिउ धीरु
वणि हिएडइ रोमंचिय-सरीरु।
सुणिमित्तइं जायइं तासु ताम
गय पयहिणंति उड्डेवि साम।
वामंगि सुत्ति रुहुरुहइ वाउ
पिय-मेलावउ कुलकुलइ काउ।
वामउ किलिकिंचउ लावएण
दाहिणउ अगु दरिसिउ मएण।
दाहिणु लोअणु फंदइ सबाहु
णं भणइ एण मग्गेण जाहु।
थोवंतरि दिट्ठु पुराणु पंथु
भविएण वि णं जिण-समय-ग्रंथ।
सप्पुरिसि वियप्पइ 'एण होमि
विज्जाहर सुर ण छिवंति भूमि।
णउ जक्खहं रक्खहं किएणरा ह
लइ इत्थु आसि संचरु णराह।,
संचलिउ तेण पहेण जाम
गिरि कंदरि सो वि पइट्ठु ताम।
चिन्तवइ धीरु सुंडीरु वीरु
'लइ को वि एउ भक्खउ सरीरु।

दिन सुय पंचमी के विहान [कुछ कहा] तब यह कहानी-भानु आया। इस निर्मल, पुण्य और पवित्र कथा को प्रत्यूष में सुननेवाले नरों को मानों पूर्वदिशा में प्रभा उत्पन्न हो जाती है।

पइसरिम एण विवरंतरेण
णिव्वडिउ कज्जु कि वित्थरेण ।
दुत्तरु दुलंघु दूरंतरिउ ताम जाम संचरहिं णउ ।
भणु काइं ण सिज्झइ सउरिसहं अवगणयान्तहं मरणभउ ।। ।४।

गय पयहिण ति = उसके दायें से गये। लइ = पश्य, होमि = होकर। अवगणंतहं—षष्ठी एक वचन।

४। रात्रि का अंत हुआ। प्रभात प्रकट हुआ। मानो सूर्य संसार का अन्वेषण करता हुआ पुनः आ पहुँचा। जिन भगवान का स्मरण कर वह धीर फिर चला। रोमांचित शरीर होकर वन में भ्रमण करने लगा। वहाँ उसे शुभ शकुन दीखने लगे। श्यामा दक्षिण ओर उड़ने लगी। बाईं ओर मंद मंद वायु बहने लगी। कौआ प्रिय मिलन की सूचना देने के लिए बोलने लगा। बाईं ओर लावा ने किलकिल की ध्वनि सुनाई और दाहिनी ओर मृगों ने अपने अंग दिखलाए। भुजा के साथ दाहिना नेत्र भी फड़कने लगा। मानो वह कह रहा कि इसी मार्ग से जाइए। थोड़ी देर बाद उसने एक पुराना मार्ग देखा जैसे कोई सौभाग्य से जैन धर्म के ग्रंथों को प्राप्त करे। वह सज्जन विचार करने लगा कि विद्याधर और देवगण तो पृथ्वी का स्पर्श नहीं करते। यहाँ पर यक्ष या राक्षसों का भी संचार नहीं है। अतः इस मार्ग पर मनुष्य ही अवश्य चलते होंगे; अतएव मैं इसी मार्ग से चलूँ। जब वह उस मार्ग से चला, तो एक गिरि-कंदरा में जा पैठा। वह धीर वीर पुरुष विचार करने लगा कि भले ही इस शरीर को कोई खा जाय परंतु इस बिवर में प्रवेश करूँगा। अब मेरा कार्य पूरा हो गया है। विस्तार की क्या आवश्यकता !"

पुरुषार्थी मनुष्य दुस्तर, दुर्लंघ्य और दूरंतरित स्थानों में भी चले जाते हैं। भला मृत्यु-भय का निरादर करने वाले पुरुषों के पुरुषार्थ से क्या नहीं सिद्ध होता !

सुहि सयण मरण-भउ परिहरेवि
अहिमाणु माणु पउरिसु सरेवि।
सत्तक्खर-अहियंतणु करेवि
चंदप्पहु जिणु हियवइ धरेवि।
गिरिकंदरि विवरि पइट्ठु बालु
अन्तरिउ णाइं कालेण कालु।
संचरइ बहल-कज्जल तमाल
णं जिउ वामोह-तमोह जाल।
सेइउ णिरुद्ध पवणुच्छवेण
बहिरिउ पमत्त महुअर-रवेण।

---

५. सियवंत = श्रीमत्।

सुहिसयण = सुहृत्स्वजन। अंतरिउ णाइं कालेण काल = मानो काल से काल का अंतर अर्थात् एक क्षण से दूसरे क्षण की दूरी।

सुहृद, स्वजन, तथा मरण भय को छोड़कर, अभिमान तथा पौरुष का स्मरण कर, सप्ताक्षर मंत्र का जाप कर और चंद्रमा की प्रभा से युक्त जिन भगवान को हृदय में रखकर वह तरुण-पुरुष कज्जल के समान अंधकार से युक्त गिरिकंदरा में उसी प्रकार प्रविष्ट हुआ जैसे काल (समय) से छिपा हुआ काल (मृत्यु) चलता है; अथवा जिस प्रकार जीव व्यामोह-रूपी अंधकार के समूह रूपी जाल में प्रवृष्टि होता है। पवन के संचार से रहित होने के कारण उस कंदरा में वह पसीने से तर हो गया। मतवाले भौंरों की आवाज से वह बहरा सा हो रहा था। किसी अचिंत्य सुख के कारण वह चितातुर हो रहा था और विषम साहस के कारण रोमांचित। जब वह कुछ दूर और गया तो उसे एक अंधकारहीन नगर दीख पड़ा। उसमें चार बड़े प्रासाद, चार गोपुर तथा चार बड़े बड़े द्वार दिखाई पड़े। मणियों और रत्नों की कांति छिटक रही थी। प्रत्येक गृह में उज्ज्वल कमलों की छटा थी।

चिन्तिउ अचिन्त-णिव्वुइ वसेण
कंटइउ असम-साहस-रसेण।
अणुसरइ जाम थोवंतरालु
तं णयरु दिट्ठु ववगय-तमालु।
चउ गोउर चउ-पासाय-सारु
चउ-धवल-पयोलि दुवार फारु।
मणि-रयण-कन्ति-कब्बुरिय देहु
सिय-कमल-धवल-पंडुरिय-गेहु।
तं तेहउ धण कंचण पउरु दिट्ठु कुमारि वरणयरु।
सियवतु वि यणु विच्छाय छवि णं विणु णीरि कमल सरु ॥५॥
तं पुरं पविस्समाणएण तेण दिट्ठयं
तं ण तित्थु किंपि जं ण लोयणाण इट्ठयं।
वावि-कूव सुप्पहूव सुपसण्ण वण्णयं
मट विहार देहुरेहिं सुट्ठु त रवण्णयं।
देव मन्दिरेसु तेसु अंतरं णियच्छए
सोण तित्थु जो कयाइ पुज्जिऊण पिच्छए।
सुरहि-गंध-परिमलं पसूणएहि फंसए
सो ण तित्थु जो करेण गिण्हिऊण वासए।

कुमार ने उस प्रकार के प्रचुर धन-कांचन संपन्न नगर को देखा। यद्यपि वह नगर धनसंपन्न था तथापि निर्जन होने के कारण निर्जल कमलपूर्ण सरोवर की भाँति वह सौंदर्यहीन मालूम पड़ता था।

६।

पविस्समाणएण = प्रविशता। देहुर = देवगृह।
अंतरं णियच्छए = अंदर देखना।
पुज्जिऊण पिच्छए = पूजयित्वा प्रेक्षेत।
अप्पणमि अप्पए = आत्मनि अर्पयेत्

पिक्क-सालि धण्णयं पराणयम्मि ताणए
सो ण तित्थु जो घरम्मि लेवि तं पराणए।
सरवरम्मि पंकयाइं भमिर भमर कंदिरे
सो ण तित्थु जो खुडेवि णेइ ताइं मंदिरे।
हत्थ-गिज्झ वर फलाइं विभएण पिक्खए
केण कारणेण को वि तोडिउं ण भक्खए।
पिच्छिऊण परधणाइं खुभएण लुभए
अप्पणम्मि अप्पए वियप्पए-सु चिन्तए।

उस पुर म प्रवेश करते हुए उसने ऐसी कोई वस्तु न देखी जो नेत्रों को प्रिय न हो। वहाँ वापी और कूप बहुत सुंदर तथा अधिक दीख पड़े। वह नगर मठ, मंदिर, विहारों के कारण सुंदर तथा रमणीय मालूम मालूम पड़ता था। किंतु उन मंदिरों में उसने किसी व्यक्ति को पूजा करने के लिए आते हुए न देखा। फूलों से वह मीठा परिमल निकलते पाता था किंतु वहाँ कोई भी ऐसा न था जो उनको लेकर सूँघे। पके धान तथा अन्न को नष्ट होने से बचाने के लिए पुर में कोई ऐसा न था जो काटकर उन्हें घर लाए। भ्रमण-शील भ्रमरों की गुँजार से युक्त पकज तो वहाँ के सरोवरों में दीख पड़ते थे किंतु उनको तोड़कर घर लाने वाला कोई नहीं दीख पड़ता था। उसे यह देखकर बड़ा विस्मय होता था कि हस्तग्राह्य श्रेष्ठ फल तो यहाँ हैं किन्तु किस कारण से कोई भी उन्हें तोड़कर नहीं खा जाता। दूसरे के धन को देखकर न तो उसे क्षोभ ही होता था और न लोभ ही। बस अपने आप वह मन में सोच रहा था। आश्चर्य है, यह नगर विचित्र ढंग से निर्मित हुआ है किन्तु यहाँ के लोग व्याधि से मर गए, म्लेच्छों से नष्ट किये गए अथवा किसी राक्षस ने खा लिया। आश्चर्य है, इस राजकुल का निर्माण तो बड़े विचित्र ढंग से हुआ है पर यहाँ का जो राजा था वह न मालूम कहाँ चला गया। आश्चर्य है, इसका कारण नहीं मालूम

"पुत्ति-चोज्जु पइट्ठ विचित्तबंध बंधयं
वाहि मिच्छ तं जया दुरक्खसेव खद्धयं।
पुत्ति चोज्जु राउल विचित्तभंगि भगयं
आसि इत्थु खं पहुँ ण याणिमी कहं गयं।
पुत्ति चोज्जु कारणं ण याणिमो अ संइमं
एक्क-मित्तएहिं कस्स दिज्जए सुविब्भमं।
विहुणिय सिरु भरडक्खिय-लोयणु
पइं पइं विंभइ अणिमिस-जोअणु।
णवतरु पल्लवदल- सोमालउ
हिण्डइ तित्थु महापुरि बोलउ ॥६॥

पिक्खइ मंदिराइं फल-अद्धुग्घाडिय-जाल-गवक्खइं
अद्ध-पलोइराइ णं णव-वहु-णयण कडक्खइं।
अह फलइंतरेण दरिसिअ गुज्झतर-देसइं
अद्धपयंधिआइं विलयाण व ऊरु-पएसइं।
पिक्खइ आवणाइं भरियंतर-भंड-समिद्धइं
पयडिय-पएणयाइं ण णाइणि मउलइं चिंधइं।
एकक घणाहिलास-पुरिसाइ व रंधि पलित्तइं
वरइत्त जुवाणइं ण वड्डु कुमारिहु चित्तइं।

-

पड़ता कि एक मात्र किसके कारण यह सब अवस्था हो गई है। वह कुमार नसों में धड़कन लेकर, नेत्र फैलाकर पद पद पर विस्मय के कारण अनिमिष नेत्रों से देखता हुआ नये वृक्ष के पल्लवों के दलों के कारण सुकुमार उस महानगर में भ्रमण कर रहा था।

७. अद्धपयंधि = अर्ध प्रावृत। पएणय = पएयम्।

(पत्तग)—श्लेष। रंधि, जोइय, थंभइं में श्लेषगत चमत्कार और तुलना।

जोएसर-विवाय-करणाइं व जोइय-थंभइं
विहडिय-गोसणाइं मिहुणाण व सुरयारंभइं ।
पिक्खइ गोउराइं परिवज्जिय-गो-पय मग्गइं
पासायंतराइं पवणुद्धअ-धवल-धयग्गइं ।
जाइं जणाउलाइं चिरु आसि महंतर भवणाइं
ताइं मि णिज्झुणाइं सुरयइं सम्मत्तइं मिहुणाइं ।
जाइं णिरंतराइं चिरु पाणिय हारिहु तित्थइं
ताइं वि विहि-वसेण हूअइं णीसद्द सुदुत्थइं ।
सियवंत णियाणइं णियवि तहो उम्माहउ अंगइं भरइ ।
पिक्खंतु णियय पडिबिंब-तणु सणिणउं सणिणउं संचरइ ॥७॥

'सुरभइ सम्मत्तइ' के स्थान पर गुणे 'सुरइ समत्तइ' पाठ चाहते हैं।

वहाँ आधे खुले हुए झरोखे वाले मंदिर दीख पड़े। उनकी छटा कनखियों से देखने वाली नव वधुओं के नेत्रों के कटाक्षों की सी मालूम पड़ती थी। उन गवाक्षों के काच-फलकों से उन मंदिरों के छिपे हुए भाग उसी प्रकार दृष्टि गोचर हो रहे थे जिस प्रकार अपर्याप्त तथा झीने वस्त्रों से आवृत वनिताओं के उरु प्रदेश दृष्टिगोचर होते हैं। भीतर विविध वस्तुओं के भाण्डों से भरे हुए बाजारों का शोभा नागिन के फण पर स्थित चिह्न के समान मालूम होती थी। बाजारों का अंधकार-पूर्ण भाग प्रकाशित था, जैसे विवाह की इच्छा रखने वाले पुरुषों के चित्त किसी श्रेष्ठ कुमारी पर ही पड़ते हैं। उन बाजारों में लोगों की भीड़ योगियों के विवादों के समान दीख पड़ती थी। नगर में भीड़ ऐसी मालूम पड़ती थी जैसे वस्त्ररहित मिथुनों के सुरतारंभ। उसने दरवाजों को गोपद-मार्गों से रहित देखा। प्रासाद के भीतर वायु के द्वारा कंपित उज्ज्वल ध्वजायें दीख पड़ीं। जो महल पहले लोगों से भरे सदा

भमइ कुमारु विचित्त-सरूवें
सव्वंगिं अच्छरेय भूएं।
हा विहि पट्टणु सुट्ठु रवण्णउं
किर कज्जेण केण थिउ सुण्णउ।
हट्टु मग्गु कुलसील णिउत्तहिं
सोह ण देइ रहिउ वणि-उत्तहिं।
टिंटा-उत्तएहिं विणु टिंटउ
णं गय-जोव्वणाउ मयरहउ।
वरघर-पंगणेहिं आहोयइं
सोह ण दिंति विवज्जिय लोयइं।
सोवरणाइ मि रसोइ-पएसइं
विणु सज्जणहि णाइं परदेसइं।

हा किं बहुवाया वित्थरिया आएं दुहिया कोण भरिउ।
तं केम पडीवउ संमिलइ जं खय कालिं अंतरिउ ॥८॥

कोलाहलमय थे आज वे इस प्रकार निःशब्द थे जैसे सुरत समाप्त किये हुए मिथुना जो पवित्र जलाशय पनिहारिनों से सदा भरे रहते थे वे आज संयोग वश निःशब्द थे। संपत्ति-शाली स्थानों को देखकर उनके अंगों में उन्माद भर रहा था।

अपनी छाया मात्र को देखता हुआ वह शनैः शनैः चल रहा था।

८. टेंटा = द्यूत-स्थान

टिंटउ=टेंटउ टेंटा-पुत्र। पडीवउ < प्रतीप।

कुमार विचित्र ढंग से घूम रहा था। उसके सारे अंग में आश्चर्य भर रहा था। हाय विधे! यह शोभन और रमणीय नगर किस कारण शून्य है? यह बाजार मार्ग कुलशील संपन्न वणिक-पुत्रों से हीन होकर शोभा नहीं दे रहा है। इसकी अवस्था इस समय वैसी ही हो रही है

एम दिट्ठु तं पट्टणु बालें
खयकालावसाणु णं कालें।
लीलइ परिसक्कतु महाइउ
जस-इण-राय दुवारु पराइउ।
राउल सीह-दुवारइ पिक्खइ
दरवि असति णाइ स विलक्खइ।
दिक्खइ णिग्गयाउ गय-सालउ
णं कुल-तियउ विणासिय सीलउ।
पिक्खइ तुरय-वत्थ पएसइं
पत्थणा-भंगाइ व विगयासइं।
पिक्खउ सहु पंगणाउ वि चित्तउ
चिर-चंदण छड-कद्दमि लित्तउ।
पिक्खइ कणअ-वीढु सिहासणु
छत्तु स चिंधु सचामर वासणु।
णिप्पहु पहु-परिवार-विवज्जिउ
हसइ व णाइं विलक्खु अलज्जिउ।
मणिकचण चामरइं णियच्छइ
चामर प्राहिणीउ णउपिच्छइ।

जैसी जुआ खेलने वालों के बिना द्यूत-गृह की अथवा यौवन-हीन वारवनिता की। श्रेष्ठ-गृहों के प्रांगणों का विस्तार लोगों से रहित होकर शोभा नहीं दे रहा है। पात्रों से युक्त भी रसोई घर शून्य होने के कारण अच्छे नहीं लगते। उनकी अवस्था ठीक वैसी ही है जैसी सज्जनों के बिना परदेश की। हाय, अधिक कहने से क्या फल! इसको देखकर कौन दुःखी नहीं होता? जो क्षयकाल से युक्त है वह समृद्धि से कैसे मिल सकता है।

सेहमंडवि राय यशोहणहो पिक्खिवि परिसक्कन्तुणारु ।
मुत्ताहलमाल-झुल्लुक्कुहहिं रुवइ व थोरंसुवहिं घरु ॥ ६ ॥

आउह-साल विसाल विसंति
चित्तविचित्त परामिरसंति ।
अग्घाइउ सुगंधु मय परिमलु
पां पुव्वक्किय सुकिय महाफलु ।
सोउ करिवि नव-कमल दलच्छिए
थं णीसासु मुक्कु वरलच्छिए ।
तूर भेरि दडि संरव सहासइं
वीणा लावणि वंस विसेसइं ।
'जसहण सामि साल अच्छतइं
पुर पउरालंकार समत्तइं ।
एवहि अम्हहिं को वज्जावइ'
थक्कइ मउणु लएविणु णावइं ।

---

६. णिग्गयाउ = निर्गजाः । तुरय वलत्थ पएसहिं = तुरगपर्यस्त प्रदेशान् । विगयासइं = विगताशान् । पत्थणभंगाइ = प्रार्थना भंगान् ।

जिस प्रकार काल क्षयकाल का अवसान देखता है, उसी प्रकार उस कुमार ने उस नगर को देखा। लीला से देखते हुए उसने यशोधनराज का प्रासाद देखा। राजकुल का सिंहद्वार उसने क्षोभ के साथ विकसित-सा देखा। उसने गजहीन गजशालाओं को शीलहीन कुलस्त्रियों सी देखा। उसने अश्वशालाओं को प्रार्थना भंग के समान हताश देखा। सभी आँगन को विचित्र चंदन-पंक से लिपा हुआ, तथा चमर और छत्र से युक्त स्वर्ण सिंहासन को देखा। वे सब निष्प्रभ प्रभुपरिवार रहित निर्लज्ज की तरह दिखे। मणिजटित चामर तो देखा

वहु विलास-मंदिरइं पई सिवि
रइ-हरि भविवि तवंगि चईसिवि।
णिग्गउ भविस-यत्तु अविसण्णउ
चंदप्पह जिण भवणु पवण्णउ।
तं पुणु भवणु णिएवि धवलुत्तुंगु विसालु।
वियसिय-वयण-रविन्दु मणि परि ओसिउ बालु॥ १०॥

पर चामर ग्राहिणियों को न देखा। यशोधन राज के सभा मंडप में किसी मनुष्य को घूमते हुए देखकर मुक्ता-माल की झलक रूपी स्थूल-अश्रु विन्दुओं से सभी गृह रो रहे थे।

१०. विशाल आयुध-शाला में प्रवेश करते हुए उसने तरह-तरह से विचार किया। उसने सुगंवमय परिमल का स्वाद लिया जिस प्रकार मनुष्य पूर्वकृत सुकृतों का महाफल पाता है। अथवा वह परिमल नहीं था वरन् उस गृह की लक्ष्मी के द्वारा छोड़ा हुआ निःश्वास था। उसने वहाँ तूर्य्य-भेरी, दडि, एवं सहस्रों शंख तथा वीणा और वंशी इत्यादि देखा। स्वामि-श्रेष्ठ यशोधन के न रहने पर, पुरश्रेष्ठ के अलंकार समाप्त हो जाने पर, हम सबको कौन बनायेगा? मानो यही सोचकर वे सब मौन थे। बहुत से विलास-मंदिरों में प्रवेश कर, रति-गृह में भ्रमण कर और मंच पर बैठकर भविष्यदत्त निकला। पास ही चन्द्रप्रभ 'जिन' का मंदिर था। वहाँ बैठते ही उसका सारा विषाद दूर हो गया। उस धवल, उत्तुंग और विशाल जिन विभव को देखकर वह कुमार मन में प्रसन्न हो गया और उसका मुखारबिन्द विकसित हो गया।

नामानुक्रम

संक्षिप्त रूप

अप०—	अपभ्रंश
—प०	, पश्चिमी
—पू०	, पूर्वी
—द०	, दक्षिणी
आ० भा० आ०	आधुनिक भारतीय आर्यभाषा
प्रा० भा० आ०	प्राचीन भारतीय आर्यभाषा
म० भा० आ०	मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा
भा० आ०	भारतीय आर्यभाषा
एक व०	एक वचन
बहु० व०	बहु वचन
नपुं०	नपुंसक लिंग
पुं०	पुल्लिंग
स्त्री०	स्त्रीलिंग
दे०	देखिये
ना० प्र० प०	नागरी प्रचारिणी पत्रिका
—स०	—सभा
पु० हि०	पुरानी हिंदी
हि० ग्रै० अप०	हिस्टारिकल ग्रैमर ऑव अपभ्रंश
लि० स० इं	लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया
बं० लैं	बंगाली लैंग्वेज, ऑरिजिन एंड डेवेलपमेंट
ग्रै०	ग्रैमेटिक, (पिशेल)
रा० ए० सो० ज०	रायल एशियाटिक सोसायटी जर्नल
हेम०	हेमचन्द्र

सि० हेम०	सिद्ध-हेम-शब्दानुशासन
भवि० कहा	भविसयत्त कहा
ढोला०	ढोला मारुरा दूहा
पु०	पुरुषोत्तम
त्रि०	त्रिविक्रम
मार्कं०	मार्कंण्डेय
पु० प्र० सं०	पुरातन प्रबंध संग्रह
भ० ना०—	भरत नाट्यशास्त्र
हि० सा० इ०—	हिंदी साहित्य का इतिहास
हि० सा० भू०—	हिंदी साहित्य की भूमिका
हि० भा० इ०—	हिंदी भाषा का इतिहास
हि० का० धा०—	हिंदी काव्य धारा
एफ० एल० एम०—	फार्म लॉग मराठे
ग्र०	ग्रंथावली
तु०—	तुलसीदास
ज० डि० ले०—	जर्नल ऑव डिपार्टमेंट ऑव लेटर्स
बौ० गा० दो०—	बौद्ध गान ओ दोहा

शुद्धिपत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ
संगह	संग्रह	२
भ० न०	भ० ना०	७ (टि०)
जोरहड	जोरहउ	११
आमीरो	आभीरी	२५
व्रह्माणात्	ब्राह्मणात्	२६
मनुस्मृति	५६ मनुस्मृति	२६
कारटस	कास्टस	२७
ज्ञान	ज्ञात	२६
आश्रम	आश्रय	३०
गउउवहो	गउडवहो	३३
ज्ञानदेव	ज्ञानेश्वर	४०
करकंडउ	करकंडु	४८
वसंत इंजन	वसंत रंजन	५६ (टि०)
विरुद्ध	विरुद्	५८
हर्यांक	हर्यंक	६८
उच्च	उच्च	७१
तत्रत्य	तत्तुल्य	७१
लो अहो	लोअहो	८२
हगनि, हगनु	हगनि हगनु	१००
जायसो	जायसी	१०२
अइमतदं	अइमत्तहं	११२
अनधतन	अनद्यतन	१३८
ध्वनि-विचार (नाम-रूप)	पद-विचार (नाम-रूप)	६५-१०६